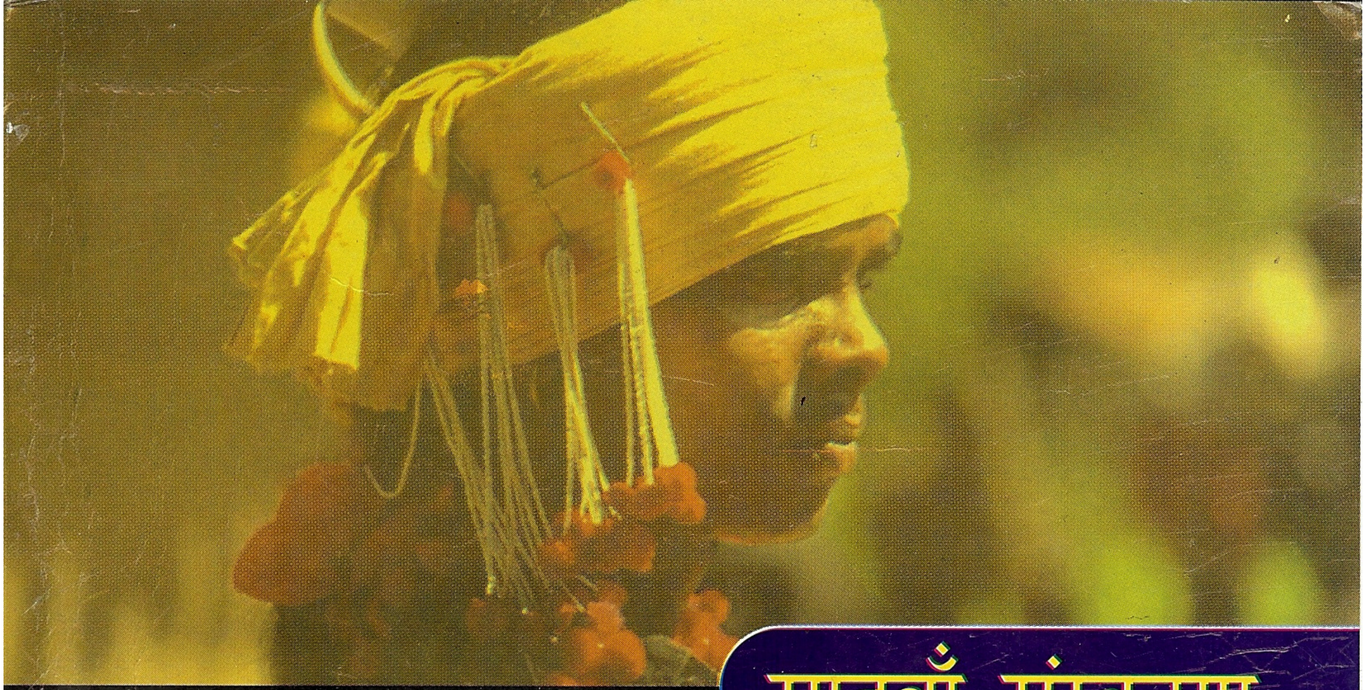


सातवाँ संस्करण

भारतीय मानव विज्ञान

नदीम हसनैन

भारतीय मानव विज्ञान

नदीम हसनैन

पीएच.डी.

जवाहर पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

JAWAHAR PUBLISHERS AND DISTRIBUTORS

2

प्रकाशक
जवाहर पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स
15, डी.डी.ए. मार्केट, बेर सराय
नई दिल्ली-110 016

प्रथम संस्करण, 1990
छठा संस्करण, 2003
परिमार्जित पुनर्मुद्रण, 2007
सातवां संस्करण, 2013

मूल्य: 227/-

लेजर टाइपसेटिंग
ऋषभ अक्षत ग्राफिक
रोहिणी, दिल्ली-85

मुद्रक
प्रिंट लाइन
नई दिल्ली

वर्तमान संस्करण की प्रस्तावना

एक लेखक की हैसियत से यह क्षण मेरे लिए बड़ा सुखद है। इस पुस्तक के छः संस्करण दर्ज़न से अधिक पुनर्मुद्रित संस्करणों के प्रकाशन व अंग्रेज़ी तथा तेलुगु भाषाओं में पुस्तक की अभूतपूर्व लोकप्रियता से मैं भावविभोर हूं। जाहिर है इस का श्रेय संपूर्ण भारत में फैला मेरे विद्यार्थियों व पाठकों को जाता है।

वर्तमान संस्करण में कुछ महत्वपूर्ण चीज़े जोड़ी गई हैं। भारतीय समाज पर, समाजशास्त्र व मानवविज्ञान में, किसी अकादमिक विमर्श में भारतीय समाज व संस्कृति को समझने व अध्ययन करने के विभिन्न उपागमों की जानकारी होनी चाहिए। पिछले संस्करणों में इसे शामिल नहीं किया जा सका था। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण उपागमों जैसे इण्डोलॉजिकल, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मार्क्सवादी व सबल्टर्न उपागमों का संक्षिप्त विवरण पाठको के लिए उपयोगी होगा। इसके अतिरिक्त "भारतीय मानव विज्ञान का विकास" के अध्याय में कुछ नई सूचनाएं जोड़ी गयी है ताकि पाठको को भारतीय मानव विज्ञान के बदलते हुए चेहरे के बारे में भी जानकारी रहे।

अंतिम खण्ड के विषय क्षेत्र व कैनवास को थोड़ा विस्तार दिया गया है तथा उसको पुनर्व्यवस्थित करके भारतीय समाज के कमजोर व हाशिये पर

रह रहे तबको यथा अनुसूचित जातियां, जनजातियां, अन्य पिछड़े वर्ग व अल्पसंख्यक समुदायों-धार्मिक तथा भाषाई दोनों के बारे में संक्षिप्त विवरण दिया गया है। विस्तृत विवरण लेखक की एक अन्य पुस्तक ''समकालीन भारतीय समाज : एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य'' में देखा जा सकता है।

पुस्तक के प्रकाशक श्री रवि कुमार मजुमदार (दादा) ने बढ़े हुए लेखों को यथास्थान फिट करने में काफी मेहनत की होगी। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूं।

और हां! हमेशा की तरह अपने पाठको के सुझावों व टिप्पणियों की प्रतीक्षा रहेगी जिसके आलोक में पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

15 अगस्त, 2013
लखनऊ

प्रोफ़ेसर नदीम हसनैन
(nadeemhasnain@gamil.com)

छठे संस्करण की प्रस्तावना

पुस्तक के छठे संस्करण की प्रस्तावना लिखते हुए मुझे बड़ी खुशी का अनुभव हो रहा है। 1990 व 2003 के बीच छः संस्करण तथा बारह से अधिक पुनर्मुद्रित संस्करणों का प्रकाशन इस बात का सबूत है कि पाठकों व मेरे विद्यार्थियों ने पुस्तक को अत्यन्त उपयोगी पाया है।

वर्तमान संस्करण में दो नये खण्ड जोड़े गये हैं-

(i) ग्रामीण भारत के आयाम व कृषि का सामाजिक संगठन-जिसमें ग्रामीण भारत पर बाजारी अर्थव्यवस्था के प्रभाव को विशेष स्थान दिया गया है तथा (ii) भारत के धार्मिक व भाषायी अल्पसंख्यक समूह व उनकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति। इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र के पाठ्यक्रमों व वर्तमान पुस्तक की महत्वपूर्ण कमियां दूर हो गई हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधारों के खण्ड में जाति व्यवस्था पर कुछ महत्वपूर्ण सामग्री भी जोड़ी गई है।

विश्वास है कि पाठक अब इस पुस्तक को और अधिक उपयोगी पायेंगे। दादा (रवि मजूमदार) को विशेष धन्यवाद देना चाहूंगा जिन्होंने मेरी कई पुस्तकों के नये संस्करणों के एक साथ प्रकाशन का दुरूह काम अपने जिम्मे लिया व मेरी आने वाली पुस्तक पर भी लगातार काम करते रहे।

हमेशा की तरह आपकी राय व सुझावों का इंतजार रहेगा।

सेक्टर-5, मकान नं.-505
विकास नगर
लखनऊ-226 022

डा. नदीम हसनैन
0522-2769803
-2769638

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

हाल के वर्षों में हिन्दी माध्यम के द्वारा शिक्षा का, विशेषकर सामाजिक विज्ञानों में, काफी विस्तार हुआ है, परन्तु हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी में पुस्तकें काफी कम, और अच्छी पुस्तकें तो और भी कम लिखी गयी हैं। प्रतियोगी परीक्षाओं के प्रत्याशियों तथा विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों को यह कमी हमेशा खटकती रही है।

मेरी पुस्तकों में से दो, ट्राइबल इंडिया व इन्डियन एन्थ्रोपोलॉजी की अभूतपूर्व लोकप्रियता ने मुझे प्रस्तुत पुस्तक तैयार करने की प्रेरणा दी। मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि इस पुस्तक का वास्तविक श्रेय समूचे देश में फैले मेरे उन पाठकों व विद्यार्थियों को जाता है, जो सिविल सेवाओं के परीक्षार्थी होने के नाते मुझसे निरंतर यह आग्रह करते रहे हैं कि उन जैसे विद्यार्थियों के लिए भी पुस्तक लिखूं। इस सिलसिले में मैं बिहार के अपने विद्यार्थियों का जिक्र अवश्य करूंगा जिनके प्रेमपूर्वक आग्रह ने मुझसे इस पुस्तक को जल्दी लिखवा लिया है। इस पुस्तक की तैयारी में मेरे मित्र श्री वीरेन्द्र पांडेय का योगदान सराहनीय रहा जिन्होंने मेरे बहुत से अंग्रेजी लेखों का मेरे मन मुताबिक हिन्दी अनुवाद किया है। मेरे परम मित्र श्री नरेश वैद्य (निदेशक 'वैद्य आई. सी. एस.') ने हमेशा की तरह अपने अमूल्य सुझावों से समय-समय पर मेरी सहायता की और मेरा हौसला बढ़ाया। लेकिन मैं उनका शुक्रिया नहीं अदा करूंगा क्योंकि मित्र के कंधे आभारों का बोझ उठाने के लिए नहीं होते। मैं अपनी हमसफर निशात, बेटे असीम और बेटी समता का भी शुक्रिया नहीं अदा करूंगा जिन्होंने पुस्तक की तैयारी के दौरान मेरे समय पर से अपना दावा हटा लिया था, इन सब पर मेरा हक है। प्रकाशक श्री रवि मजूमदार ने पुस्तक छापने में अपना बहुमूल्य समय दिया जिसके लिए वे साधुवाद के हकदार हैं।

और हां! हमेशा की तरह मैं अपने पाठकों व विद्यार्थियों की प्रतिक्रिया तथा सुझावों का इन्तजार करूंगा ताकि आगे के संस्करणों को बेहतर बनाया जा सके।

जुलाई 1990

5/505, विकास नगर
कुर्सी रोड
लखनऊ - 226 020

नदीम हसनैन

विषय सूची

खण्ड एक

भारतीय मानव विज्ञान-विभिन्न आयाम

(Indian Anthropology : Various Dimensions)

खण्ड दो

अतीत का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण

(Cultural Reconstruction of the Past)

खण्ड तीन

भारतीय जनसंख्याः एक बहुरंगी प्रारूप
(Indian Population : A Colourful Mosaic)

खण्ड चार

भारतीय सामाजिक व्यवस्था
(Indian Social System)

खण्ड पाँच

सभ्यता तथा उसकी सांस्कृतिक प्रक्रिया
(Civilisation and its Cultural Process)

खण्ड छः

भारत में सामाजिक परिवर्तन के कुछ पहलू
(भारत के विभिन्न समाज तथा भारतीय समाज)
Aspects of Social Change in India
(India and Indian Society)

खण्ड सात

ग्रामीण भारत

Village India

खण्ड आठ

भारत में कमजोर वर्ग

Weaker Sections in Indian Society

खण्ड एक

भारतीय मानव विज्ञान
विभिन्न आयाम

(Indian Anthropology : Various Dimensions)

1

भारतीय मानव विज्ञान का विकास

भारत में मानव-विज्ञान् की उत्पत्ति और विकास सम्बन्धी विचार-विमर्श में मतान्तरों का होना स्वाभाविक है। अच्छी बात यह है कि इस शैक्षिक विषय में विवाद का क्षेत्र विकास और प्रगति के बजाय केवल उसकी उत्पत्ति तक ही सीमित है।

विद्यार्थी (1972, 1980) इस बात के पक्षधर हैं कि भारत में मानव-विज्ञान सम्बन्धी शोध कार्य का प्रारम्भ 1784 (अर्थात् विलियम जोन्स द्वारा 'एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल' की स्थापना के वर्ष) से माना जाना चाहिए। इस संस्था के संस्थापक के शब्दों में "इसका उद्देश्य प्रकृति और मानव का अध्ययन" करना था। तब से अंग्रेज प्रशासकों, मिशनरियों और मानव-विज्ञानोन्मुख कुछ व्यक्तियों ने जनजातीय एवं ग्रामीण मानव समूहों के बारे में तथ्य एकत्रित किए और उनके जीवन तथा संस्कृति के संबंध में "जर्नल ऑव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल" (1784), "इन्डियन ऐन्टीक्वैरी" (1872) एवं तत्पश्चात "जर्नल ऑव बिहार एन्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी" (1915) तथा "मैन इन इन्डिया" (1921) में लेख और निबन्ध आदि लिखे और प्रकाशित किये। अन्य ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सूचनाओं के साथ उन्होंने मानव जाति-विज्ञान (ethnology) सम्बन्धी सामग्री भी एकत्र की और जनजातियों एवं विभिन्न जातियों के बारे में भी जिले-वार गजेटियर एवं पुस्तक-मालाएं (hand books) प्रकाशित कीं। बाद में असम की जनजातियों पर भी अनेक निबन्ध लिखे और प्रकाशित किये गये।

गोपाल शरण (1973, शरण और सिन्हा 1976) इस बात से सहमत नहीं हैं कि भारतीय मानव-विज्ञान का उद्‌भव 1784 से अर्थात् 'एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल' के स्थापना-वर्ष से माना जाना चाहिये। उनके अनुसार "यह सही है कि एशियाटिक सोसाइटी को पुरातत्व एवं मानव-विज्ञान विषयक सामग्री के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त है किन्तु हमारी दृष्टि में मानव-विज्ञान

का उद्भव 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के दिनों में हुआ था। अंग्रेज प्रशासकों ने उत्तरोत्तर यह महसूस किया कि मूल निवासियों पर सफलतापूर्वक शासन करने के लिये उनके और उनकी संस्कृति के बारे में अच्छी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि इस जानकारी के अभाव में प्रशासकों द्वारा अनजाने ही उनके रीति-रिवाजों का उल्लंघन हो सकता है और उससे प्रशासन को उनमें फैलने वाले क्षोभ और उत्तेजना की स्थितियों का सामना करना पड़ सकता है। इस प्रकार प्रशासकीय आवश्यकताओं ने अंग्रेज शासकों को इस बात के लिये विवश कर दिया कि वे सरकारी तंत्र द्वारा मूल निवासियों की सामाजिक संस्थाओं, आर्थिक स्थितियों, धार्मिक विश्वासों एवं कार्यकलाप सम्बन्धी सूचनाएं एकत्रित करें जिससे मूल निवासियों को आसानी से आदिवासियों एवं अन्य अनेक जातियों में वर्गीकृत किया जा सके'' (वही, 1976)। अपने इस दृष्टिकोण की पुष्टि के लिये शरण (1983) इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि एव डुबॉय कृत 'हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एन्ड सिरेमोनीज' सबसे पहले लन्दन में 1816 में प्रकाशित हुई थी जबकि जे. कैम्पबेल की पुस्तक 'एथनोग्राफी ऑव इंडिया' 1856 में तथा इसी नाम की आर.जी. लैथम की पुस्तक 1859 में प्रकाशित हुई थी। ये केवल छुटपुट प्रयास थे। मानव-विज्ञान सम्बन्धी आमतौर से मान्यता प्राप्त भारतीय ग्रन्थ, मानव विज्ञान में अभिरुचि रखने वाले अंग्रेज प्रशासकों द्वारा लिखे गये जिनमें ब्लंट, क्रुक, डाल्टन, ग्रियर्सन, इब्बेस्टन, मिल्स, नेस्फील्ड, ओ मेले, रिज्ले, रसेल, सेनार्ट, थर्सटन, हट्टन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें हट्टन पहले प्रशासक थे, बाद में इस विषय के विद्वान हुए। इन लोगों ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित कीं। रिज्ले ने बंगाल की जनजातियों और जातियों पर अपनी पुस्तक 1891 में प्रकाशित की। वह भारत में जनगणना कार्य के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में प्रसिद्ध हुए तथा बाद में अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'द पीपुल ऑफ इंडिया' की रचना करके उन्होंने भारतीय मानव-विज्ञान के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान सुरक्षित किया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत में मानव-विज्ञान का अध्ययन बुनियादी रूप से औपनिवेशिक शासन की देन है। यह कार्य अंग्रेज प्रशासकों द्वारा शासन की सुविधा के लिये किया गया था जिससे वे ''अपनी स्थिति का सही जायजा ले सकें और यह देख सकें कि अपने अधीन जनता के

साथ उनका शासन-प्रबंध किस सीमा तक सार्थक और उपयोगी सिद्ध हो सका है'' रिज्ले और गेट (1903)। भारत में मानव-विज्ञान की प्रगति के एक विशिष्ट कीर्तिमान की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए शरण और सिन्हा (वही) ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि भारत के निवासियों की विविधता और उनके अद्‌भुत एवं अनोखे रीति-रिवाजों के प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा से भी मानव जीवन सम्बन्धी अध्ययन को प्रेरणा मिली है। प्रारम्भिक अध्ययनों की प्रकृति शैक्षिक कम, उपयोगितावादी ज्यादा थी। उसमें योगदान करने वाले अधिकांशत: वही विदेशी थे जिन्हें मूल निवासियों की विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन कार्य सौंपा गया था। ये सभी भारत में काम करते थे और उनका टॉयलर, फ्रेजर जैसे मानव विज्ञान के उन शैक्षिक विद्वानों से सीधा संपर्क नहीं था जो कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड, लन्दन आदि विश्वविद्यालयों में इस विषय से सम्बन्धित शोध कार्य में लगे हुए थे। फलस्वरूप, उनका कार्य ब्रिटिश मानव-विज्ञान का अंग नहीं बन सका। यदि उन्हें ब्रिटेन के शैक्षिक क्षेत्र से जुड़े मानवशास्त्रियों अथवा लन्दन स्थित औपनिवेशिक कार्यालय से प्रेरणा प्राप्त हुई होती तो ऐसा न होता। सरकारी एजेन्सियों के साथ मानव विज्ञान की यह सम्बद्धता व्यावहारिक मानव-विज्ञान के नाम से भारत में उसकी आज़ादी के बाद भी जारी रही।

भारत में प्रारंभिक मानवशास्त्रियों में ए.सी. राय का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। मुण्डा नामक जनजाति पर उनका वृहत सर्वांगीण प्रबन्ध-ग्रन्थ (मोनोग्राफ) 1912 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद उनके अनेक पथ प्रदर्शक ग्रंथ सामने आये उदाहरणार्थ ओराओं जनजाति पर 1915 में, बिरहोर जनजाति पर 1925 में और खाड़िया जनजाति पर 1937 में। अनेक अग्रणी ग्रन्थों के प्रणेता होने के कारण उन्हें भारतीय नृजातिविज्ञान का जनक (father of Indian ethnology) कहा जाता है। इन्डो-आर्यन जाति पर आर.पी. चन्द्रा के ग्रंथ (1916) ने व्यापक दिलचस्पी पैदा की; विशेष रूप से भारत के सांस्कृतिक इतिहास के विद्यार्थियों में। एक विश्वव्यापी बात जो भारत पर भी लागू होती है, यह है कि मानव-विज्ञान के प्रारम्भिक विद्वान प्राकृतिक इतिहास, औषधिविज्ञान, विधि आदि अनेक विषयों के विशेषज्ञ जरूर थे किन्तु मानव के यथा-पद्धति अध्ययन के मामले में उन्हें केवल 'नैसर्गिक प्रतिभा प्राप्त अनुरागी' ही कहा जा सकता है।

भारत में शैक्षिक (academic) मानव विज्ञान की स्थापना की चर्चा करने के पहले प्रारम्भिक मानव शास्त्रियों की उस छवि के बारे में बताना आवश्यक है जो उस जमाने के बुद्धिवादी वर्ग के मन-मस्तिष्क में बसी हुई थी क्योंकि इससे मानव विज्ञान से भिन्न पृष्ठभूमि वाले पाठकों को अपनी शंकाओं के मकड़-जाल साफ करने में सहायता मिलेगी। शरण (1983) ने इसका बड़ा ही मनोरंजक विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 19वीं शताब्दी में सामान्यजन और बुद्धिवादी दोनों अपने समसामयिक मानवशास्त्री को झक्की या सनकी समझा करते थे। इसका बुनियादी कारण यह था कि मानव विज्ञान के तत्कालीन विद्वानों की दिलचस्पी 'असम्बद्ध और अप्रासंगिक' वस्तुओं में अधिक हुआ करती थी। अग्रगामी मानवशास्त्रियों का तथाकथित दायित्वबोध अर्थात् अवशिष्ट चीजों का अध्ययन, उनका तथाकथित सनकीपन और उनकी वह रूमानियत जो उन्हें सुदूर स्थानों पर जाकर अपरिचित, अनजानी वस्तुओं के अध्ययन की ओर आकर्षित करती थी, अन्ततोगत्वा मानव विज्ञान के लिए लाभकारी सिद्ध हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के मानव शास्त्रियों ने विचित्र और विलक्षण बातों का अध्ययन अपनी विशुद्ध रुचि के कारण किया था, दुनिया में सुधार करने या अपनी जीविका कमाने के लिए नहीं। फलस्वरूप मानव-विज्ञान के अध्ययन में उसके प्रारम्भ से ही एक वस्तुपरक दृष्टिकोण और सापेक्ष तटस्थता की परम्परा विद्यमान नजर आती है। मानव विज्ञान 'अवेशष का विज्ञान' (science of leftovers) कहलाता था। अवशेष अनेक और विभिन्न प्रकार के थे। इसलिए अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान से भिन्न मानव विज्ञान मानव के जीवन के केवल एक पक्ष तक सीमित नहीं रहा। यह सच है कि उसकी शुरुआत आदिम समाज के जीवन और रीति-रिवाजों के अध्ययन से हुई किन्तु आगे चलकर उसमें काफी विविधता भी आई; भौतिक (जैव) मानव विज्ञान तथा प्रागैतिहासिक पुरातत्व विद्या (पुरातत्वीय मानव-विज्ञान) आदि उसकी अनेक शाखाओं-उपशाखाओं तथा विशिष्ट अध्ययन क्षेत्रों का विकास हुआ।

किसी भी विषय की अपनी पहचान बनना तब तक सम्भव नहीं होता जब तक उसे विश्वविद्यालय स्तर की शैक्षिक एवं शोध सम्बन्धी मान्यता नहीं प्राप्त होती। मानव-विज्ञान में एम.ए. की डिग्री की व्यवस्था सर्वप्रथम कलकत्ता विश्वविद्यालय में 1921 में की गयी। बम्बई विश्वविद्यालय ने

1920 से अपने समाज विज्ञान के पाठ्यक्रम में सामाजिक मानव विज्ञान (सोशल एन्थ्रोपोलॉजी) को शामिल किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने ए.सी. हैडन और डब्ल्यू.एच.आर. रिवर्स की प्रेरणा से मानव विज्ञान के अनेक उद्‌भट विद्वान पैदा किये जिनमें के.पी. चट्टोपाध्याय, टी.सी. दास, डी.एन. मजूमदार, एन.के. बोस और पी.सी. विश्वास के नाम उल्लेखनीय हैं। इन मनीषियों ने पूर्वी और मध्य भारत की जनजातियों और जातियों का गहरा अध्ययन किया और स्वयं अपने द्वारा संग्रहीत सामग्री एवं क्षेत्रीय आंकड़ों पर आधारित अनेक शास्त्रोन्मुख निबन्ध और प्रबंध लिखे। इनमें से चट्टोपाध्याय और बोस कलकत्ता में अध्यापन कार्य करते थे। मजूमदार 1928 में लखनऊ चले आये और यहां के अर्थशास्त्र विभाग में रहते हुए धीरे-धीरे मानव विज्ञान में शिक्षण के लिए एक स्वतन्त्र और सर्वांगीण विभाग की स्थापना करने में सफल हुए। यह विभाग 1951 में प्रारम्भ हुआ और मजूमदार को उसका पहला विभागाध्यक्ष बनाया गया। विश्वास ने थोड़े समय तक कलकत्ता में अध्यापन कार्य किया, फिर दिल्ली विश्वविद्यालय में चले गये। वहीं उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप मानव विज्ञान विभाग की स्थापना हुई जिसमें शारीरिक मानव विज्ञान (फिजिकल एन्थ्रोपोलॉजी) पर विशेष बल दिया गया। बी.एस. गुहा जिन्होंने हारवर्ड विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान का शैक्षिक प्रशिक्षण (academic training) प्राप्त किया था, सरकारी नौकरी में चले गये। उनकी नियुक्ति 'एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया' के प्रथम निदेशक के पद पर हुई। यह विभाग 1946 में जूलोजिकल सर्वे ऑव इंडिया से अलग करके स्वतन्त्र रूप से स्थापित किया गया। ऊपर बताये गये सभी विद्वान हालांकि कलकत्ता विश्वविद्यालय की शैली के अनुगामी थे तथा 'जनरल एन्थ्रोपोलॉजिस्ट' थे फिर भी चट्टोपाध्याय, दास, मजूमदार और बोस ने सामाजिक मानव विज्ञान के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक कार्य किया और गुहा एवं विश्वास ने शारीरिक मानव विज्ञान के क्षेत्र में।

इन दो दशकों के बीच जो दो व्यक्ति विशेष रूप से उभर कर सामने आये; वे थे-एस.सी. रॉय और वैरियर एल्विन। ये दोनों शैक्षिक रूप से प्रशिक्षित मानव-शास्त्री नहीं थे, फिर भी भारतीय मानव विज्ञान की प्रगति में इन दोनों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। राय ने वकालत की शिक्षा पयी थी; रांची में अपने प्रवास के दौरान उनमें जनजातियों के प्रति गहरी

दिलचस्पी पैदा हुई। एल्विन ईसाई धर्म प्रचारक के रूप में विलायत से आये थे किन्तु भारतीय जनजातियों के प्रति उनके हार्दिक प्रेम के सामने उनके अन्य सभी कार्य फीके पड़ गये। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के बाद भी यहां रहना पसन्द किया। पंडित जवाहर लाल नेहरू से उनके गहरे सम्बन्ध थे और उन्होंने भारतीय जनजातियों के बारे में भारत सरकार की नीतियों के निर्माण एवं नियोजन-कार्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

आजादी के बाद, चार दशकों में मानव विज्ञान के अध्ययन और उससे सम्बन्धित शोध के क्षेत्र में द्रुत गति से प्रगति हुई। अब यह पहले की तरह अज्ञात विषय नहीं रहा जो विचित्र, विलक्षण, विजातीय और 'विस्मयजनक' वस्तुओं के अध्ययन तक सीमित था। अब यह एक मान्यता प्राप्त विषय बन चुका है। व्यावहारिक मानव-विज्ञान के रूप में इसकी बढ़ी हुई उपयोगिता स्वीकार की जा चुकी है। देश के तीन दर्जन से अधिक विश्वविद्यालयों में विभिन्न स्तरों पर मानव विज्ञान की शिक्षा दी जाती है। इसकी पाठ्यक्रम सामग्री अब अपेक्षाकृत विवरणात्मक कम और विश्लेषणात्मक एवं सैद्धान्तिक ज्यादा है। इस विषय में शोध-कार्य भी अब अधिकांशत: समस्योन्मुखी होता जा रहा है, जिसके अन्तर्गत मानव समाज के विकास के सभी पक्ष आ जाते हैं। विश्वविद्यालयों में मानव-विज्ञान के स्वतन्त्र विभागों के अलावा इस विषय के कई अंग समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान तथा सामाजिक एवं निरोधक चिकित्सा के अन्तर्गत पढ़ाये जाते हैं। मानव विज्ञान के विशिष्ट पाठ्यक्रमों में मानवीय विकास एवं उत्पत्ति विषयक अधिकांश पाठ्यक्रम विभिन्न विश्वविद्यालयों में एक जैसे होते हैं। कुछ विभाग प्राइमेटोलोजी और तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र पर बल देते हैं तो कुछ कोशिकीय आनुवंशिकी (cytogenetics), जैव-रसायन मानव-विज्ञान (बायो-कैमिकल एन्थ्रोपोलॉजी) और जनसंख्या में होने वाले परिवर्तनों को प्रमुखता देते हैं।

देश में मानव विज्ञान के सरकारी, स्वायत्त और अर्ध-स्वायत्त शोध-संस्थानों में से 'एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया' विश्व में अपने ढंग का सबसे बड़ा संस्थान है। इसके अनेक क्षेत्रीय केन्द्र हैं तथा इसके कार्यालयों में सैकड़ों पेशेवर मानव शास्त्री काम करते हैं। ये लोग सामाजिक एवं शारीरिक मानव विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के शोध कार्यों में लगे हुए हैं। मानव विज्ञान का इस्तेमाल और भी अनेक प्रादेशिक एवं राजकीय कार्यक्रमों में

किया जाता है, जैसे परिवार कल्याण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, प्रौढ़शिक्षा, सामुदायिक विकास, पर्यावरण परिशुद्धि, क्षेत्रीय विकास आदि। ऐसे बहुत से संस्थान व कार्यालय हैं जहां मानव विज्ञान में प्रशिक्षित लोग काम कर रहे हैं, उदाहरणार्थ, जनजाति शोध संस्थान, अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के राष्ट्रीय आयोग का कार्यालय, रजिस्ट्रार जनरल ऑव इंडिया का कार्यालय, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, स्पेस एप्लीकेशन सेन्टर, अनेक संग्रहालय, सी.एस. आई.आर के विभिन्न शाखा कार्यालय, योजना आयोग और बहुत से अलग-अलग काम करने वाले महत्वपूर्ण संस्थान आदि। भारतीय विज्ञान कांग्रेस (Indian Science Congress) में मानव विज्ञान का एक अलग प्रभाग है। व्यावसायिक दृष्टि से प्रशिक्षित मानव शास्त्रियों की संख्या के मामले में विश्व में अमेरिका के बाद भारत दूसरे स्थान पर है।

(1) सामाजिक/सांस्कृतिक मानव-विज्ञान

मानव-विज्ञान की तीन प्रमुख शाखाओं में सामाजिक मानव-विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त परिपक्वता आई है। यह तथ्य मजुमदार (1956, 58), घूर्ये (1956), दूबे (1962), बोस (1967), शरण (1973), शरण और सिन्हा (1976) और विद्यार्थी (1966) द्वारा लिखित मानव विज्ञान के इतिहास और विकास की समीक्षाओं में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। मजुमदार ने सामाजिक मानव-विज्ञान के विकास को तीन अवस्थाओं में वर्गीकृत किया है- सूत्र संकलन (1784-1911), रचनात्मकता (1912-1937), और गुण-दोष विवेचन (1938)। विद्यार्थी ने इसमें किंचित् समन्वय करते हुए इन्हें प्रारंभिक निर्माणकाल, रचनाकाल और विश्लेषणकाल की संज्ञा दी है। किन्तु इस पुस्तक में भारत के सामाजिक मानव-विज्ञान की यात्रा का बिना कोई लेबिल लगाये वर्णन किया गया है, हालांकि उसमें उन सभी प्रमुख मुद्दों को शामिल किया गया है जो पहले बताये गये सभी विद्वानों द्वारा समय-समय पर उठाये गये हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रारंभिक अवस्था (उन्नीसवीं शताब्दी की अंतिम और बीसवीं शताब्दी की पहली दहाइयों के बीच) में मानव-विज्ञानोन्मुख अंग्रेज प्रशासकों ने, जो देश के विभिन्न स्थानों पर सरकारी पदों पर काम कर रहे थे, विभिन्न प्रदेशों के लोगों के जीवन और उनकी संस्कृतियों के बारे में विवरणात्मक लेखन किया था। उन विद्वान-प्रशासकों में से रिज्ले, डाल्टन और ओ. माले पूर्वी भारत में, रसेल मध्य भारत में,

थर्सटन दक्षिण भारत में और क्रुक्स उत्तर भारत में नियुक्त थे। इन सबके कार्यों का बुनियादी उद्देश्य यह था कि सरकारी अफसरों की जानकारी के लिए विभिन्न क्षेत्रों व प्रदेशों के निवासियों से सम्बन्धित ऐसे वर्गीकृत विवरण उपलब्ध किये जायें जो औपनिवेशिक शासन को प्रभावी बनाने में सहायक सिद्ध हों। इस तरह की कुछ महत्वपूर्ण कृतियां हैं: रिज्ले कृत 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑव बंगाल', क्रुक्स कृत 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑव अवध एण्ड यूनाइटेड प्राविन्सेज' आदि। इस सामान्य वर्णनात्मक नृशास्त्रीय कृतियों (descriptive ethnographic work) से प्रेरित होकर बाद के विद्वानों ने आदिवासियों पर विस्तृत वृत्तांत लिखे। उसके बाद विभिन्न जातियों पर भी गहन अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। इस जमाने की खास कृतियों के नाम हैं: गर्डोन की 'द खासी', मिल्स की 'द ल्होटा नागा', शेक्सपियर की 'द लुशाई क्लान्स' और ब्रिग्स की 'द चमार्स'। एस.सी. राय पहले भारतीय नृशास्त्र लेखक हैं जिन्होंने छोटानागपुर की मुण्डा और ओराओं नामक सुविख्यात जनजातियों पर बहुत अच्छे प्रबंध लिखे। उनकी लेखन शैली का स्वाद ही कुछ और है। एल.के. अनंत कृष्ण अय्यर ने अंग्रेज प्रशासकों की भांति जातियों और जनजातियों पर धारावाहिक रूप में लिखा। उनकी दो सुप्रसिद्ध कृतियों के शीर्षक हैं: 'कोचीन ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स' (1908) और 'द मैसूर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स' (1918, 1930 और 1935)।

राय के अध्ययन और उनकी लेखन शैली की एक बड़ी कमजोरी यह है कि वे योग्य एवं अग्रणी भारतीय मानव शास्त्री होकर भी यह नहीं सोच सके कि उनका दृष्टिकोण उन अंग्रेज प्रशासक-मानवशास्त्रियों से भिन्न होना चाहिए जो सुदूर देशों से भारत आकर विदेशी संस्कृतियों का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने जनजातीय लोगों का, जिन्हें टाइलर ने 'एनिमिस्ट' कहा था, अध्ययन करने की तत्कालीन शैली ही अपनायी। अय्यर और राय दोनों यही समझते थे कि आदिवासी लोगों के बीच स्वयं जाकर क्षेत्रीय अध्ययन करना ही मानव विज्ञान का केन्द्र बिन्दु है। इसलिये अन्य मानवशास्त्रियों ने अंग्रेजी विद्वानों का अनुगमन किया और आदिवासियों के बीच जाकर उन्हें और उनकी संस्कृति का अध्ययन करना पसंद किया। इस प्रकार एक लम्बे अरसे तक (1940 के दशक के अन्त तक) भारत में मानव विज्ञान को बुनियादी रूप से आदिवासियों अर्थात् जनजाति के लोगों का अध्ययन ही समझा जाता रहा। आदिवासियों को तब भारत की शेष आबादी से अलग और भिन्न

समझा जाता था और इस प्रकार उस समय की यह प्रचलित धारणा थी कि आदिवासियों व उनकी संस्कृति का अध्ययन पृथकता के उसी भाव के साथ किया जा सकता है जिससे पाश्चात्य मानवशास्त्री अपने देश के बाहर अन्य देशों में बसे सरल लोगों का सांस्कृतिक अध्ययन किया करते थे। उस समय मानव विज्ञान की कुल रुचि केवल 'विदेशी, असभ्य और निरक्षर' लोगों के अध्ययन तक सीमित थी।

यह कहना सर्वथा उचित है कि विश्वविद्यालयों के शैक्षिक संसार में जब मानव-विज्ञान अपनी समस्त शाखाओं के साथ पढ़ाया जाने लगा तो सामाजिक मानव विज्ञान का स्वरूप ही बदल गया। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जब मानव विज्ञान का अध्यापन कलकत्ता विश्वविद्यालय (मानव विज्ञान विभाग में) और बंबई विश्वविद्यालय (समाज शास्त्र विभाग में) में प्रारम्भ किया गया तब यह विषय पहली बार शैक्षिक प्रभा के सामने उद्घाटित हुआ। उसने न केवल प्रशिक्षित विद्वानों को आकर्षित किया वरन् उससे नये मानवशास्त्रियों (सामाजिक मानवशास्त्री सहित) के प्रशिक्षण के अवसर भी सामने आये। सामाजिक मानव विज्ञान की परिधि में बुनियादी रूप से विस्तार हुआ। परिवार, नातेदारी व्यवस्था, राजनैतिक संगठन आदि सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को गम्भीरता से अपनाया गया। चट्टोपाध्याय, दास, मजूमदार, इरावती कार्वे, अय्यप्पन आदि ने अपने विस्तृत क्षेत्र अन्वेषण, अध्ययन, लेखन व प्रकाशन द्वारा शैक्षिक सामाजिक मानव विज्ञान के विकास के लिये अति आवश्यक एवं बहु प्रतीक्षित संवेग और प्रोत्साहन प्रदान किया। विद्यार्थी तथा अन्य विद्वानों की राय में प्रगति की इस दिशा में लम्बी छलांग तब लगायी गयी जब इंडियन साइंस कांग्रेस एसोसियेशन और ब्रिटिश एसोसियेशन के सम्मेलन में भारतीय मानव विज्ञान के विकास की समीक्षा की गयी और विदेश से आये सुविख्यात मानव विज्ञानविदों ने भारतीय मानवशास्त्रियों के साथ मिलकर पर्यालोचन करते हुए भारत में मानव विज्ञान सम्बन्धी भावी शोधकार्यों की योजना पर विचार-विमर्श किया। सामाजिक मानव-विज्ञान विषयक शोधकार्यों के सिलसिले में पहली बार कुछ मार्गदर्शक सैद्धांतिक सूत्र प्रस्तुत किये गये। मजूमदार की 'द चेन्जिंग हो', श्रीनिवास की 'मैरेज एन्ड फैमिली इन मैसूर' और बोस की 'हिन्दू मैथेड्स ऑव ट्राइबल एब्सार्पशन' नामक कृतियों को भारत में सामाजिक मानव विज्ञान के विकास का मोड़-बिंदु

माना जा सकता है। लगभग इसी दौर में सामने आते हैं एल्विन जो कवि, दार्शनिक, रोमान्सवादी और आदिवासियों के मामलों के विशेषज्ञ थे। उन्होंने उड़ीसा और मध्य प्रदेश की जनजातियों पर समस्या-प्रधान ग्रन्थ लिखे। उनके 'द बैगा' (1930), 'द अगड़िया' (1943) और 'द मुड़िया एण्ड देयर घोटुल' (1947) समस्योन्मुख नृजातीय साहित्य के शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। हेमेन्डोर्फ के 'दे चेन्चुस: जंगल फोक ऑव डकेन' (1943), 'दी रेडीज ऑव द बाईसन हिल्स: ए स्टडी इन एकल्चरेशन' (1945) तथा दक्षिण भारत की जनजातियों पर उनके द्वारा लिखे गए अन्य अनेक ग्रन्थों ने समस्योन्मुख अध्ययन करने वाले भावी छात्रों के लिए मिसालें कायम कीं।

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय स्वतन्त्रता के उपरान्त अनेक गुणात्मक परिवर्तन सामने आये। पहले नृजाति-विज्ञान प्रशासकों का कार्य-व्यापार था किन्तु अब विदेशी एवं भारतीय मानवशास्त्री शिक्षा क्षेत्र के लोग थे। एक लम्बे अरसे के बाद सामाजिक मानवशास्त्री का ध्यान 'जाति' नामक संस्था की ओर आकृष्ट हुआ। कालान्तर में जनजातियों से हटकर जातियों के अध्ययन में दिलचस्पी बढ़ी। अय्यर और राय के बाद विदेशी एवं भारतीय मानवशास्त्रियों के लिए यह परिवर्तन बड़े ही सरल और स्वाभाविक ढंग से हुआ था।

स्वाधीनता के बाद के युग में जिसे विद्यार्थी ने 'विश्लेषण काल' की संज्ञा दी है, अमेरिका के सामाजिक (सांस्कृतिक) मानवशास्त्रियों के साथ सम्पर्क में वृद्धि हुई और मोरिस ओप्लर, ऑस्कर लेविस एवं मैन्डेलबाम जैसे अनेक सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री तथा उनके द्वारा पढ़ाये गए छात्र भारत आए। उन्होंने यहां विभिन्न क्षेत्रों में जाकर अध्ययन किया और भारतीय गांवों की संरचना में अपनी अनेक अवधारणाओं की जांच की। इस प्रकार ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ जिसमें गांव और जातियों के अध्ययन के साथ-साथ भारतीय सभ्यता के विभिन्न आयामों का अध्ययन भी प्रारम्भ हुआ। ऐसा लगा कि सामाजिक विज्ञान के सम्पूर्ण परिदृश्य (सामाजिक मानव विज्ञान सहित) को एक नया जोश दे दिया गया हो। स्वाधीन भारत ने अब भारत के सामाजिक विज्ञानियों को बौद्धिक चुनौती दे रखी थी। उनसे उम्मीद की गयी कि वे देश के सामाजिक पुनर्निर्माण और आर्थिक विकास के नियोजन कार्यों में संलग्न हों। उधर, भारत के मानवशास्त्रियों के सामने एक दूसरा

बड़ा काम था। उन्हें अपने आपको अंग्रेजों की औपनिवेशिक परम्पराओं से मुक्त करना था। उन्होंने उपनिवेशवाद की छाया में मानव विज्ञान की भूमिका सम्बन्धी सभी गलत धारणाओं और शंकाओं के जाल को साफ करने का डट कर प्रयत्न किया। फिर भी, उनके भाग्य में अपमान और निर्मम आलोचना के पीड़ादायक दौर के बीच से गुजरना शेष था। महात्मा गांधी के एक करीबी साथी तथा दलित-आदिवासी समाज के उत्थान के लिए संघर्ष करने वाले ठक्कर बापा के नेतृत्व में नेताओं के एक प्रभावशाली समूह ने भारतीय मानव विज्ञान और भारत के मानवशास्त्रियों को बदनाम करते हुए, यह आरोप लगाया कि वे निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए जनजातियों को अलग-थलग और उनके पिछड़ेपन को स्थायी बनाये रखना चाहते हैं। नेताओं के इस समूह की मांग थी कि देश के जनजातीय समाज के मामलों से भारतीय मानवशास्त्रियों का कोई सरोकार न रखा जाए। इस कुप्रचार से संघर्ष करने में लगभग दस वर्ष लग गये और तब कहीं जाकर भारतीय समाज के पिछड़े वर्गों के लिए होने वाले नियोजन कार्यों में सामाजिक मानवशास्त्रियों को सम्मानपूर्ण सीमा तक शामिल किया गया।

आगे बढ़ने से पहले यहां भारतीय मानव विज्ञान के अमर और शीर्षस्थ विद्वानों में से एक के योगदान के बारे में कुछ बताना आवश्यक भी है और न्यायसंगत भी। उन्हें भारतीय मानव विज्ञान का पुराण-पुरुष भी कहा जा सकता है। वह हैं डॉ. डी.एन. मजूमदार। समय की दृष्टि से भी उनका योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। वह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में मेलिनोवस्की के विद्यार्थी थे। साथ ही वे पहले भारतीय मानवशास्त्री थे जिन्होंने 'हो' नामक जनजाति के अध्ययन में सम्पूर्ण विषय के साथ उसके एक-एक अंग का सविस्तार एवं व्यावहारिक विवेचन करने की शैली अपनाकर मानव विज्ञान के अध्ययन को नयी दिशा प्रदान की थी। उन्होंने अपने अथक प्रयासों से 1951 में लखनऊ विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान के एक अलग विभाग की नींव डाली जिससे मानव विज्ञान के विकास को सामयिक सम्प्रेरणा प्राप्त हुयी। दस वर्ष से भी अधिक समय तक भारतीय मानव विज्ञान के क्षेत्र में लखनऊ का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा। एक प्रचलित मुहावरा बन गया- ''मानव-विज्ञान का लखनऊ स्कूल'' जो मानव विज्ञान के विकास में मजूमदार के योगदान का प्रतीक था। उनके द्वारा प्रशिक्षित

दर्जनों मानवशास्त्री आज भारत और विदेशों में महत्वपूर्ण पदों पर काम कर रहे हैं। उनके द्वारा स्थापित 'इथनोग्राफिक एण्ड फोक कल्चर सोसाइटी' तथा 'द ईस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट' नामक शोध पत्रिका के प्रकाशन ने भारतीय मानव विज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर प्रदान किया। भारत के सामाजिक मानव विज्ञान के लिये एक नई पहचान का विकास करने में उनका योगदान संदेहों से परे है। उनके सुविख्यात शिष्यों में से एक प्रो. गोपाल शरण ने, जो लखनऊ विश्वविद्यालय में वर्तमान विभागाध्यक्ष हैं, मानव विज्ञान सम्बन्धी रीतिशास्त्र (कार्य पद्धति शास्त्र) के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया जो अब तक लगभग उपेक्षित-सा रहा था और जिसके विकास में अब तक किसी अन्य भारतीय सामाजिक मानव-शास्त्री ने कोई उल्लेखनीय अंशदान नहीं किया था। गोपाल शरण का 'द मेथेडोलॉजी ऑव एन्थ्रोपोलॉजिकल कम्पेरिजन्स' नामक ग्रंथ सामाजिक मानव विज्ञान के क्षेत्र में एक कीर्तिमान माना जा सकता है। मानव-विज्ञान के सम्बोधन, सिद्धान्त एवं उसकी कार्य पद्धति सम्बन्धी पक्षों में अपनी गहरी दिलचस्पी के लिये सुविख्यात गोपाल शरण उसके सामान्य सिद्धान्त और कार्य पद्धति के क्षेत्रों में एक अरसे से मूल्यवान योगदान कर रहे हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जनजातियों का गहन अध्ययन करने के बाद सामाजिक मानवशास्त्रियों ने जन समुदायों, जातियों और भारतीय समाज के अपेक्षाकृत जटिल अंगों का अध्ययन प्रारम्भ किया। इस कार्य में उन्होंने अपनी पहचान नहीं खोई। राजनीति में जातियों की भूमिका ने भी उनका ध्यान आकृष्ट किया। जाति सम्बन्धी प्रयोगसिद्ध शोधकार्यों का अधिकांश भाग जातियों, सामाजिक प्रस्थिति, शक्ति और स्तरीकरण के परस्पर प्रभाव एवं सम्बन्धों तथा इन सभी तत्वों से प्रतिफलित आर्थिक आयामों के बारे में है।

इस प्रकार, राजनीतिक मानव विज्ञान के क्षेत्र में भी कुछ प्रगति हुयी। लोक/जन समूह और कृषक समुदायों का अध्ययन प्रारम्भ करने के बाद (स्पष्टत: मानव विज्ञान के शिकागो स्कूल के रेडफील्ड, मिल्टन सिंगर और मिक्किम मैरिअॅट नामक विद्वानों से प्रेरित होकर) सामाजिक मानवशास्त्रियों ने भारतीय सभ्यता के आयामों के रूप तथा वृहत और लघु परम्पराओं के बीच की अन्त:प्रतिक्रियाओं और उनके पारस्परिक प्रभावों को समझने के

लिये आधुनिक एवं परम्परागत नगरों का अध्ययन भी प्रारम्भ किया। शहरीकरण और औद्योगीकरण के कई उपयोगी अध्ययन किये गये। इस दौर में 'औद्योगिक मानवविज्ञान' और 'नगरीय मानव विज्ञान' जैसे मुहावरे भी प्रचलित हुए। जनजातियों की आबादी पर औद्योगीकरण के प्रभाव का अध्ययन किया गया। नगरीय मानव विज्ञान में जिन्हें अग्रणी कहा जा सकता है, वे हैं: बोस, जिन्होंने कलकत्ता का अध्ययन किया, मजूमदार जिन्होंने कानपुर का अध्ययन किया और विद्यार्थी जिन्होंने गया एवं रांची का अध्ययन किया।

संगठनों का अध्ययन करने के जोश में सामाजिक मानव विज्ञान ने 'प्रबन्ध' के क्षेत्र में प्रवेश किया। सेठ द्वारा लिखित 'सोशल फ्रेमवर्क ऑव ऐन इन्डियन फैक्टरी' (1968) और जी. चट्टोपाध्याय एवं सिन्हा द्वारा नयी शैक्षिक टेक्नोलॉजी की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रासंगिकता एवं सत्ताधिकार और अधीनता पर किये गये अध्ययन (1975) इस दिशा में किये गये प्रयासों के उदाहरण हैं। अंतरिक्ष-अनुसन्धान का क्षेत्र भी सामाजिक मानवशास्त्रियों ने अछूता नहीं छोड़ा। बी.सी. अग्रवाल और उनके साथी अहमदाबाद स्थित 'स्पेस एप्लीकेशन सेन्टर' से उसी जमाने से जुड़े हैं, जब 1975 में 'सैटेलाइट इन्स्ट्रक्शन टेलीविजन एक्सपेरीमेंट' (एस.आई.टी.ई.) छोड़ा गया था। इस प्रकार अध्ययन का एक नया क्षेत्र सामने आया जिसे हम 'स्पेस एन्थ्रोपोलॉजी' कहते हैं।

गौरव के क्षणों में दुर्बलताओं को भुला देना बुद्धिमानी नहीं होगी। खरे मूल्यांकन के लिए आत्मावलोकन और आत्मालोचन आवश्यक है। भारत के सामाजिक मानवशास्त्रियों ने मौके पर जाकर अपने विस्तृत, गहरे और लम्बी अवधि के अध्ययनों की उपयोगिता प्रदर्शित कर ही दी और सहभागी अवलोकन (Participant observation) मानव विज्ञान का प्रामाणांक भी बन गया। इसे मानव विज्ञान सम्बन्धी योगदानों की विशिष्टता भी माना गया। लेकिन यह सारा कार्य हमने स्वयं अपनी संस्कृति के बीच किया। हमारी एक सबसे बड़ी कमी यह रही कि भारतीय मानवशास्त्रियों ने पराई संस्कृतियों (other cultures) के अध्ययन का काम नहीं किया। अब समय आ गया है जब हमें इस क्षेत्र में भी विशेषज्ञता हासिल करना चाहिए क्योंकि 'पराई' संस्कृतियों में शोध करना मानव विज्ञान का एक विशेष गुण माना गया है। ऐसे शोधकार्यों से भारतीय मानवशास्त्रियों की दृष्टि व्यापक होगी और उन्हें अपनी संस्कृति को अच्छी तरह समझने में सहायता मिलेगी। बहरहाल, अब

तक जो हमारी कमजोरी रही है वह भविष्य में हमारे लिये शक्ति का स्रोत भी सिद्ध हो सकती है। विश्व में शायद ही ऐसा कोई देश हो जहां विगत सत्तर वर्षों में किसी भी स्वदेशवासी मानवशास्त्री ने मानव विज्ञान सम्बन्धी आत्म अध्ययन किया हो। किन्तु, अब वह समय आ गया है जब सभी देशों, विशेष रूप से विकासशील देशों के मानवशास्त्रियों को अपनी संस्कृति के लोगों और जन समुदाय का अध्ययन करना होगा। स्वदेश की संस्कृति का अध्ययन करने वाले इन मानवशास्त्रियों के सामने किस प्रकार की समस्याएं आयेंगी इसका अनुमान लगाना कठिन है। मानव विज्ञान के इस नये पहलू को लगभग सभी देशों में कठिनाइयों का सामना पड़ेगा। उस समय एकमात्र अपवाद भारतीय मानव विज्ञान होगा क्योंकि यहां हम उस दौर से काफी पहले गुजर चुके हैं।

भारतीय मानव विज्ञान, विशेष रूप से सामाजिक मानव विज्ञान, में गत दो दशकों से पुनर्मूल्यांकन की गम्भीर प्रक्रिया चल रही है। आम धारणा यह है कि देश की आजादी के पहले अंग्रेजों और आजादी के बाद के काल में अमेरिकी प्रभाव के कारण भारत के सामाजिक मानव विज्ञान के सामने 'पहचान का संकट' (crisis of identity) है। कहा यह जाता है कि उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। उसे पश्चिमी प्रतिरूप से मुक्त होना चाहिए क्योंकि वह हमारे लिये उपयुक्त नहीं है। यह कथन सर्वथा उचित है कि भारत के सामाजिक मानव विज्ञान का विकास स्वदेशी ताने-बाने और प्रतिमानों के आधार पर होना चाहिए। हमें उसके लिए विभिन्न प्रकार के ऐसे प्रवेश-पथ, प्रतीक, सांस्कृतिक पैटर्न और ऐसी परम्पराएं विकसित करनी चाहिए जो स्वदेशी हों, हमारी अपनी हों। भारत के सामाजिक मानव विज्ञान को अपेक्षाकृत 'भारतीय' बनाने तथा भारतीय समाज को समझने के लिये इस्लामी तथा स्थानीय हिन्दू परम्पराओं के परस्पर प्रभाव डालने वाले तत्वों का अधिकाधिक अध्ययन व इस्तेमाल किया जाना चाहिए। 'पहचान' की खोज सम्बन्धी व्यग्रता में हमें पश्चिमी देशों की गतिविधियों के साथ बंधना नहीं चाहिए। हम उन देशों के विकसित शोध नीतियों और प्रतिमानों का अपनी सामाजिक स्थितियों के अनुरूप 'भारतीयकरण' भी कर सकते हैं।

सम्पूर्ण भारतीय समाज नये निर्माण की प्रक्रिया में है और हमारे देश को अपने स्वतंत्र अस्तित्व के सबसे कठिन दौर से गुजरना पड़ रहा है। अंग्रेज शासकों ने अपने उपनिवेशवादी हितों की पूर्ति के लिए सामाजिक मानव

विज्ञान का इस्तेमाल किया था। किन्तु अब वह समय है जब हमें अपने प्रशासन में सुधार करने के लिए इस विद्या का लाभ उठाना चाहिए। यह एक उत्साहवर्द्धक बात है कि मानव विज्ञान को प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षाओं में वैकल्पिक विषय के रूप में शामिल किया गया है और बड़ी संख्या में परीक्षार्थी इस विषय को अपना रहे हैं, हालांकि जरूरत इस बात की है कि इस विषय को सभी स्तरों के प्रशासनिक कर्मचारियों के प्रशिक्षण का अनिवार्य अंग बनाया जाये।

(ii) शारीरिक/जैविक मानव विज्ञान

मानव विज्ञान की दूसरी बड़ी शाखा शारीरिक मानव विज्ञान है। इसका प्रारम्भ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है; जब ब्रिटिश शासन के जमाने में भारतीयों की सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ-साथ उनके भौतिक एवं शरीर-रचना सम्बन्धी चिह्नों और लक्षणों के अध्ययन का प्रयास किया गया। इस प्रकार मानव विज्ञान सम्बन्धी जांच का कार्य सरल मानवमिति (एन्थ्रोपॉमीटरी) से प्रारम्भ हुआ। तब मानवमितीय प्रशिक्षण का मूल उद्देश्य मनुष्य के देखे जा सकने वाले रंग-रूप और शारीरिक आकार आदि का अध्ययन करना था जिससे उनका प्रजाति वर्गीकरण, उनकी मूलोत्पत्ति का निर्धारण, पितृ निश्चयन आदि किया जा सके तथा जनसंख्या में होने वाले मिश्रण के परिणामों को आंका जा सके। इस अध्ययन की प्रविधियां बड़ी सरल रही हैं और उनका इस विषय पर काम करने वालों ने परिणामकारी ढंग से इस्तेमाल भी किया है।

भारत में उक्त प्रविधि के प्रयोग से पहले, सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में जब पश्चिमी देशों के मिशनरी और यात्री विभिन्न स्थानों के लोगों की सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ-साथ उनके शरीर-रचना सम्बन्धी विवरण लिख रहे थे, तब वैज्ञानिक समुदाय मनुष्य के अंग-प्रत्यंग की बनावट सम्बन्धी चिह्नों और लक्षणों की व्याख्या करने की समस्या से जूझ रहा था। ''ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में उपलब्ध मानवमितीय अध्ययन के आलेखों से ज्ञात होता है कि इस विषय पर काम करने वाले सबसे पहले व्यक्ति जे. शोर्ट थे। उन्होंने नीलगिरी (तमिलनाडु) के आदिवासियों के तीन समूहों का मापन किया था-विशेष रूप से उनकी लम्बाई, चौड़ाई और कपाल एवं नाक के देशनाओं का। इसके परिणाम 1868 में कर्नल औचटर्लोनी

के नाम से साथ सम्मिलित रूप से प्रकाशित हुए थे। इनके बाद 1891 में रिज़्ले ने अपनी देखरेख में ब्रिटिशकालीन भारत के लगभग सभी प्रान्तों का, जिनमें बलूचिस्तान, सीलोन और बर्मा शामिल थे, व्यापक सर्वेक्षण कराया'' (आर.डी. सिंह 1987)। सर्जन कैप्टन ड्रेक बाकमैन ने उत्तर प्रदेश की अधिकतर जातियों और जनजातियों का मापन किया। उससे सम्बन्धित उनकी रिपोर्ट 1896 में प्रकाशित हुई। थर्सटन ने पूरे दक्षिण भारत में अनेक जन-समुदायों पर काम किया और 1909 के बाद अनेक खंडों में उसके परिणाम प्रकाशित किये।

1930 के दशक में सामान्य रूप से मानव की उत्पत्ति सम्बन्धी ज्ञान और विशेष रूप से उसके सीरम विज्ञान (सीरोलॉजी) के क्षेत्र में कुछ सफलताएं अर्जित की गयीं। इस प्रकार शारीरिक मानव विज्ञान काफी समृद्ध हुआ। इस काल में और इसके बाद भी अनेक जातियों-प्रजातियों के सर्वेक्षण हुए जिनमें मानवमितीय मापों के साथ-साथ रचना सम्बन्धी (anatomical) तथ्य व आंकड़े एकत्रित किये गये। रुधिर वर्गों (ब्लड ग्रुप्स) का सर्वेक्षण हुआ और अंगुलियों तथा हथेली से छापों के सम्बद्ध अध्ययन किये गये। इन सर्वेक्षणों में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं रिज़्ले द्वारा किये गये मानवमितीय सर्वेक्षण जिनके आधार पर उसने भारत की जातियों-प्रजातियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। 1931 की जनगणना के अंश के रूप में गुहा द्वारा किया गया भारतीय जातियों का सर्वेक्षण, मजूमदार द्वारा बंगाल, यू.पी. और गुजरात की जातियों का सर्वेक्षण, मैक्फरलेन, चटर्जी और मित्रा द्वारा किये गये रुधिर-वर्गों के सर्वेक्षण तथा सरकार द्वारा कराये गये जननिक एवं जाति-प्रजाति अध्ययन आदि। इस काल में गणितज्ञों और सांख्यिकी विशेषज्ञों ने शारीरिक मानवशास्त्रियों को सहयोग प्रदान किया। उन्होंने प्राचीन कालीन औजारों-उपकरणों और उनके प्रयोग की प्रविधियों के मानकीकरण के प्रयासों में सहायता की जिससे उनका सार्थक एवं तुलनात्मक मूल्यांकन हो सका। डी.एन. मजूमदार द्वारा किये गये जाति-प्रजाति सर्वेक्षणों में महिलानोबिस और बी.आर. राव जैसे सांख्यिकी विशेषज्ञों ने सहायता की। मानवीय पैलियनटालोजी (जिवाश्मित वस्तुओं की खोज एवं अध्ययन) सम्बन्धी शोध जियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया के अधिकार क्षेत्र में अवश्य रही किन्तु, एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया और शारीरिक मानवशास्त्र विषयक शोधकार्यों में जुटे विश्वविद्यालय

के तत्सम्बन्धी विभागों की स्थापनाओं के कारण प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक काल के कंकालीय अवशेषों का सुयोग्य विद्वानों द्वारा विस्तृत अध्ययन किया गया। मोहनजोदड़ो और तक्षशिला से प्राप्त कंकालीय अवशेष प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। मजूमदार और उनके साथियों द्वारा ऐसे अवशेष रूप कुण्ड (हिमालय) से भी बड़ी मात्रा में एकत्रित किये गये। अवशेषों का एक संग्रह वह भी है जो एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑव इन्डिया तथा कुछ अन्य व्यक्तियों द्वारा 1950 के दशक के मध्य में किया गया था। भारत के मध्यपाषाणकाल (मेसोलिथिक) से महापाषाणकाल (मेगालिथिक) तक के नृवंशीय तत्वों की टीका करने के लिये अब तक बीस से अधिक स्थानों पर मानवीय अवशेष पाये जा चुके हैं। चोपड़ा ने शिवालिक पर्वत श्रृंखलाओं में आदि मानव की खोज का कार्य किया और उसमें उन्हें कई महत्वपूर्ण चीजें प्राप्त हुईं।

1960 के बाद भार में शारीरिक मानवशास्त्र ने भी द्रुत गति से विकास ही नहीं किया वरन् अनेक विशिष्ट और समस्योन्मुख क्षेत्रों में प्रवेश भी किया। रुधिर वर्गों की आनुवंशिकी (जेनेटिक्स ऑव ब्लड ग्रुप्स) की जानकारी की मदद से विभिन्न समाजों के लोगों की उत्पत्ति के अध्ययन को बढ़ावा मिला। सीरमीय विज्ञान (सीरोलॉजी) का अध्ययन हालांकि बुनियादी तौर पर आबादी की विभिन्नताओं, समूह विशेष की विशिष्टताओं, उनकी उत्पत्ति और उनके मिश्रण को समझने के लिये किया जाता था लेकिन अब उसके द्वारा बदलते हुए पर्यावरण के दबावों के फलस्वरूप होने वाले वंशानुगत रूपानुकलन की प्रक्रियाओं का अध्ययन करने पर ध्यान केन्द्रित किया गया। लगभग दो सौ मानव-समूहों के रक्त प्रोटीनों (ग्लोबिन और हीमोग्लोबिन) की जांच की गयी और मानवशास्त्रियों द्वारा यह बताया गया कि किस रुधिर वर्ग के साथ इस्नोफीलिया, दमा, आतशक आदि अनेक रोग सम्बद्ध हैं। विभिन्न मेन्डेलियन समूहों में वंशानुगत विभेदों, पी.टी.सी. टेस्टिंग, वर्णान्धता, हाइपरट्रिकोसिस आदि पैतृक लक्षणों का अध्ययन भी किया गया। इसके अलावा शरीर रचना सम्बन्धी विशेषताओं, केशोतकी (हेयर हिस्टोलॉजी), मनुष्य की रोग प्रतिरोधक क्षमता (इम्यूनाइजेशन), आर.एच. प्रतिरोधी रोगों और शारीरिक वृद्धि विषयक अध्ययन आदि अब भारत के शारीरिक मानवशास्त्रियों के लिए अजनबी नहीं है।

शारीरिक मानवशास्त्र के अन्तर्गत जन्म-मृत्यु के आंकड़ों का अध्ययन हालांकि इस शताब्दी के पांचवें दशक में प्रारम्भ हो चुका था, पर इस कार्य को समुचित बढ़ावा छठे दशक में ही मिला। इन अध्ययनों का उद्देश्य सहभोग समूहों, सहभोग के अधिमानित पैटर्नों, विवाह सम्बन्धी फासलों, सजाति एवं विजाति मैथुन तथा इनसे सम्बन्धित अन्य छोटे-मोटे पक्षों के बारे में जानकारी प्राप्त करना था। कौन्सिल ऑव साइन्टिफिक ऐण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, इन्डियन कौन्सिल ऑव मेडिकल रिसर्च तथा नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव साइन्सेज जैसे राष्ट्रीय स्तर के शोध-संस्थानों और उनसे प्राप्त वित्तीय अनुदानों से भी शारीरिक मानव विज्ञान के शोध कार्यों को उल्लेखनीय प्रोत्साहन मिला। दिल्ली, चण्डीगढ़, पटियाला और कलकत्ता विश्वविद्यालयों के शारीरिक मानव विज्ञान विभागों ने इस कार्य में उल्लेखनीय भूमिका अदा की।

मानव विज्ञान की यह शाखा प्रगति की ओर लम्बे-लम्बे डग तो भर रही है, किन्तु इस प्रक्रिया में अनेक क्षेत्रों में विज्ञान सम्बद्ध शाखाओं के साथ उसकी सीमांत रेखायें धूमिल भी हो रही हैं।

(iii) प्रागैतिहासिक पुरातत्व/पुरातत्वीय मानव विज्ञान

भारतीय प्रागैतिहास अथवा प्रागैतिहासिक पुरातत्व-विद्या का प्रारम्भ 1863 से माना जा सकता है, जब राबर्ट ब्रूस फुट नामक भूगर्भवेत्ता को कुछ पुरापाषाण कालीन उपकरण मद्रास के पास पल्लावरम् नामक स्थान में मिले थे। उन्होंने आगे के बीस वर्षों में गुजरात और दक्षिण भारत में कई प्रागैतिहासिक स्थलों का पता लगाया था। उनसे पहले कर्नल मीडो टायलर ने दक्षिण भारत के कुछ महापाषाण कालीन (मैगालिथिक) स्थलों पर खनन कराया था और इनका जो विवरण उन्होंने लिखा वह अपने समय की तुलना में अधिक तथ्यपूर्ण और वैधानिक था। लगभग इसी समय ऐसे विद्वान भी सामने आये जिन्होंने मनुष्य के प्रागैतिहासिक अतीत के अवशेषों का सूक्ष्म अध्ययन करना प्रारम्भ किया। ये लोग या तो भूगर्भवेत्ता थे अथवा नागरिक प्रशासक। टी.जे. न्यूबोल्ड ने दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध नवपाषाणकालीन भस्म स्तूप की जांच की और एच.पी.ले. मैस्चूरियर ने जबलपुर के दक्षिण में उसी युग में प्रचलित कुठारों (सेल्ट) का पता लगाया। इसी प्रकार अन्य लोगों ने भी इस क्षेत्र में काफी काम किया। किन्तु इस सबमें रॉबर्ट ब्रूस फुट की रुचि सबसे भिन्न थी। वे मात्र प्राचीन काल की वस्तुओं के संग्रहकर्त्ता नहीं थे। उन्होंने इन

खोजों के बारे में भारतीय और यूरोपीय विद्वानों को भी बताया और उनके विवरणों को शैक्षिक पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित कराया। उन्होंने इन प्राचीन औजारों और वस्तुओं के बनाने और इस्तेमाल करने वालों के जीवन की शास्त्रीय कल्पना अर्थात् पुनर्रचना भी की।

'आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इन्डिया' की स्थापना हालांकि 1861 में हुई थी किन्तु उसके अधिकांश प्रयास केवल ऐतिहासिक काल तक ही सीमित थे। एक लम्बे अरसे के बाद, वस्तुत: इस शताब्दी के तीसरे दशक में, प्रागैतिहासिक (सही अर्थों में आद्यैतिहासिक) सर्वेक्षण शुरू किये गये। इस तरह मानव के प्रागैतिहासिक अतीत से सम्बन्धित अध्ययन के नये क्षेत्रों की खोज का काम मानव-विज्ञानोन्मुख प्रागैतिहास के विद्वानों के जिम्मे छोड़ दिया गया।

येल-कैम्ब्रिज अभियान ने प्रागैतिहासिक अध्ययन को नया मोड़ दिया। ''इस अभियान दल के विद्वानों ने कश्मीर की घाटी, पोटवार के पठार और नर्मदा घाटी में तथा मद्रास के तल क्षेत्र में काफी महत्वपूर्ण कार्य किया। इस अभियान दल.ने हिमालय में चार बार हिमाच्छादन होने का मत व्यक्त किया और पोटवार पठार में नवपुरापाषाणकालीन संस्कृति के साक्ष्य खोज निकाले। इसी बीच 1922 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान के विभाग की स्थापना हुई और वहां के पाठ्यक्रम में प्रागैतिहास को मानव विज्ञान का अंग माना गया। इस विभाग के डी. सेन ने येल-कैम्ब्रिज अभियान में हिस्सा लिया था'' (मिश्रा, 1985)। डी. टेरा और पैटर्सन (1939) ने भारतीय प्रागैतिहास के इतिवृत्त में येल-कैम्ब्रिज अभियान को अमर बना दिया। के. आर.यू. टॉड (1939) ने बम्बई के समुद्रतट पर पुरापाषाणकालीन उद्योगों का एक संक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया और इसी प्रकार के अध्ययन के सिलसिले का त्रुटिहीन एवं कालक्रमानुसार वर्णन करते हुए मिश्रा और नागर (1972) ने हमें बताया है कि पुरापाषाणकालीन अवशेषों की पहली खुदाई कदाचित उड़ीसा के मयूरभंज इलाके में कुलियाना नामक स्थान पर कलकत्ता विश्वविद्यालय के बोस और सेन (1948) द्वारा कराई मानी गयी थी। चौथे दशक के प्रारम्भ में आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इन्डिया की ओर से पूना स्थित डकेन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट के एच.डी. संकालिया के नेतृत्व में एक अभियान संयोजित किया गया जिसका काम गुजरात में ब्रूस फुट द्वारा

किये गये काम को आगे बढ़ाना था। इस अभियान के अंतर्गत साबरमती घाटी में प्रचुर मात्रा में उच्चपुरापाषाणकालीन संस्कृति की खोज तथा लंघनाज नामक स्थान पर पहली बार नियमित रूप से मध्यपाषाणकालीन अवशेषों की खुदाई की जा सकी।

नागर का यह मत निर्विवाद है कि भारत में प्रागैतिहासिक संस्कृति के अनुक्रम का बुनियादी ढांचा 1940 तक सुनिश्चित हो चुका था। यह निस्संदेह विगत लगभग सौ वर्षों में अनेक विद्वानों द्वारा किये गये मार्गदर्शक कार्यों का परिणाम था। फिर भी सच्चाई यह थी कि उस समय तक प्रागैतिहास के विषय में सुसंगठित और संस्थागत शोधकार्य बहुत ही कम हुआ था। आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया दूसरे और तीसरे दशक में सिन्ध और पंजाब में सिन्धु घाटी सभ्यता की खोज में नाम कमाने के बाद निष्क्रिय सा पड़ा था और 1940 के दशक के प्रारम्भ तक, प्रागैतिहासिक ही नहीं, पुरातत्व सम्बन्धी लगभग सम्पूर्ण कार्य की एक मात्र एजेन्सी आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इन्डिया थी। इसके अतिरिक्त कलकत्ता विश्वविद्यालय एवं पूना स्थित डकेन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने भी थोड़ा काम किया था। इस बीच ऐसी महत्वपूर्ण घटनायें घटीं जिन्होंने भावी वर्षों एवं दशकों में होने वाले प्रागैतिहासिक कार्यों की प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। पहली घटना थी–नवस्थापित डकेन कॉलेज के पुरातत्व विभाग में प्रोफेसर के पद पर एच. डी. संकालिया की नियुक्ति और दूसरी थी 1944 में आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इन्डिया के महानिदेशक के पद पर आर.ई.एम. व्हीलर की नियुक्ति।

संकालिया ने अपनी देख-रेख में अनेक खुदाइयां कराईं और अपने अन्वेषणों से भारतीय पुरातत्व की काया पलट दी। उनके मार्गदर्शन में काम करने वाले पी.एच.डी. के छात्रों ने पूर्व और मध्यपाषाणकालीन अवशेषों के खोज के कार्य को देश के सभी हिस्सों में फैला दिया। संकालिया का दूसरा महान योगदान भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप में आद्यैतिहास (प्रोटोहिस्टरी) के सर्वथा नये अध्याय का श्रीगणेश करना था।

नये महानिदेशक के रूप में व्हीलर ने आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इन्डिया के डूबते हुए भाग्य को नयी जीवनी शक्ति प्रदान की। उन्होंने ऐसे अनेक भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं को प्रशिक्षित किया जिन्होंने आगे चलकर

भारतीय पुरातत्व विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। इस अवधि में इस संस्थान के विशिष्ट योगदानों में शामिल हैं-

(i) गुजरात के लोथल और रंगपुर नामक स्थानों में हड़प्पा संस्कृति शृंखला के केन्द्रों की खुदाई;

(ii) लाल द्वारा उत्तर प्रदेश में हस्तिनापुर की खुदाई तथा भूरे रंग के बर्तनों की संस्कृति की खोज;

(iii) बी.के. थापड़ द्वारा धूले जिले में प्रकाश नामक स्थान पर ताम्रकालीन संस्कृति के केन्द्रों की खुदाई;

(iv) देशपाण्डे द्वारा जलगांव जिले के बहल नामक स्थान पर ताम्रकालीन संस्कृति की खुदाई;

(v) शर्मा द्वारा रोपड़ में हड़प्पा संस्कृति स्थल की खुदाई; और

(vi) लाल द्वारा बर्दवान जिले के बीरभानपुर नामक स्थान पर मध्यपाषाणकालीन संस्कृति स्थल की खुदाई।

1947 के बाद प्रागैतिहासिक पुरातत्व के क्षेत्र में जो प्रगति हुई, उसकी समीक्षा करते हुए मिश्रा और नागर (1972) का कहना है कि हालांकि इस शताब्दी के पहले तीन दशकों में प्रागैतिहासिक काल पर बहुत कम शोध कार्य हुआ था, किन्तु उसके ठीक विपरीत स्वतंत्रता के बाद के काल में इस विषय में जबर्दस्त वृद्धि और विस्तार हुआ। आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इन्डिया हालांकि पुरातत्वीय अन्वेषण के शोध कार्यों की एजेन्सी है किन्तु इस प्रकार के कार्यकलाप पर उसका एकाधिकार समाप्त हो चुका है। अध्ययन और अन्वेषण के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों की भूमिका उत्तरोत्तर प्रमुख होती जा रही है। देश के एक दर्जन से अधिक विश्वविद्यालयों के मानव विज्ञान विभागों में प्रागैतिहासिक पुरातत्व (पुरातत्वीय मानव विज्ञान) स्नातक और स्नातकोत्तर स्तरों पर अध्ययन और अन्वेषण का विषय बन चुका है। इनमें से दो विश्वविद्यालय--कलकत्ता और गुवाहाटी सक्रिय रूप से शोध एवं अन्वेषण कार्यों में लगे हुए हैं। लगभग इतने ही विश्वविद्यालयों के पुरातत्व विभागों में पुरापाषाण तथा मध्यपाषाणकाल पर जोर दिया गया है जबकि पुरातत्व के पाठ्यक्रम में नवपाषाण युग और ताम्र युग पर बल दिया जाता है। आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया में अनेक वर्षों से प्रागैतिहास की एक स्वतंत्र इकाई विद्यमान है जिसका कार्यकलाप केवल प्रस्तर युग तक ही सीमित है। अन्य शाखाएं मोटे तौर पर अपने आपको नवपाषाण काल, ताम्र युग और ऐतिहासिक युग सम्बन्धी कार्यों तक सीमित किये हुए हैं।

सर्वेक्षण के अलावा पुरातत्वीय शोध के काम में, विशेष रूप से प्रागैतिहासिक के विषय में, सबसे बड़ा योगदान डकेन कॉलेज और उसके प्रवर्त्तकपिता संकालिया का है। उनके सुविख्यात छात्र वी.एन. मिश्रा (जो लखनऊ के हैं और जिनकी पृष्ठभूमि विशुद्ध मानव विज्ञान की है) ने न केवल खुदाइयों के मामले में सार्थक योगदान किया वरन् बड़ी संख्या में इस विषय के समर्पित छात्रों को प्रशिक्षित करके अपने गुरु के कार्य को पूर्ववत् जारी भी रखा है। ऐसे छात्रों में मालती नागर जिन्होंने नृवंश-पुरातत्वशास्त्र (ethno-archaeology) पर काम किया और यशोधर मठपाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यशोधर मठपाल ने गुफा कला (चट्टानों पर की गयी चित्रकारी) का अध्ययन और उस विषय की पुनर्रचना के क्षेत्र में श्रेयस्कर काम किया है। पूना के सुप्रसिद्ध डकेन कॉलेज के असाधारण एवं वृहत् योगदान के प्रमाण स्वरूप उल्लेखित दो विद्वानों की चर्चा ही पर्याप्त है।

पिछले दो दशकों में भारतीय प्रागैतिहासिक ज्ञान में असाधारण रूप से वृद्धि हुई है, जबकि एन्थ्रोपोलॉजिकल-आर्कियोलॉजी (मानव विज्ञान सम्बन्धी पुरातत्वशास्त्र) मूलतः अमेरिका की देन है। हम यहां प्रागैतिहास से पुरातत्वीय मानव विज्ञान (Interdisciplinary) की ओर बढ़े हैं। इस बीच भारतीय प्रागैतिहास के क्षितिज पर दो महत्वपूर्ण व्यावसायिक संगठनों के नाम उभरे हैं; वे हैं-'द इन्डियन आर्कियोलॉजिकल सोसाइटी' और 'द इन्डियन सोसाइटी फॉर प्रीहिस्टोरिक ऐन्ड क्वार्टरनरी स्टडीज'। इन दोनों संगठनों की अपनी-अपनी पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं। उनमें प्रकाशित सामग्री में अन्तर्विषयक (Inter-disciplinary) शोध के प्रति तथा परम्परागत इतिहासोन्मुख पुरातत्वशास्त्र से हटकर उसके मानव-विज्ञानोन्मुख होने की बढ़ती हुई प्रवृत्तियां प्रतिबिम्बित होती हैं। यह एक अच्छा मोड़ है क्योंकि भारतीय पुरातत्वशास्त्र की जड़ें अब तक मानव विज्ञान में नहीं थीं; वह इतिहास की संतान थीं। हालांकि विकास और लोकप्रियता के मामले में यह विषय भारतीय मानव विज्ञान की सभी शाखाओं से पीछे है, तो भी पुरातत्वीय मानव विज्ञान का भविष्य निश्चित रूप से फीका नहीं है। इस विषय में पिछले तीन दशकों में जो काम हुआ है वह इस कथन की सच्चाई की पुष्टि करता है।

◆◆◆

2

मानव विज्ञान में क्षेत्रकार्य

क्षेत्रकार्य किसी भी अन्य बात से अधिक, शैक्षिक विषय के रूप में मानव विज्ञान की विशिष्टताओं का परिचायक है। वह आमने-सामने होकर अनुभव प्राप्त करने का पक्षधर है। इस बात को बड़ी खूबी के साथ प्रस्तुत करते हुए गोपाल शरण (1983) ने कहा है कि इसका कारण मानवशास्त्री का प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा दृश्य वस्तु को जानने व आंकने की आकांक्षा है क्योंकि वह तथ्यों का प्रेमी है। मानवशास्त्री अन्य समाज विज्ञानियों से भिन्न होता है। गहन क्षेत्र-कार्य द्वारा मानव विज्ञान को जिस अन्तर्दृष्टि से निवेशित किया गया है उसे यदि अलग कर दिया जाए तो मानव विज्ञान वैसा न होता जैसा वह आज है। "लेकिन ऐसा हमेशा रहा भी नहीं, हमारे पूर्व विद्वानों की रुचि को आकर्षित करने वाली वस्तु वह नहीं है जिसे आज हम क्षेत्र-कार्य की संज्ञा देते हैं" (बीते और मदन, 1975)।

अपने प्रारम्भिक चरणों में मानव विज्ञान बुनियादी रूप से आदिम समाजों के अध्ययन का विषय रहा है। जानकार लोगों द्वारा वैज्ञानिक विधि से संग्रहीत सामग्री के अभाव में आदिम मानव की छवि का अनुमान यात्रियों अथवा आखेटकों द्वारा बताई गयी कथा-कहानियों के आधार पर किया गया था। परिणाम स्वरूप आदिम मानव सम्बन्धी असली मुद्दों की लटकन एक किनारे से दूसरे किनारे के सीमांतों के बीच झूलती रही। "पहले आदिम मानव को निपट अभाव, हिंसा और भय की स्थितियों में रहने वाले जानवरों से किंचित ऊपर का जीव माना गया फिर उसे एकदम सौम्य, सम्पन्न, शान्तिप्रिय और संरक्षित स्थितियों में रहने वाला प्राणी बताया गया। पहले वह कानून से सर्वथा उन्मुक्त प्राणी था, फिर वह कानून और परम्पराओं का गुलाम बताया गया। पहले वह धार्मिक भावनाओं व विश्वासों से रहित था, फिर वह पूर्णत: धर्माश्रित और पूजा-आराधना सम्बन्धी कर्मकाण्ड में समर्पित नजर आया। पहले वह व्यक्तिवादी था जो अपने से दुर्बल का शिकार करता था और जो कुछ पाता उसे अपनी मिल्कियत बना कर रख लेता था; फिर

उसे ऐसा साम्यवादी बताया गया जो भूमि और सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार का हामी था। पहले वह स्वच्छन्द संभोग का समर्थक बताया गया, फिर उसे गृहस्थ गुणों के आदर्श के रूप में चित्रित किया गया। पहले वह सुस्त और आलसी था, फिर वह चुस्त और उद्यमी हो गया" (इवान्स प्रिचर्ड, 1956)। सभी तरह के मिथ्या वर्णन और परस्पर विरोधाभास विद्यमान थे। कहीं-कहीं तो पूर्वाग्रह इतने बढ़ गये कि मनगढ़न्त बेहूदी और विलक्षण बातें तक लिख डाली गयीं।

सोलहवीं शताब्दी के बाद आदिम मानव के जीवन के बारे में संयत, तथ्यात्मक और सन्तुलित विवरण सामने आने लगे किन्तु इसे केवल प्रारम्भ माना जा सकता है। अट्ठारहवी शताब्दी के मध्य और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के दौरान आदिम लोगों और समाजों से सम्बन्धित ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हुई। इसका काफी श्रेय अमेरिका में यूरोपीय उपनिवेशों तथा भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और यूरोपीय अप्रवासियों द्वारा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और दक्षिण अफ्रीका में अपनी बस्तियां बसाने के कार्य को है। इन घटनाओं का तर्कसंगत परिणाम यह था कि इन प्रदेशों के लोगों के जाति-विज्ञान (इथनोग्राफी) सम्बन्धी निरूपणों में परिवर्तन होना शुरू हुआ। अब वे आखेटकों-यात्रियों की कथायें नहीं रहीं। उनका स्थान मिशनरियों और प्रशासकों द्वारा किये गये विस्तृत अध्ययनों ने ले लिया था। इन लोगों के पास अध्ययन करने की सुविधाएं भी अधिक थीं और ये बहुत से 'अद्‌भुत एवं विजातीय रीति-रिवाजों' और तौर-तरीकों को समझने एवं तर्कान्वित करके उन्हें हेतुवादी बनाने के काम में बौद्धिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न भी थे। लेकिन इस समय मोर्गन को छोड़ कर सभी उल्लेखनीय मानवशास्त्री (और निस्संदेह सम्बद्ध विषयों के खोज कार्य करने वाले) 'सुविधावादी विद्याव्यसनी' (आर्मचेयर स्कालर) थे। उन्होंने द्वितीयक सूत्रों और द्वितीयक सामग्री पर भरोसा किया। सामग्री संग्रह का उनका प्रमुख माध्यम डाक से भेजी जाने वाली प्रश्नावली थी। मानवशास्त्रियों के पेशे से अलग अधिकारियों के लिए एक प्रमाणित आलेख 'रॉयल एन्थ्रोपोलॉजिकल इन्स्टीट्यूट' द्वारा 1874 में प्रकाशित 'नोट्स एन्ड कवैरीज ऑन एन्थ्रोपोलॉजी' में संकलित हैं। उस समय के बड़े और व्यावसायिक मानवशास्त्री (सबसे पहले के) जिनमें मेकलेनन, टाइलर, मेन और फ्रेजर भी शामिल हैं, द्वितीयक सूत्रों से एकत्रित जानकारी के आधार

पर लेख या प्रबंध लिखने से सन्तुष्ट थे। फ्रेजर लिखित 'द गोल्डन बाऊ' नामक ग्रन्थ भी द्वितीयक सूत्रों से प्राप्त एवं संग्रहीत सामग्री पर आधारित था।

इस समय तक मानव वैज्ञानिकों और नृजातिशास्त्रियों (इथनोग्राफर) को यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया था कि यदि सामाजिक मानव विज्ञान के अध्ययन में प्रगति करनी है तो शोधकर्त्ताओं को अपने विषय के पास स्वयं जाना पड़ेगा और उनका निरीक्षण-पर्यवेक्षण स्वयं करना होगा। इवान्स-प्रिचार्ड (1956) का यह कथन सही था कि निश्चित रूप से यह अचरज की बात है कि मोर्गन द्वारा इरोक्योज के अध्ययन को छोड़कर उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक किसी भी अन्य मानवशास्त्री ने क्षेत्र-अध्ययन नहीं किया। अद्‌भुत बात यह है कि उनमें से किसी को कभी यह नहीं सूझा कि मानव विज्ञान के विषय के लेखक के लिये यह आवश्यक है कि जिन लोगों पर लिखने में उसने अपनी सारी जिन्दगी बिता दी उनके एक या दो नमूनों को वह स्वयं भी देख लेता अथवा कम से कम उनकी झलक ही पा जाता। लगभग इसी समय प्राकृतिक विज्ञानों की पृष्ठभूमि के विद्वानों ने भी मानव विज्ञान के शोधकार्यों में शामिल होना शुरू कर दिया था। बोआस भौतिकशास्त्री और भूगोलविद् थे, हैडन समुद्री जीव विशेषज्ञ थे, रिवर्स शरीर-शास्त्री, सेलिगमैन चिकित्सक, ईलियट स्मिथ शरीर-रचना शास्त्री तथा मैलिनोवस्की भौतिकशास्त्री थे। इन लोगों को यह पढ़ाया गया था कि विज्ञान में स्वयं अपने प्रेक्षण द्वारा ही अपने अनुमान का परीक्षण किया जाता है, यह नहीं कि किसी अनजान व्यक्ति द्वारा दिये गए विवरण पर भरोसा कर लिया जाए।

1897 में फ्रेंज बोआस के नेतृत्व में जेस्सप नार्थ पेसिफिक अभियान और 1898-99 में टोरेस जलडमरुमध्य के लिए कैम्ब्रिज अभियान जिसमें हैडन, रिवर्स, सेलिगमैन और अन्य कई लोग सम्मिलित थे, चलाए गये। ये दोनों अभियान ऐसे थे, जिनमें मानव विज्ञान सम्बन्धी क्षेत्रकार्य की औपचारिक शुरुआत हुई। सेलिगमैन की यह टिप्पणी कि "मानव विज्ञान के लिए क्षेत्रकार्य धर्म के लिए शहीद के रक्त जैसा महत्वपूर्ण एवं परिणामकारी होता है" निश्चय ही ऋषिवाणी सिद्ध हुई क्योंकि इसके बाद के काल में मानव विज्ञान समग्रकालीन व्यावसायिक अध्ययन का विषय बन गया और अटकलबाजी का स्थान क्षेत्रकार्य ने ले लिया।

क्षेत्र में जाकर शोधकार्य करने वाले अंग्रेजों में रिवर्स ने क्षेत्रकार्य को परिभाषित करने का सबसे अधिक कार्य किया। उन्होंने सघन और सर्वेक्षण कार्यों के बीच के अंतर को समझा। आज सघन अनुभव-सिद्ध अध्ययन (इन्टेन्सिव इम्पिरिकल स्टडी) मानव विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन का अंत:स्थल है। रिवर्स ने दोनों तरह का काम किया। मेलानेशिया में सर्वेक्षण कार्य तथा भारत की टोडा नामक जनजाति के बीच सघन क्षेत्रकार्य किया। फिर भी प्रारम्भ में अनुभव-सिद्ध शोधकार्य में कुछ कमियां रह गयीं। शोधकर्त्ता, जिनका उन्होंने अध्ययन किया, के बीच केवल एक बार और वह भी कम समय के लिये जाते थे तथा उनकी भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण गहरी जांच-पड़ताल नहीं कर सके। रिवर्स और हैडन के एक विद्यार्थी रैडक्लिफ ब्राउन ने मानव वैज्ञानिक क्षेत्रकार्य को एक महत्वपूर्ण मोड़ प्रदान किया।

1906 से 1908 के बीच रैडक्लिफ ब्राउन ने भारत के अण्डमान के निवासियों के साथ प्रेमपूर्वक रहे, उनकी भाषा सीखी और उनके सामाजिक जीवन में घुलमिल कर उनसे सम्बन्धित सामग्री एकत्रित की।

ब्रिटेन के महान् सामाजिक मानवशास्त्री ब्रोनिसलॉ मैलिनोवस्की, जो मूलत: पोलिश थे, ने मानव विज्ञान में क्षेत्रकार्य का रूपान्तरण इस सीमा तक कर दिया कि वह पुन: पहले जैसा नहीं रहा। शरण (वही) की यह टिप्पणी यही है कि "मैलिनोवस्की की कृति 'अर्गोनॉट्स ऑव द वेस्टर्न पैसिफिक' के प्रकाशित होते ही शौकिया नृजातिशास्त्र (एमेच्योर इथनोग्राफी) पूर्णत: लुप्त हो गया। नृशास्त्रीय क्षेत्रकार्य अत्यधिक व्यवसायीकृत कार्यकलाप बन गया। अब वह केवल सामग्री-संकलन का कार्य नहीं रहा। उसमें अब सामाजिक संरचना और संस्कृति-प्रतिमानों के गूढ़ और गहरे विवचेन का काम भी शामिल हो गया।" मैलिनोवस्की एक सम्पूर्ण और असली क्षेत्रकार्यकर्त्ता थे। उन्होंने अपने प्रत्येक अध्ययन में पहले और बाद के किसी भी मानवशास्त्री की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक समय आदिवासियों के बीच बिताया। साथ ही वह पहले मानवशास्त्री थे जिसने अपना सम्पूर्ण शोधकार्य स्थानीय भाषा के माध्यम से किया-जिसे 'क्षेत्रकार्य का दर्शन' कहा जा सकता है। उसकी उद्घोषणा करने वाले मैलिनोवस्की ही थे और उन्होंने आज से पचास वर्ष पहले क्षेत्रकार्य के जितने सिद्धांत स्थापित कर दिये थे उनमें जोड़ने के लिए हमारे पास शायद ही कुछ है। "आज हम निश्चय ही सहायक तकनीकी

वस्तुओं का अधिक इस्तेमाल करते हैं और सांख्यिक उपकरणों पर अधिकाधिक भरोसा करते हैं किन्तु क्षेत्रकार्य की प्रकृति की मूल प्रामाणिक परिभाषा वही है जो मैलिनोवस्की ने की है" (बीते और मदन, वही)। उनकी अन्य कृतियों में प्रमुख हैं- 'द सेक्सुअल लाइफ ऑव सैवेजेज' (1929) और 'कोरल गार्डेन्स एन्ड देयर मैजिक' (1935)। ये दोनों ही क्षेत्रकार्य पर आधारित उत्कृष्ट ग्रन्थ माने जाते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मैलेनोवस्की ने क्षेत्रकार्य को एक कला का रूप दे दिया था और इस प्रकार अच्छे क्षेत्रीय अन्वेषण के लिए कुछ बुनियादी शर्तें व कार्यविधियां निश्चित की गयीं।

उत्तम क्षेत्रीय-अन्वेषण के नियमों व लक्षणों का प्रतिपादन करते हुये इवान्स प्रिचार्ड (वही) ने कहा है कि मानवशास्त्री को अध्ययन पर पर्याप्त समय लगाना चाहिए; उसे निरन्तर उन लोगों के सम्पर्क में रहना चाहिये जिनके बीच वह काम करता है; उसे उन लोगों से केवल उन्हीं की भाषा में बातचीत करनी चाहिए तथा उसे उन लोगों की सम्पूर्ण संस्कृति और सामाजिक जीवन का अध्ययन करना चाहिए। प्रारम्भिक काल के व्यावसायिक क्षेत्रकार्यकर्त्ता हमेशा बहुत जल्दी में रहा करते थे। आदिम लोगों के बीच उनका प्रवास केवल कुछ दिनों का होता था, शायद ही कभी कुछ हफ्तों का रहा हो। इस प्रकार का विहंगम सर्वेक्षण-शोध गहन अध्ययन में प्रारम्भिक तैयारी के रूप में सहायक तो सिद्ध हो सकता है किन्तु किसी सामाजिक जीवन को समझने के काम में उसकी कोई खास उपयोगिता नहीं है। आज स्थिति बिल्कुल भिन्न है जबकि केवल एक समूह के लोगों के अध्ययन में एक से तीन वर्ष तक लग जाते हैं। वर्तमान शोध पद्धति के अनुसार वर्ष की सभी ऋतुओं में पर्यवेक्षण किया जाना चाहिए, लोगों के सामाजिक जीवन के प्रत्येक सम्भव ब्यौरे को लिपिबद्ध करना चाहिए तथा निष्कर्षों का यथा-पद्धति परीक्षण करना चाहिए। फिर भी, समय की बात ही सब कुछ नहीं है। शोध कार्य में असीमित समय लगाने के बाद भी मानवशास्त्री तब तक उन लोगों के बारे में, जिनका वह अध्ययन करता है, कोई अच्छा प्रबन्ध या विवरण नहीं प्रस्तुत कर सकता जब तक वह उस समाज में अपनी ऐसी स्थिति नहीं बना लेता कि उसमें और उस समुदाय के लोगों में प्रगाढ़ आत्मीयता की ऐसी भावना पैदा हो जाए जो उसे बाहर से नहीं वरन् उन लोगों का अन्तरंग

बनकर उनके सामुदायिक-जीवन की दैनिक गतिविधियों का निरीक्षण और अध्ययन करने में सहायक हो। उसे यथासम्भव शारीरिक व मानसिक रूप से उस समुदाय का अंग बनकर रहना चाहिए। तब वह न केवल उन लोगों के दैनिक जीवन में घटित होने वाले छोटे या बड़े मामलों को जिनमें उनके उत्सव और समारोह, झगड़े और मुकदमेबाजियाँ आदि भी शामिल होकर देखता और सुनता है, वरन् उन सबमें यथोचित हिस्सा लेते हुए अपनी सक्रियता के माध्यम से भी अपने चारों ओर की गतिविधियों के बारे में काफी कुछ सीखता है। यह प्रारम्भ उन स्थितियों से भिन्न है जिनमें विभिन्न मानवशस्त्रियों, मिशनरियों और सरकारी प्रशासकों द्वारा आदिवासी जीवन सम्बन्धी सामग्री संग्रहीत की जाती थी। उस समय वे लोग आदिवासियों के स्थानों से दूर अपने निवास स्थानों, मिशन केन्द्रों अथवा सरकारी नियुक्ति के स्थानों में रहते थे और उन्हीं बातों पर निर्भर करते थे जो कुछ थोड़े से सूचना देने वाले बता जाते थे। ध्यान रखने योग्य एक बात यह भी है कि अच्छा शोधकर्त्ता वही है जो यह समझता है कि आदिवासियों के बीच वह उनकी शैली में सुधार करने नहीं, वरन् विनम्र भाव से उससे कुछ सीखने जाता है। उसके कार्य के लिए इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जब वह आदिवासियों के बीच होता है तब अपनी जाति और संस्कृति के लोगों से बहुत दूर और निपट अकेला होता है। उसे मित्रता, साहचर्य और मानवीय सद्भावना के लिए उसी आदिवासी समाज पर निर्भर रहना होता है। वह मानवशास्त्री असफल माना जायेगा जिसके आदिवासी समाज से विदा लेते वक्त विदाई का विषाद दोनों ओर समान रूप से महसूस नहीं किया जाता। स्पष्ट है कि इस प्रकार का अपनापन वह तभी पैदा कर सकता है जब वह किन्हीं अंशों तक अपने आप को उस समाज का अंग बना ले तथा उनकी ही संस्कृति एवं संस्कारों के अनुरूप रहने, सोचने और अनुभव करने लगे। क्योंकि केवल उससे ही, न कि उस समाज के लोगों से, अपने आप में आवश्यक परिवर्तन कर लेने की अपेक्षा की जा सकती है।

ऊपर के अनुच्छेद में एक अन्य क्षेत्रीय शोधकर्त्ता इवान्स प्रिचार्ड द्वारा वर्णित अच्छे क्षेत्रकार्य की अनिवार्य आवश्यकतायें और अवस्थायें बताई गयी हैं। इन्हें मानव विज्ञान के दो विशिष्ट मुहावरों-गहन क्षेत्र-कार्य और सहभागी अवलोकन (इन्टेन्सिव फील्ड वर्क व पार्टीसिपेंट ऑब्जर्वेशन)-के बिन्दु परिमाणों के भीतर समाविष्ट किया जा सकता है। दुर्भाग्य की बात यह है कि बहुत

कम लोगों ने अपने क्षेत्रीय अनुभव का ब्योरा प्रकाशित किया है। इस सामान्य उपेक्षा का अर्थ यह भी हो सकता है कि यदि वस्तुपरक अन्वेषण की कुछ बुनियादी आवश्यकतायें पूरी होती हैं जो सामग्री संग्रह के कार्य में इस्तेमाल की गयीं, अन्य तकनीकों की तुलना में क्षेत्रकार्य के परिणामों को ही महत्वपूर्ण समझा जाए। "यह एक खेद का विषय है, क्योंकि क्षेत्रकार्य की प्रविधियों के प्रतिमानीकरण के अभाव में अन्वेषक द्वारा किया जाने वाला विवेचन न केवल उसके लिये वरन् उसी प्रकार का काम करने वाले अन्य व्यक्तियों के लिये भी मूल्यवान सिद्ध होता है।" (बीते और मदन, वही)। ऐसी स्थिति से निपटने के लिये स्पष्टतः शोध-तकनीकों का प्रतिमानीकरण तथा क्षेत्र-कार्य सम्बन्धी औपचारिक निर्देशिकायें तैयार करना है। कारण बहुत स्पष्ट है; सामाजिक विज्ञान के रूप में मानव विज्ञान को वैयक्तिक दुस्साहस का विषय नहीं बनाया जा सकता; उसे सामूहिक प्रयास की वस्तु होना चाहिए-उद्देश्य की दृष्टि से भी और कार्य-पद्धति के मामले में भी। सामाजिक शोध की कार्य-पद्धति को कक्षाओं में भी पढ़ाया जाना चाहिए और विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते समय उनका बार-बार इस्तेमाल भी होना चाहिए। स्वनिष्ठा और वस्तुपरकता की समस्या को भी हल करना होगा; किसी पर्यवेक्षक की स्वतन्त्रता पर दिये जाने वाले बल को इस सीमा तब बढ़ावा नहीं देनी चाहिए कि वह कार्य-पद्धति अपनाने के परिश्रम से बचने का बहाना बना सके। प्राविधिक कलाकारिता को भी अंतरित होने की इजाज़त नहीं देना चाहिए क्योंकि पर्यवेक्षक जो कुछ अन्वेषण करता है, आँकड़ों के बीच जैसे सूत्र जोड़ता है तथा जिस मानव-समुदाय का अध्ययन करता है उसके विभिन्न सदस्यों की विविध प्रकार की भूमिकाओं व उनके परस्पर सम्बन्धों को देखकर निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए वह जैसे ढाँचे बनाना पसन्द करता है-इन सभी कार्यों में उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसके अलावा यदि ऐसे फामूर्ले ईजाद किए जा सकते जिनसे क्षेत्रकार्यकर्त्ता को घर बैठे ही न केवल सारी समस्याओं का पूर्वाभास हो जाता वरन् वह रोजमर्रा के कार्यों की तरह उनका समाधान भी ढूंढ़ लेता तो मानव-समाज के अध्ययन का काम निश्चय ही नीरस और उबाऊ हो जाता। हमारा अनुभव रहा है कि अपने या दूसरे समाजों में काम करते हुए हमारे सामने अनेक शंकायें व पेचीदगियाँ आती हैं। यह शंकायें और पेचीदगियाँ ही सच्चे अर्थों में समाजशास्त्र सम्बन्धी शोधकार्य में प्रेरक का काम करती हैं। ये न हों तो उस कार्य का आनन्द ही समाप्त हो जाये" (वही)। यदि हम अपने शोधकार्य के अनुभवों को 'सफलता की कहानियों की भाँति

लिखने लगें तो वह वैज्ञानिक अन्वेषण की भावना के विरुद्ध होगा। अन्वेषण के कार्य में सफलतायें भी सामने आती हैं और असफलतायें भी। परीक्षण की पीड़ायें भी सामने आती हैं और सफलताओं की खुशियाँ भी। ऐसे अवसर भी आते हैं जब अचूक से अचूक कार्य पद्धति भी परिणामकारी नहीं सिद्ध होती और कभी-कभी अत्यन्त ही दुर्बोध तथ्य बिना प्रयास किये अपने महत्व का उद्घाटन कर देते हैं।

इसे मौके पर 'अपनी संस्कृति' में और 'पराई संस्कृतियों' में क्षेत्रीय कार्यों की चर्चा करना भी जरूरी है। पिछले पृष्ठों में आप पढ़ चुके हैं कि जब अंग्रेज अथवा अमेरिकी मानवशास्त्रियों ने मानव विज्ञान में क्षेत्रकार्य पर आधारित सामाजिक अन्वेषण का कार्य प्रारम्भ किया था, तब उनका विषय उन आदिवासियों का अध्ययन करना था जिनका जीवन उनके अपने जीवन से नितान्त भिन्न था। अपने समाजों या संस्कृतियों का अध्ययन उन्होंने एक लम्बे अरसे के बाद शुरू किया था। दूसरी ओर भारत में भारतीय मानवशास्त्रियों का क्षेत्रकार्य अधिकांशतः स्वयं अपने समाज के अध्ययन से सम्बन्धित रहा है। यह एक ऐसी अनोखी स्थिति है जिसका सामना अंग्रेज और अमेरिकी मानवशास्त्रियों को नहीं करना पड़ा। इसके अलावा 'घर का' और 'बाहर का' जैसा वर्गीकरण भी असमंजस पैदा करने वाला है। यदि उत्तरी भारत का शोधकर्त्ता दक्षिण भारत के किसी गांव में क्षेत्रकार्य करने जाता है तो उसे 'घर का' माना जायेगा या 'बाहर का'? ऐसी दर्जनों स्थितियां देखी जा चुकी हैं।

पिछले पृष्ठों में जो कुछ कहा गया वह मुख्यतः सामाजिक-सांस्कृतिक मानव विज्ञान सम्बन्धी क्षेत्रकार्य के बारे में है और मानव विज्ञान की इसी शाखा से सम्बन्धित भी है। फिर भी, शारीरिक (जैव) मानव विज्ञान विषयक शोधकार्यों में उन्हीं शर्तों और स्थितियों की पूर्ति आवश्यक है जो सामाजिक-सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों के लिए निर्धारित हैं। मानवशास्त्र सम्बन्धी प्रारम्भिक अन्वेषण मुख्यतः जातियों के वर्गीकरण के लिए शरीर-रचना विषयक मापदण्डों के अध्ययन तक सीमित था। आज के शारीरिक मानवशास्त्र (जो अपने विस्तारित आयामों के कारण कभी-कभी जैविकीय मानवशास्त्र कहलाता है) के अन्तर्गत अनेक प्रकार की विशेषतायें आती हैं, अर्थात् अनेक विषयों का विस्तृत एवं विशिष्ट अध्ययन करना पड़ता है, जैसे डेन्टल एन्थ्रोपोलॉजी (दन्त मानव विज्ञान), पापुलेशन जेनेटिक्स (जनसंख्या आनुवंशिकी), साइटोजेनेटिक्स (कोशिका आनुवंशिकी), मोलिक्युलर (आण्विक) और बायोकैमिकल (जैवरसायनिक), जेनेटिक्स (आनुवंशिकी) आदि। इनमें से

कुछ विषय ऐसे हैं जिनमें अध्ययन किए जाने वाले मानव समुदाय के परस्पर रक्त सम्बन्धों और उनके पर्यावरण के बारे में विस्तृत जानकारी की आवश्यकता पड़ती है। इस सबमें किसी हद तक सामाजिक-सांस्कृतिक मानव विज्ञान में इस्तेमाल होने वाली कार्य प्रणाली का उपयोग भी आवश्यक है। शारीरिक मानवशास्त्रियों को भी अपने विषय के अन्तर्गत आने वाले जन समुदाय एवं अपने प्रतिपक्षियों से सम्बन्ध रखना चाहिए। उसे आवश्यक आंकड़ों या सामग्री से सार-भूत निष्कर्ष निकालने के लिये भागीदार बनकर पर्यवेक्षण करने की तकनीकों का इस्तेमाल करना चाहिए। प्रागैतिहासिक पुरातत्व शास्त्री अथवा पुरातत्वीय मानवशास्त्री को इन समस्याओं की चिन्ता नहीं करनी पड़ती क्योंकि जीवित मानव समुदाय उसका विषय नहीं होता। उसका काम मुख्यतः खुदाई करना और धरती की अन्तर्सतह से प्रागैतिहासिक मानव के पार्थिव अवशेषों का संग्रह करना होता है।

आधुनिक मानवशास्त्री के लिए क्षेत्रकार्य अपरिहार्य है। उसे 'अजनबियों के बीच' रहने के साहसिक कार्य में माहिर माना जाता है। कुल्कहोन के शब्दों में मानवशास्त्री वस्तु को 'आसक्त निरासक्ति' (एडॉप्टडिटेचमेट) की दृष्टि से ग्रहण करता है अर्थात् पूरी दिलचस्पी के बावजूद वह निष्कर्षों पर पहुंचने के मामले में निष्पक्ष और वस्तुपरक रुख ही अपनाता है। क्रोबर के अनुसार क्षेत्रकार्य 'एक सुअवसर', 'एक विशेषाधिकार' और व्यावसायिक प्रश्नोत्तर करने की विशेष सुविधा है। लेवी-स्ट्रॉस ने इसे इसकी चरम सीमा पर पहुंचा दिया। उन्होंने कहा कि "क्षेत्रकार्य जिससे प्रत्येक मानवशास्त्री की जीवन-यात्रा प्रारम्भ होती है, शंकाओं की जननी और उन्हें पालने वाली धाय होती है। शंका करना दर्शन शास्त्र की एक परम श्रेष्ठ विचार पद्धति है। मानव विज्ञान विषयक शंकाओं में न केवल यह महसूस करना शामिल है कि व्यक्ति को कुछ नहीं मालूम वरन् जो कुछ उसे मालूम होता है उसको पूरे संकल्प के साथ अभिव्यक्त करना भी शामिल है और निःसन्देह, इंकार, अस्वीकृति और विरोधों के उन तूफानों की अनभिज्ञता भी जो उसके चिर आकांक्षित विचारों एवं चलन के विरुद्ध दूसरों के विचारों और रीति-नीतियों द्वारा उठाये जाते हैं और जो उनका कदम-कदम पर खण्डन करते हैं।"

◆◆◆

3

भारत में व्यावहारिक मानव विज्ञान

बहुत ही सरल शब्दों में 'व्यावहारिक मानव विज्ञान' का अर्थ मानव विज्ञान की विद्या का वास्तविक उपयोग है। व्यावहारिक मानव विज्ञान की उत्पत्ति ब्रिटेन के उपनिवेशवादियों के समय से मानी जा सकती है। भारत में ईस्ट इन्डिया कम्पनी में काम करने वाले नागरिक प्रशासकों को जहाँ प्रशिक्षित किया जाता था उस हेलेबरी कालेज (लंदन) में अन्य विषयों के साथ मानव विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1807 में ही यह अनुभव कर लिया था कि उनके औपनिवेशक शासन के लिए मानव विज्ञान का प्रशिक्षण काफी उपयोगी सिद्ध होगा। तत्कालीन गवर्नर जनरल ने डा० फ्रांसिस बुशानन को बंगाल के लोगों के जीवन और उनकी संस्कृति के बारे में पता लगाने के काम पर नियुक्त किया था। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक प्रशासकों, जिनमें डाल्टन, थर्सटन और रिज्ले भी शामिल हैं को भारत की जनजातियों और जातियों के बारे में निर्देशक-पुस्तिकायें और गजेटियर आदि लिखने का काम सौंपा गया था। इन लोगों ने जो भी लिखा उसमें उन्होंने सरकार से किसी समस्या विशेष के समाधान के लिए कोई सिफारिश नहीं की। 1931 में जे.एच. हटन, जो तब जनगणना कमिश्नर थे, ने संस्कृति संपर्क पर लिखते हुए सरकार से यह सिफारिश की कि "जनजातियों के क्षेत्रों को अपने आस-पास के प्रान्तों या राज्यों में मिलाये जाने के मामले में उन्हें आत्मनिर्णय के अधिकार देने के साथ स्वायत्त शासित, आदिवासी क्षेत्रों की स्थापना की जाये" (सच्चिदानन्द, 1980)। स्पष्टत:, प्रारम्भिक दौर में प्रशासक एवं विद्वान् तथ्यों के संकलन में अधिक व्यस्त थे न कि समस्योन्मुखी विश्लेषणों में।

शैक्षिक श्रेष्ठता की ओर अपनी यात्रा के दौरान भारतीय मानवशास्त्रियों को इस चुनौती का सामना करना पड़ा कि मानव के ज्ञान का समाज के हित में किस प्रकार से इस्तेमाल किया जाए। उनसे यह उम्मीद की गयी

कि वे प्रशासन के सहायतार्थ 'सामाजिक चिकित्सक' के रूप में काम करें, सामाजिक बुराइयों-बीमारियों का पता लगायें, उनके लिए समुचित उपचार की व्यवस्था करें तथा परम्परागत स्तर से संक्रमण काल तक और उसके बाद पुनर्संगठन के चरण तक हमारे समाज के रूपान्तरण की प्रक्रिया को सुगम बनायें। स्वतंत्रता के बाद की अवधि में समस्योन्मुख अर्थात् समस्या का हल करने की दिशा में सबसे पहला यथापद्धति शोध प्रयास **'द ईस्टर्न एन्थ्रोपोलॉजिस्ट'** नामक पत्रिका के विशेषांक (1949) में किया गया। इस पत्रिका का प्रकाशन और सम्पादन महान मानवशास्त्री डी. एन. मजूमदार कर रहे थे। यह पत्रिका आज भी लखनऊ से प्रकाशित हो रही है। आदिवासियों से सम्बन्धित उक्त विशेषांक में जिन मानवशास्त्रियों के प्रबन्ध प्रकाशित हुए थे उनमें से कुछ नाम हैं - हेमेन्डार्फ, चट्टोपाध्याय, नायक, दूबे, श्रीवास्तव, मजूमदार, एहरेन-फेल्स और ठक्कर बापा एवं बान्द्रेकर जैसे सामाजिक कार्यकर्त्ता। इसके बाद आदिवासियों की समस्याओं पर मानवशास्त्र की अन्य पत्रिकाओं, जैसे 'मैन इन इंडिया' और 'जर्नल आफ सोशल रिसर्च' आदि में भी लेख और प्रबन्ध छपते रहे। पचास के दशक में दूबे, ऑस्कर लुइस और श्रीनिवास, सिन्हा तथा अन्य कई लोगों की पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इन प्रकाशनों में कुछ ऐसे तर्क विद्यमान थे जिन्होंने भारत के व्यावहारिक मानव-विज्ञान के सिद्धान्त और उसकी पद्धतियों के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत किया।

इसी अवधि में जनजातीय समस्याओं के लिए मानवशास्त्रियों ने मोटे तौर पर जो मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाये थे, वही पं. जवाहरलाल नेहरू ने सरकार की नीति के रूप में प्रस्तुत कर दिये। जनजातियों के विकास के लिए जिन पाँच सिद्धान्तों पर नेहरू का अकीदा था वह पं. नेहरू पर शायद एल्विन का प्रभाव था और उस प्रभाव का प्रतिफल था उनकी आदिवासी नीति। वे पाँच सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

1. लोगों को अपनी प्रतिभा और विवेक के आधार पर अपना विकास करने दिया जाए; उन पर कोई चीज लादी न जाए।
2. आदिवासियों की भूमि और जंगल सम्बन्धी अधिकारों का सम्मान किया जाए।
3. आदिवासी क्षेत्रों में बहुत ज्यादा बाहरी व्यक्तियों को प्रवेश देना या पदासीन करना रोका जाए।

4. आदिवासी क्षेत्रों में प्रशासन को आवश्यकता से अधिक न बढ़ाया जाए और जहाँ तक सम्भव हो उन्हीं की सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा काम लिया जाए।
5. परिणामों का मूल्यांकन व्यय किए गये धन के आधार पर न करके अन्तर्ग्रस्त मानवीय चरित्र के विकास के आधार पर किया जाए।

पाँचवें दशक के प्रारम्भ में अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के कमिश्नर ने आदिवासियों की समस्याओं का अध्ययन और उनके समाधान प्रस्तावित करने के लिए आदिवासी शोध संस्थाओं की स्थापना करने की माँग की। इस प्रकार अब तक बिहार, उड़ीसा, बंगाल, मध्य प्रदेश, राजस्थान, असम और उत्तर प्रदेश में ऐसे संस्थाओं की स्थापना हुई है। इनके अतिरिक्त और भी कई संस्थान और संगठन हैं जो मानव विज्ञान और उससे सम्बद्ध क्षेत्रों में व्यावहारिक शोध (एप्लाइड रिसर्च) को बढ़ावा दे रहे हैं, इनमें से प्रमुख हैं: राष्ट्रीय परिवार नियोजन संस्थान, योजना आयोग के कार्यक्रम का मूल्यांकन संगठन, सामुदायिक विकास का राष्ट्रीय संस्थान आदि। स्वयंसेवी संस्थाओं में प्रमुख हैं-गान्धियन इन्स्टीट्यूट ऑफ स्टडीज, आदिम जाति सेवक संघ और विषय से सम्बद्ध व्यावसायिक संगठन हैं- 'एन्थ्रोपोलॉजिकल एसोसियेशन', 'इन्डियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी', 'इन्स्टीट्यूट ऑफ एप्लाइड एन्थ्रोपोलॉजी', 'द इंडियन सोसाइटी ऑफ एकस्टेन्शन एजूकेशन' आदि।

मानव विज्ञान की सामान्य पृष्ठभूमि वाले एप्लाइड (व्यावहारिक) मानवशास्त्री को विविध विषयों में से किसी एक में विशेषता हासिल करनी पड़ती है; ये विषय हैं : आदिवासियों का विकास, शहर नियोजन, जनांकिकी, (डेमोग्राफी), परिवार नियोजन, शिक्षा आदि। ये मानवशास्त्री अन्य व्यावहारिक सामाजिक वैज्ञानिकों के साथ नीति-नियोजकों एवं प्रशासकों के सहयोग से काम कर रहे हैं। इन सहयोगियों को पाँच वर्गों में बांटा जा सकता है। व्यावहारिक मानवशास्त्रियों का पहला वर्ग प्रशासन के कर्मचारी के रूप में तथा उसके नियन्त्रण में परामर्शदाता का काम करता है। दूसरा वर्ग उन मानवशास्त्रियों का है जो मूल रूप से प्रशासकों के परामर्शदाता और बाहरी व्यक्ति हैं, उस संगठन विशेष के कर्मचारी नहीं हैं। तीसरा वर्ग वह है जिसमें शोधकर्त्ता और प्रशासन एक साथ मिलकर सह-प्रशासकों के रूप में कार्य करते हैं। चौथा वर्ग वह है जिसमें मानवशास्त्री को, भले अस्थायी सही, वास्तविक रूप में किसी विकास कार्यक्रम का पूरा दायित्व सौंपा जाता है

तथा पाँचवें वर्ग जैसा सहयोग भारत में अब तक स्थान नहीं पा सका है। पाँचवें वर्ग का प्रतिनिधित्व सोल टैक्स (1959) द्वारा प्रतिपादित ऐक्शन एन्थ्रोपोलॉजी (क्रियात्मक मानवशास्त्र) है जो केवल स्वतन्त्र रूप में और ऐसे संस्थानों में ही कार्य रूप में परिणत की जा सकती है जहाँ क्रियात्मक मानवशास्त्री कारवाई और शोध दोनों को सम्मिलित रूप से कर सके। क्रियात्मक मानवशास्त्री (एक्शन एन्थ्रोपोलॉजिस्ट) एक डाक्टर की तरह समाज की बीमारी पहचानने, उसका समुचित उपचार बताने, चिकित्सा को जारी रखने, जरूरत पड़ने पर उपचार में फेरबदल करने तथा अन्ततोगत्वा समाज को स्वस्थ और सुखी बनाने के समस्त दायित्वों को संयोजित करता है। स्पष्ट है कि इस तरह के शोध कार्य में प्रबंधन, मूल्यांकन तथा समय पड़ने पर नीतियों में परिवर्तन करने के काम साथ-साथ चलते हैं। बहरहाल भारत में एक तो सही व्यक्तियों और तदनुकूल प्रसाधनों के सीमित होने के कारण, और दूसरे, विकास के कार्य की विशालता की वजह से क्रियात्मक शोध कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। फिर भी यह एक ऐसा कार्यक्रम है जिसकी क्रियात्मक समाज वैज्ञानिक को आकांक्षा करनी चाहिए।

II

चूँकि व्यावसायिक मानव विज्ञान का उपयोग सर्वप्रथम भारत में जनजातियों की समस्याओं को जानने के लिये हुआ, इसलिए उसके विद्वानों द्वारा आगे चलकर उसके जो नये क्षेत्र व क्षितिज खोजे गये हैं उनकी चर्चा करने से पहले उचित यही है कि उसके इन क्षेत्रों के बारे में विचार कर लिया जाए। व्यावहारिक मानवशास्त्रियों द्वारा आदिवासियों की आर्थिक उन्नति के प्रयासों के सम्बंध में काफी लिखा गया है। उनसे उनकी भूमि छीन लेने और उन पर लदे ऋण की समस्याओं पर विस्तार से काम हुआ है। उनकी छोटी समस्याओं में उनकी शिक्षा की बात आती है; शिक्षा के क्षेत्र में उनकी उन्नति पर भी काफी ध्यान दिया गया है। इस बात के भी अध्ययन किए गये हैं कि आदिवासी बच्चे पढ़ाई शुरू करके बीच में छोड़ क्यों देते हैं। आदिवासियों की भाषाओं पर भी थोड़ा काम किया गया है। फिर भी शैक्षिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में व्यावहारिक मानवशास्त्रियों को अभी बहुत काम करना बाकी है।

स्वास्थ्य एवं सफाई के क्षेत्र में स्थानीय सांस्कृतिक तथ्यों को पहचानने और उन्हें तालिकाबद्ध करने आवश्यकता भी लगातार महसूस की गयी है। व्यावहारिक मानवशास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि अपने तथा अपने परिवार के स्वास्थ्य के लिए किसी भी बात को स्वीकार करने या स्वेच्छा से उस पर अमल करने में जनजातियों पर उनकी अपनी प्रवृत्तियों, विश्वासों और मान्यताओं आदि का निर्णायक प्रभाव पड़ता है। स्वास्थ्य और दवाइयों के मामले में संस्कृति की भूमिका के बारे में अब हमारा ज्ञान पहले से कहीं अधिक है। इस सम्बन्ध में सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रशासकों और आचरण-वैज्ञानिकों में विचार होने लगा है। आज राष्ट्रीय परिवार नियोजन संस्थान, स्वास्थ्य मंत्रालय और उससे सम्बद्ध विभागों में कितने ही मानवशास्त्री काम कर रहे हैं। उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण योगदान भी किए हैं। स्वास्थ्य, सफाई और परिवार-नियोजन के अतिरिक्त व्यावहारिक शारीरिक मानवशास्त्री वंशानुगत बीमारियों, फोरेन्सिक विज्ञान और त्वचीय कारकों आदि की समस्याओं में भी अन्तर्ग्रस्त रहे हैं।

कृषि के आधुनिकीरण तथा उसमें नयी पद्धतियों का चलन शुरू करने के अपने प्रयासों में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, विभिन्न कृषि अनुसंधान विश्वविद्यालय तथा अन्य संगठन व्यावहारिक मानव विज्ञान से लाभान्वित हो रहे हैं। समाजशास्त्रियों के साथ अनेक सामाजिक मानवशास्त्री कृषि-विस्तार के क्षेत्र में काम कर रहे हैं; इन लोगों ने कृषि-कार्य, दुग्ध-उत्पादन, उद्यान कर्म और इनसे सम्बन्धित कार्यों की अनेक समस्याओं को हल करने के लिए किसानों के आचरण और तौर-तरीकों का अध्ययन किया है।

यद्यपि परम्परा के अनुसार मानवशास्त्री छोटे पैमाने के आदिम समुदायों पर काम करते रहे हैं किन्तु अभी हाल में उन्होंने शहरीकरण और औद्योगीकरण की ओर ध्यान दिया है। नगर और ग्रामीण-नियोजन के क्षेत्र में भी व्यावहारिक मानव विज्ञान का उपयोग किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त मानव और उसके पर्यावरण के बीच सम्बन्धों, पड़ोस और पड़ोसियों के परस्पर सम्बन्धों, झगड़ों-तनावों, शहरों की राजनीतिक प्रक्रियाओं आदि अन्य कई विषयों में भी उनका उपयोग किया जा चुका है। शहरी मानव विज्ञान के विद्वानों ने यद्यपि अपना कार्य अपेक्षाकृत थोड़े समय पहले ही शुरू किया है किन्तु इस अल्प समय में ही उन्होंने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है।

श्रम के क्षेत्र में विशेष रूप से असंगठित मजदूरों के मामलों में सामाजिक मानवशास्त्री और समाजशास्त्री एक अरसे से अच्छा काम कर रहे हैं। एल.पी. विद्यार्थी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने मध्य भारत के आदिवासी मजदूरों को प्रभावित करने वाले सांस्कृतिक तत्वों से सम्बंधित कई महत्वपूर्ण अध्ययन किये हैं। व्यावसायिक गतिशीलता पर जाति-प्रथा के प्रभाव, मानव संसाधन का कुशल संचालन, उद्यमियों के उदय में सामाजिक व सांस्कृतिक तत्वों की भूमिका, औद्योगिक मजदूरों की उत्पादन क्षमता आदि बहुत से विषय हैं जिनमें अध्ययन की काफ़ी संभावनाएं हैं।

व्यावसायिक मानवशास्त्रियों द्वारा जनजातियों एवं विद्यार्थियों के बीच फैली अशान्ति के मामलों पर भी काम किया गया है। जनजातियों के नेतृत्व और आंदोलनों के अध्ययन से हमें अनेक नई और भीतरी बातें ज्ञात हुई हैं। विद्यालय परिसर में बढ़ती हुई अशान्ति का अध्ययन सामाजिक नियंत्रण तथा विद्यार्थी एवं समाज के सम्बंधों की दृष्टि से किया गया है। इस प्रकार के एक अध्ययन में इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि आज का भारतीय विद्यार्थी परम्पराओं और आधुनिकता और नास्तिकता, व्यक्तिवादिता और सामूहिकता, आत्म-निर्देशित और बाह्य निर्देशित व्यक्ति के बीच बँटा है; वह कुल मिलाकर 'हाशिये का आदमी' (मार्जिनल मैन) है।

रक्षा-संगठन एक अन्य क्षेत्र है जिसमें व्यावहारिक मानवविज्ञान ने अभी हाल में प्रवेश किया है। सुरक्षा के कारणों से इस क्षेत्र में हालाँकि कोई ठोस कार्य नहीं हो सका है, फिर भी जितना कुछ हुआ है उसने बड़ी आशाएं प्रदान की हैं। सैनिक संगठन के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उलझावों का क्षेत्र निश्चित ही आकर्षक है।

कुछ लोगों को अन्तरिक्ष कार्यक्रमों में व्यावहारिक मानव विज्ञान के योगदान की बात सुनकर आश्चर्य हो सकता है। अहमदाबाद स्थित स्पेस एप्लीकेशन सेन्टर में टी.वी. पर प्रसारित करने के लिए कार्यक्रमों के निर्माण सम्बन्धी एक बड़ी सामाजिक शोध योजना तैयार की गयी है। बी.सी. अग्रवाल और उनके समर्पित साथी मानवशास्त्रियों के समूह ने एक पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है। मानवीय संचार के विषय में 'सैटेलाइट इन्सट्रक्शनल टेलीविजन एक्सपेरीमेन्ट' (एस.आई.टी.ई.) सर्वाधिक परिष्कृत एवं कदाचित

सबसे बड़े प्रयोगों में से एक था जिसमें मानवशास्त्रियों को संचार की प्रक्रिया को समझने के लिए गहरे, गुणात्मक और विवरणात्मक अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था। मानवशास्त्रियों का यह समूह आज भी सैटेलाइट-संचार के विभिन्न कार्यक्रमों में काम कर रहा है। पिछले पृष्ठों में उन विभिन्न क्षेत्रों का अति संक्षिप्त वर्णन किया गया है जिनमें व्यावहारिक मानव विज्ञान ने अपनी भूमिका अदा की है। बहुत से छोटे और कम महत्व के क्षेत्र छोड़ दिये गये हैं। फिर भी पाठक यह अवश्य समझ गये होंगे कि व्यावहारिक मानव विज्ञान का सम्भावित कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है।

III

व्यावहारिक मानव विज्ञान जब से प्रारम्भ हुआ तभी से सरकार या प्रशासन और मानवशास्त्रियों के बीच 'प्यार और नफरत' का रिश्ता चल रहा है। मानवशास्त्रियों के बीच प्राय: बहुत कम पटती रही है; ''कुछ प्रशासकों का कहना है कि वे स्वयं ही अपने विभाग के मानवशास्त्री का काम कर सकते हैं। प्रशासक बेशक अपने विभाग के काम को मानवशास्त्री की तुलना में अधिक अच्छी तरह जानते हैं। वे स्थानीय लोगों और उनकी भाषा को भी जानते हैं, तो भी ये सारे तर्क मानव विज्ञान के प्रारम्भिक दिनों में कितने ही उचित क्यों न रहे हों, किन्तु विशेषज्ञता के वर्तमान युग में इनमें से किसी में कोई दम नहीं है। पिछले वर्षों में आधुनिक मानवशास्त्र और क्षेत्र-कार्य सम्बन्धी उसकी तकनीकों में तेजी से प्रगति हुई है। क्षेत्र-कार्य आज अपने आप में एक पूर्णकालिक कार्य है'' (माथुर, 1980)।

मानवशास्त्रियों और प्रशासकों के बीच काफी गलतफहमियाँ रही हैं। प्रशासक चाहते हैं कि मानवशास्त्री जल्दी से जल्दी और 'सही' भविष्यवाणियाँ करें जबकि भविष्यवाणियाँ करने वाले मानवशास्त्रियों की दुविधा सचमुच ही दयनीय है। वे आम तौर पर ऐसी सिफारिशें करने से डरते हैं जो सत्तारूढ़ सरकार को पसन्द नहीं होती हैं।

सच्चिदानन्द (वही) ने अपने एक जोरदार, ईमानदार, हकीकत पसंद और बेवाक विवेचन में यह टिप्पणी की है कि भारत में व्यावहारिक मानवशास्त्री को किंचित विनम्र भूमिका से ही सन्तुष्ट होना होगा। वह ऊँचे से ऊँचे स्तर के विचार-विनिमयों में उपस्थित रहने का दावा तो कर सकता

है किन्तु उसकी आवाज निर्णायक नहीं हो सकती। अपने विशेष ज्ञान के आधार पर वह प्रशासकों को ऐसी सम्बद्ध सामग्री व आँकड़े दे सकता है जो नीति विशेष के निर्धारण में सहायक हो सकते हैं। उसकी सम्मतियों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्रशासकीय अत्यावश्यकताओं और राजनीतिक तथ्यों पर निर्भर करती है। मानवशास्त्री अन्तिम और संदिग्ध खाका प्रदान नहीं करता बल्कि ऐसा नक्शा प्रस्तुत करता है। जिसमें गूढ़गर्त अथवा अप्रत्याशित आपत्ति एवं व्यतिक्रम चिह्नित होते हैं। लेकिन वह परिवर्तन की गारन्टी का दावा नहीं कर सकता। ऊपर बताए गये अवरोधों के बावजूद व्यावहारिक मानव विज्ञान ने सरकारी नीति पर अपनी छाप छोड़ी है।

किंचित इच्छामूलक दृष्टिकोण अपनाते हुए विद्यार्थी (1978) इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि केन्द्र और राज्य के नौकरशाही तंत्र में सामाजिक मानवशास्त्री की भूमिका भली प्रकार परिभाषित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में व्यावहारिक मानवशास्त्री को, यदि निम्नलिखित कुछ शर्तें पूरी होती हैं, तो प्रसन्नता के साथ विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं स्वीकार करनी चाहिए। पहली यह कि संगठन के ढांचे में उसे समुचित प्रस्थिति प्रदान की जाए; दूसरी यह है कि एक बार जब सबके परामर्श से जाँच या अन्वेषण का विषय तय हो जाए तो अन्वेषण के स्वरूप, उसके प्रसाधनों और प्रविधियों के बारे में निर्णय करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। तीसरी यह कि वह अपने द्वारा की गई जांच या उसके निष्कर्षों को नीति निर्धारण के सर्वोच्च स्तर तक पहुँचाने में सक्षम हो। विद्यार्थी यह बात कहना भूल गये, कि मानवशास्त्री का अन्वेषण और उससे सम्बन्धित सिफारिशें उसके अनगिनत प्रयासों और अथक परिश्रम का फल होती हैं। इसलिए किसी उद्धत और घमण्डी अधिकारी को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह उसके कार्य को बिना कोई उचित विकल्प बताये धूल जमने के लिए कार्यालय में या फिर रद्दी की टोकरी में छोड़ दे। व्यावहारिक मानव विज्ञान ही नहीं कोई भी शैक्षिक अनुसंधान तब तक अपनी मनोवांछित ऊँचाइयों तक नहीं पहुंच सकता जब तक निरंकुश और घमण्डी नौकरशाही को यह नहीं महसूस करा दिया जाता कि वह समस्त ज्ञान की खान नहीं है।

◆◆◆

42

4

भारत में नगरीय मानव विज्ञान

सामाजिक मानव विज्ञान परम्परा से ही छोटे पैमाने के आदिम एवं कृषक समाजों के गहन अध्ययन का विषय रहा है; किन्तु सरल समाजों में उसकी पूर्व-अंतर्ग्रस्तता का यह अर्थ नहीं है कि वह मानव का 'सम्पूर्ण अध्ययन' होने का दावा छोड़ दे। यही कारण है कि समय-समय पर शहरी केन्द्रों ने सामाजिक समस्याओं के स्थल, सभ्यता के केन्द्र बिन्दु या विशेष प्रकार के सामाजिक ढाँचे और सामाजिक सम्बन्धों से युक्त मानव समाजों के क्षेत्र (या खंड) के रूप में मानवशास्त्रियों की रुचि आकृष्ट की है। अनेक मानवशास्त्रियों ने 'जटिल समाजों' के अध्ययन की ओर ध्यान देना शुरू कर दिया है और वे वह सारी सामग्री लिखने लगे हैं जिसे शहरी मानव विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। स्पष्ट है कि वह मानव विज्ञान के इस दावे के अनुरूप है कि यह पूर्ण रूप से मानव के अध्ययन का शास्त्र है।

भारतीय मानवशास्त्रियों ने मानव विज्ञान के 'शिकागो स्कूल' से प्रभावित होकर अपना अध्ययन परम्परागत और आधुनिक शहरों की ओर मोड़ा। इस उद्यम के दो प्रयोजन थे : भारतीय सभ्यता के अंग के रूप में शहरों का अध्ययन और उसके बाद ग्रामीण-शहरी अटूट क्रम है (फोक-अर्बन कांटीनुअम) अर्थात गावों और शहरों के बीच जो अटूट क्रम है उसके संदर्भ में उसका विवेचन।

शहरीकरण, औद्योगीकरण और नगर-नियोजन की प्रक्रिया में योजना बनाने वाली हमारी संस्थाओं ने इस हद तक दिलचस्पी ली कि उन्होंने उसके अध्ययन के लिए अनेक निधियों की व्यवस्था की। राष्ट्रीय योजना आयोग ने इस प्रकार के अनेक अध्ययनों को प्रोत्साहित किया और उन्हें आर्थिक सहायता दी। मिल्टन सिंगर द्वारा मद्रास का अध्ययन, मैरियट द्वारा पुणे के निकट वाई कस्बे का अध्ययन, मार्टिन ओरान द्वारा जमशेदपुर का अध्ययन आदि कुछ ऐसी योजनायें हैं जिन्होंने शहरों की सांस्कृतिक भूमिकाओं

की बढ़ती हुई मान्यता को प्रोत्साहित किया। शहरी केन्द्रों का गम्भीर और यथा-पद्धति अध्ययन शुरू होने के पहले भी कई मानवशास्त्री कभी-कभी शहरी केन्द्रों पर 'धावा' बोला करते थे। लखनऊ के रिक्शा वालों पर हेरोल्ड गोल्ड की कृति तथा कुछ इसी प्रकार की पचास और साठ के क्रमश: अन्तिम और प्रारंभिक दशकों में लिखी गई कृतियां क्षेत्र-कार्यकर्ताओं को मिले विशेष अवसरों की देन हैं, सैद्धान्तिक रूप से अपनाई गयी परियोजनाओं का प्रतिफल नहीं। "इसीलिए वे शहरी अध्ययन के किसी ठोस विकास की सूचक नहीं है" (सब्बरवाल, 1973)। 1960 के दशक के प्रारम्भ में अमेरिकी मानवशास्त्रियों का ध्यान व्यापारिक केन्द्रों और समूहों की ओर आकृष्ट हुआ; रिचर्ड फाक्स ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक व्यापारिक कस्बे में, मैटिसन माइन्स ने चिंगलपेट के निकटस्थ मुसलमान व्यापारियों के तमिलभाषी कस्बे में और लाइपेन हैजिलहर्स्ट ने एक हरियाणवी कस्बे के व्यापारियों और शरणार्थी उद्यमियों पर कार्य किया।

मिल्टन सिंगर द्वारा लिखित 'व्हेन अ ग्रेट ट्रैडिशन माडर्नाइजेज: ऐन एन्थ्रोपोलॉजिकल एप्रोच टु इंडियन सिविलाइजेशन' (1972) एक कीर्तिमान अध्ययन माना जा सकता है। शिकागो के ग्रामीण-शहरी मॉडल (ग्रेट ट्रेडीशन-लिटिल ट्रेडीशन) के आधार पर उन्होंने मद्रास में यह जानने का प्रयास किया कि एक नये महानगर में बृहत् हिन्दू परम्परा किस प्रकार अपने में अनुकूलन की प्रक्रिया को संचालित करती है।

अनेक महत्वपूर्ण शहरी अध्ययनों का उल्लेख करते हुए इन्द्राणी गांगुली (1986) ने यह अभिमत प्रकट किया है कि इन अध्ययनों में शहरी जीवन के समाजशास्त्रीय पक्षों पर बल दिया गया है। प्रारम्भिक चरणों में डी० एन० मजूमदार ने उत्तर प्रदेश के एक औद्योगिक महानगर कानपुर का अध्ययन (1960) औद्योगिक महानगर में शहरी जीवन की जटिल स्थितियों का मूल्यांकन करने के लिए किया था। "सामाजिक मानवशास्त्री के रूप में अपने प्रशिक्षण की रोशनी में मजूमदार भारत के विभिन्न भागों में किये गये सामान्य सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण से अलग हटने का वचन देते हैं। साथ ही वह कारखाने के जीवन में उसकी सभी संयुक्त स्थितियों के साथ, गहरी जांच शुरू करने का आश्वासन भी देते हैं क्योंकि सामाजिक पृष्ठभूमि और उसके पूर्व की स्थितियां श्रम की व्यवस्था को स्वरूप देती हैं और औद्योगीकरण

की सफलता-असफलता इस तरह के समाजशास्त्रीय विषय-वस्तु की मान्यता पर निर्भर करती है।" मजूमदार की इस कृति में शहर की नागरिक सुविधाओं, स्थानान्तरगमन और कानपुर की आबादी का विभिन्न व्यावसायिक श्रेणियों में विभाजन एवं एक हिस्से की प्रवसन शक्ति आदि पर विस्तृत विचार किया गया है। इस अध्ययन की एक जाहिर कमी यह है कि शहरीकरण की सांस्कृतिक विषय-वस्तु पर इसमें विस्तृत रूप से विचार नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, शहर के विभिन्न स्तरों की तथा जीवन शैली में जिन तत्सम्बन्धी अन्तरों की विद्यमानता का अनुमान लगाया जाता है उन्हें पहचानने का बहुत कम प्रयास किया गया है।

विद्यार्थी की पुस्तक 'द कल्चरल कॉनफिगुरेशन ऑव रांची' को शहरी सच्चाइयों के साथ भारतीय मानवशास्त्रियों द्वारा समझौता करने के प्रयासों का नमूना माना जा सकता है। यह शहर के रूप में रांची की उत्पत्ति, उसके संगठनात्मक तत्व, क्रियाकलाप और प्रभाव का अनुभव सिद्ध अध्ययन है। इसमें दो संस्कृतियों के परस्पर प्रभावों की जांच भी की गयी है। ये दोनों संस्कृतियां काफी हद तक एक दूसरे से भिन्न हैं: जन-संस्कृति और शहरी संस्कृति अथवा आदिवासियों एवं शहर के शिक्षित सभ्य लोगों की संस्कृति। चूंकि रांची के आसपास एक बड़ा जनजातीय क्षेत्र है, इसलिए उक्त पुस्तक में शहर में रहने वाले आदिवासियों के सामाजिक जीवन सम्बन्धी पैटर्न के बारे में भी एक हिस्सा जोड़ा गया है।

ओवेन लिन्च की कृति 'द पॉलिटिक्स ऑव अन्टचेबिलिटी' (1969) को इस विषय के अध्ययन के क्षेत्र में कीर्तिमान माना जा सकता है। इस पुस्तक में परम्परागत शहर आगरा में चमड़े का काम करने वाली अछूत जाति के जाटवों का अध्ययन किया गया है। लिन्च ने बताया है कि जाटवों का एक सुसंगठित 'मोहल्ला' है जो अनेक मामलों में इस क्षेत्र के गांव-समुदाय जैसा है। मोहल्ला पंचायत सामाजिक नियंत्रण, सहयोग और सद्भावना की इकाई के रूप में काम करती है। वे मुख्य बस्ती से अलग-थलग इसलिए रहते हैं क्योंकि अछूत जाति के हैं। व्यापारिक पृथक्करण इसलिए था क्योंकि जूता उद्योग पर जाटवों का एकाधिकार था। विशिष्ट बात यह है कि जाटव जाति में जजमानी प्रथा प्रचलित नहीं है। इसलिए वे किसी भी तरह से ऊँची जातियों से बँधे नहीं हैं और इसलिए उनसे अलग रहने में उन्हें कोई

कठिनाई नहीं होती। संसदीय लोकतान्त्रिक प्रणाली तथा अन्य कई कारणों से 'पंचायत' का असर कम होता जा रहा है।

शहर के जटिल समाज को पूरी तरह समझने की जिज्ञासा के फलस्वरूप बोस ने कलकत्ता (1968), विद्यार्थी ने गया (1961), गुहा और राय चौधरी ने कलकत्ता (1964) और राय चौधरी ने भवानीपुर (1964) का अध्ययन किया और उसे प्रकाशित किया। शहरी जटिलता से निपटने के लिए प्रारम्भ से ही क्षेत्र अन्वेषणकर्ताओं ने युद्धस्तरीय नीति अपनाने का निर्णय किया। जिन समस्याओं को पृथक किया जा सकता है उनका पता लगाकर जटिलता को सरल कर लिया जाए। जिससे व्यक्ति अपरिचित क्षेत्र में भी उन सूक्ष्म प्रविधियों का इस्तेमाल करना जारी रख सके जो पहले इस्तेमाल की जा चुकी है अथवा जिनका परीक्षण किया जा चुका है। यह कोई बुरा विचार नहीं है क्योंकि आगे चलकर यह अनुभव बड़े पैमाने पर शहरी जटिलताओं से टक्कर लेने में काफी मूल्यवान सिद्ध हो सकता है।

व्यावसायिक समूहों एवं संरचनाओं का अध्ययन मामलों और वस्तुस्थितियों पर आधारित है। अम्बाला की कचहरियों में वकीलों एवं उनके मुंशियों का मोरिसन द्वारा अध्ययन, मध्यम आकार की बस्ती के डाक्टरों पर मदन का अध्ययन, सिन्हा का शोध वैज्ञानिकों पर, सिंह का विश्वविद्यालय के शिक्षा संसार पर, रोजेन्थाल का सभासदों तथा दो शहरों में उनके कार्यकलाप पर आदि ऐसे बहुत से अध्ययन हैं जिन्हें इस प्रकार की सोच के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

औद्योगीकरण की तीव्र गति तथा उससे पैदा होने वाली औद्योगिक संस्कृति ने भारत के शहरी मानव विज्ञान के विकास को एक नया आयाम दिया। पिछले दो दशकों में कुछ मानवशास्त्रियों ने औद्योगीकरण के विभिन्न पक्षों के अध्ययन की ओर ध्यान दिया। इस मामले में सेठ का 'सोशल फ्रेमवर्क ऑव इंडियन इन्डस्ट्री' (1968) विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उन्होंने एक कारखाने में काम करने वाले लोगों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण को ध्यान में रखते हुए पारस्परिक सम्बन्धों के ढांचे का विवेचन-विश्लेषण किया है। कुछ दूसरे विद्वानों ने अन्य विषयों पर काम किया है, जैसे आधुनिकीकरण के सामाजिक प्रभाव, मजदूर-प्रबन्धक सम्बन्ध, मजदूर यूनियनवाद आदि। ऐसे अध्ययन निश्चय ही अनेक नये विषयों पर प्रकाश डालेंगे।

शहरी मानव विज्ञान की अनेक नई सम्भावनायें परिलक्षित हो रही हैं फिर भी अनेक प्रश्न सामने हैं, जैसे-(1) क्या समग्र रूप से मानव विज्ञान का अब भी वही पुराना और परम्परागत लक्ष्य जनजातियों एवं मौजूदा समाजों का अध्ययन ही है? (2) क्या हम आज भी 'होलिस्टिक' दृष्टिकोण में दिलचस्पी रखते हैं? (3) इसे बड़े पैमाने के समाजों पर लागू कैसे किया जा सकता है? (4) जटिल समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्री की समुदाय सम्बन्धी कल्पना का औचित्य क्या है? (5) शहरी परिस्थितियों में उस कल्पना का कैसे उपयोग किया जा सकता है? (6) शहरी परिवेश में क्या पद्धति व प्रणालियों की मौजूदा प्रविधियों का इस्तेमाल किया जा सकता है? इत्यादि ऐसे बहुत से सवाल हैं जो अस्पष्ट भी हैं और जिनके बारे में कई और कुछ सीमा तक परस्पर विरोधी धारणायें भी हो सकती हैं। इन सबके बावजूद ईमानदारी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि मानवशास्त्री सभी स्थानों पर शहरी जीवन का अध्ययन करने के नये रास्ते खोज रहे हैं और शहरी केन्द्रों के अध्ययन के लिए नित नये दृष्टिकोणों का विकास कर रहे हैं। यदि वे अपने प्रयास में सफल नहीं होते हैं तो जैसा कि फरेरा (1978) ने कहा है, शहरी मानव विज्ञान के शास्त्री लोग "जनजातीय और कृषक संस्कृति सम्बन्धी अपने विशेष ज्ञान की ओर मुड़ सकते हैं जो उस समय निःसन्देह उपयोगी सिद्ध होगा जब ये आदिवासी और किसान समुदाय शहरीकरण की प्रक्रिया की लपेट में आ चुके होंगे। ऐसी परिस्थिति में मानवशास्त्रियों का योगदान अन्य क्षेत्रों में किये गये कार्यों की भांति ही अपने ढंग का अनोखा और विशिष्ट माना जायेगा।"

◆◆◆

5

भारतीय मानव विज्ञान की समस्यायें और उसके चरम बिन्दु

जब हम मानव विज्ञान के चरम बिन्दुओं, मामलों, संकटों एवं उसकी चिन्ताओं पर विचार करते हैं तब हमारे लिए अन्य सामाजिक विज्ञानों की ओर से नजर फेर लेना या इन्हें उनसे अलग करके इन पर विचार करना उचित नहीं है। यह बात उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की परस्पर निर्भरता के आधार पर सहयोग या 'परस्पर निकट' आने की बात करते हैं।

हम उस स्थिति में पहुंच गये हैं जहां सामाजिक मानव विज्ञान में या किसी भी सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में विशेष रूप से तीसरी दुनिया के देशों में 'शैक्षिक-विलासिता' के रूप में काम नहीं किया जा सकता। सामाजिक विज्ञानों को मानवीय दृष्टि से सार्थक और सामाजिक रूप से उपयोगी होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक विज्ञानों को अपने समसामयिक समाज के संकटों एवं समस्याओं के समाधान में सहायक होना चाहिए। समाज विज्ञानों में 'वचनबद्धता' को बुरा नहीं माना जाता। समाज विज्ञानी और नागरिक को अलग-अलग खानों में नहीं रखा जा सकता: वैयक्तिक मान्यताओं वाले नागरिक के लिए अविलम्ब अपने आप को बदल लेना अथवा अपने को मान्यताओं के प्रति समर्पित करके तटस्थ सामाजिक-विज्ञानी की भांति काम करने लगना सम्भव नहीं है। मान्यताओं से तटस्थ प्रतीत होने वाली स्थितियां अक्सर भयानक रूप से मान्यता-गर्भित होती हैं-इस तथ्य को हम जितनी ही जल्दी महसूस कर लेंगे सार्थक समाज-विज्ञान के विकास के लिये उतना ही शुभ होगा (दूबे, 1973)।

पिछले दशकों में आर्थिक विकास की चिन्ता ने अनेक देशों को सामाजिक विज्ञानों और उनके विद्वानों-विशेषज्ञों के राष्ट्र निर्माण एवं सामाजिक

और आर्थिक विकास सम्बन्धी योगदानों के प्रति काफी संवेदनशील बना दिया है। सामाजिक विज्ञान, अपनी वर्तमान स्थिति में किसी भी देश के राष्ट्रीय विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। "आवश्यकता और उसकी पूर्ति दोनों के लिये विशेषज्ञता मौजूद है किन्तु उन्हें मात्रा और गुणधर्म दोनों की दृष्टि से और भी विकसित करने की जरूरत है तभी हम सामाजिक विज्ञानों के योगदान में वृद्धि कर सकते हैं। नियोजन और विकास में बढ़ती हुई अन्तर्ग्रस्तता ने उन ठोस सूचनाओं की मांग पैदा कर दी है जिसे सामाजिक विज्ञान के अन्वेषणों द्वारा प्रस्तुत करने की उम्मीद की जाती है। शोध कार्यों पर पड़ने वाले प्रभावों का जन्म होता है: सरकार के वित्तीय योगदानों से, उनके द्वारा प्रोत्साहित शोध के प्रकार और विषयों से तथा राजनीतिक संदर्भ सम्बन्धी उसके अन्तिम निर्णय से जिससे कभी-कभी इस बौद्धिक जांच की शर्तों और स्थितियों का निश्चयन भी होता है" (इकबाल नारायण और योगेश अटल, 1987)।

सामाजिक विज्ञानियों का बुनियादी काम उस विश्वसनीय और वैध ज्ञान का विकास और प्रसार करना है जो सामाजिक स्वरूप को समझने में सहायक हो। नीति निर्णायक या नियोजक के लिए यह अनिवार्य है कि उसे दृश्य एवं अदृश्य सामाजिक स्थितियों का पूरा ज्ञान हो, तभी वह उचित और आवश्यक सामाजिक नियोजन कर सकता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि नीतियों का निर्माण आवश्यक रूप से शोध कार्य के निष्कर्षों के अनुरूप ही हो। मतलब यह है कि प्रशासकीय तरीकों से जानकारी एकत्र करने में सरकारी तंत्र कितना ही कुशल और मजबूत क्यों न हो, नीति का निर्धारण करने वाले को समीक्षात्मक अन्तर्दृष्टि से युक्त सामाजिक विज्ञान की सामग्री का लाभ उठाने का अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए। सरकार का एक प्रासंगिक एवं दुखद रवैया है कि एक तरफ तो नियोजन की उपयोगिता के लिये उनके शोध और निष्कर्षों को मांगा जाता है, किन्तु दूसरी तरफ सम्मतियों और सुझावों के प्रति सरकार की सहनशीलता आवश्यकता से अधिक सीमित है। प्रशासक शैक्षिक विद्वानों को ऐसा एकान्तिक बुद्धिवादी समझता है जिसकी शोध सम्बन्धी दिलचस्पी उपयोगिता से परे होती है। बदले में शिक्षा-शास्त्री प्रशासक का ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जो शोधकर्ताओं की समस्याओं और उनके सुझावों के प्रति तटस्थ और संवेदनारहित होता है;

अक्सर गोपनीयता की आड़ में समाजशास्त्रियों को दफ्तर की फाइलें और आंकड़े आदि भी नहीं दिखाए जाते। सरकारी नौकरशाही का विश्वास है कि समाज विज्ञान के अन्वेषक प्रचलित असली मुद्दों को छोड़कर 'अनावश्यक' समस्याओं की जांच करते हैं (और शायद यही कारण है कि वे समाजशास्त्रियों की जांचों का बहुत कम इस्तेमाल करते हैं)। सामाजिक विज्ञान के अनुसंधानियों का कहना है कि सरकार दफ्तरी कारगुजारी को आवश्यकता से अधिक महत्व देती है और बदलती हुई आवश्यकताओं के वातावरण में शोध से प्राप्त जानकारी के इस्तेमाल के लिए जरूरी बौद्धिक कार्यों से कतराती है। दोनों एक दूसरे को बहुत हद तक संदेह और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रचलित मतभेद के बावजूद भारत सहित बहुत से देश सामाजिक विज्ञानों के महत्व के पक्ष में झुकते नजर आ रहे हैं। अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त विशेषज्ञों की एक बड़ी संख्या को प्रशिक्षण-कार्यक्रमों, सलाहकार परिषदों, यहां तक कि नीति-निर्माण और उसके कार्यान्वयन के निरीक्षण-पैनलों में शामिल किया जा रहा है। फिर भी, सरकारी तंत्र में काम करने वाले सामाजिक वैज्ञानिकों की छवि बड़ी दयनीय है। चूंकि वे मौन रहते हैं और अक्सर ऐसे मौकों पर भी नहीं बोलते जब ऐसे निर्णय लिये जाते हैं जो सामाजिक विज्ञान के उन सिद्धांतों, मूल भावनाओं और उसकी आत्मा के विरुद्ध होते हैं, जिनके प्रति समाज-विज्ञानों को समर्पित माना जाता है। इसलिए उन्हें "सरकार के काम को औचित्य प्रदान करने वाला अथवा सामाजिक यांत्रिकी का एजेन्ट" ही कहा जा सकता है।

II

हथियारों की होड़ और परमाणु युद्ध की आशंकाओं के कारण पृथ्वी के सामने अपने अस्तित्व का भयंकर खतरा है। मानवता भी अनेक प्रकार के संकटों जैसे अकाल, पर्यावरण का विनाश, हिंसा, जनसंख्या-विस्फोट, गरीबी, अपराध एवं दुराचार आदि से घिरी हुई है। मानवशास्त्री अपने आप को इन प्रचण्ड समस्याओं से अलग नहीं कर सकते। इसीलिए 'द इन्टरनेशनल यूनियन ऑफ एन्थ्रोपोलॉजिकल एन्ड इथनोलॉजिकल साइन्सेज' (आइ॰यू॰ए॰ई॰एस॰) ने अनेक आयोगों की स्थापना की है। ये आयोग शहरी मानव विज्ञान पर, अति आवश्यक मानव सम्बन्धी समस्याओं पर, महिलाओं पर, खाद्य एवं

खाद्य सम्बन्धी समस्याओं पर तथा विकास की चुनौतियों आदि पर विशेष रूप से गठित किए गये हैं।

यहीं पर आई॰यू॰ए॰ई॰एस॰ की कुछ व्यावहारिक चिन्ताओं का उल्लेख भी उचित है। ये व्यावहारिक चिन्तायें भारतीय मानव विज्ञान को भी प्रभावित करती हैं:

1. व्यावसायिक पहचान

मानव विज्ञान को सामान्य जनता से परिचित कराने में मानवशास्त्रियों द्वारा विश्व के कई देशों में अच्छे, प्रभावकारी और शानदार लाभों की प्राप्ति के बावजूद यह व्यवसाय आज भी पहचान के संकट से जूझ रहा है। आम जनता को, जिसमें पढ़े-लिखे लोग भी शामिल हैं, आज भी मानव विज्ञान के कार्य क्षेत्र, महत्व और मानवीय समस्याओं को हल करने में उसकी उपयोगिता के बारे में बहुत सीमित और भ्रामक जानकारी है। उसकी घिसी-पिटी जानकारी आज भी उन पुराने पुरातत्व-शास्त्रियों एवं नृजाति-वैज्ञानिकों (इथनोग्राफर) तक सीमित है जो आदिवासियों के बीच 'आशाहीन' जीवन जीते हैं और जिन्हें मानव अधिकार, शिक्षा, जनसंख्या विस्फोट, पृथ्वी के जंगल विहीन होने और बहुप्रसवी आबादी की अन्य चीत्कार करती हुई आवश्यकताओं की कोई परवाह नहीं है। इसलिए सरकारी निर्णयकर्ताओं के साथ-साथ सामान्य जनता के सामने अपने विषय की प्रकृति एवं उसकी भूमिका की सच्ची और साफ तस्वीर पेश करने के मामले में मानवशास्त्रियों को अभी बहुत कुछ करना है।

2. सम्बद्ध अथवा प्रासंगिक मानव विज्ञान (रिलेवेंट एन्थ्रोपोलॉजी)

दूसरी दु:साध्य चिन्ता मानव विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान कार्य, सिद्धान्त और पद्धतियों के बारे में है, विशेष रूप से तीसरी दुनिया के वर्तमान परिदृश्य के प्रसंग में। सवाल यह है: सम्बद्ध या प्रासंगिक मानव विज्ञान क्या है? यह सवाल अपने आप में विवादास्पद है। इसमें प्रासंगिकता या सम्बद्धता जैसे शब्दों का सम्बन्ध क्या अनुसंधान के विषय में मानवीय ज्ञान की वृद्धि से है अथवा यह केवल व्यक्तियों की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रगति तक ही सीमित है? क्या प्रासंगिक समझे जाने के लिये हमें सामाजिक यांत्रिकी में प्रत्यक्षत: अन्तर्ग्रस्त होना पड़ेगा? ये सभी प्रश्न मानव विज्ञान तथा

अन्य सामाजिक विज्ञानों में व्यावहारिक बनाम आधारभूत शोध कार्य सम्बन्धी वाद-विवाद की ओर ले जाते हैं।

3. परिभाषा और गुणात्मकता

मानव विज्ञान में परिणाम और गुणतत्व सम्बन्धी चिन्ता बहुत ही सामयिक है। मानव विज्ञान में आवश्यकता से अधिक लोग एम॰ए॰ और पी॰एच॰डी॰ कर रहे हैं; फलस्वरूप, हमें बेरोजगार और स्वल्प रोजगार प्राप्त डिग्रीधारियों की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति देखनी पड़ रही है। हमें अपने सुयोग्य मानवशास्त्रियों को काम देने के लिये नई जगहें और पद पैदा करने हैं। परिमाण से गुणात्मकता भी सम्बद्ध है। क्या हमारे डिग्रीधारी पूर्णतः कुशल हैं? क्या उनमें सच्चे अर्थों में वह दृष्टिकोण पाया जाता है जो एक गम्भीर विद्वान में होता है? क्या हमारे विद्यार्थी ऐसे हैं जो अपने दायित्व एवं व्यवसाय के प्रति जागरूक हैं? इन सभी प्रश्नों पर गम्भीर विचार करना आवश्यक है।

4. विद्यालयी साझेदारी

एशिया में तीसरी दुनिया के अन्य हिस्सों की तरह, हम सामाजिक सम्बन्धों में, विशेषरूप से परिवार और समुदाय के स्तर पर सामंजस्य पर, बल देते हैं। आदर्श रूप में मानव विज्ञान के विभाग भी विद्यालयी एकता व शिष्टता की दुहाई देते हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि व्यवहार इस आदर्श से मेल नहीं खाता। मानव विज्ञान के ऐसे विभाग भी हैं जो गुटबन्दी और अंतहीन टुटपुंजिया झगड़ों की उर्वर भूमि बने हुए हैं।

5. सूक्ष्म (माइक्रो) और विस्तृत (मैक्रो) मानव विज्ञान

सामाजिक-सांस्कृतिक मानव विज्ञान का परम्परागत एकक हमेशा अध्ययन की एक सूक्ष्म यूनिट रही है जिसका प्रतिनिधित्व हमेशा से कोई समूह, कबीला अथवा गांव करता आया है। 'माइक्रो यूनिट' अर्थात सूक्ष्म अध्ययन के छोटे एकक के बारे में यह समझा जाता है कि वह शहरों या देश के राज्यों की तुलना में अन्वेषण का एक ऐसा विषय है जिसका प्रबंध आसानी से किया जा सकता है। लेकिन अब रुख बदल रहा है और छोटे एककों से हटकर शहर और देश के राज्यों की ओर जा रहा है। टेक्नोलॉजी और संचार के नये साधनों (सड़कें, रेडियो, टेलीविजन, यांत्रिक वाहन आदि) के प्रभाव का अल्पानुमान करना उचित नहीं है।

6. दलितों का मानव विज्ञान बनाम श्रेष्ठियों का मानव विज्ञान

वर्षों से, मानवशास्त्री आदिवासी समाजों, किसानों, सड़क के लोगों और फुटपाथ पर रहने वालों आदि का अध्ययन करते आये हैं। श्रेष्ठ या परिष्कृत जन समुदाय पर कोई महत्वपूर्ण अध्ययन नहीं हुआ जबकि समाज के इस अंग के पास सत्ता, सम्मान, भूमि तथा सम्पत्ति के दूसरे सभी प्रतिरूप होते हैं। श्रेष्ठियों का अध्ययन, अधिकांशतः समाजशास्त्रियों और राजनीतिक विज्ञान के विद्वानों का अनन्य क्षेत्र रहा है। यदि मानव विज्ञान सच्चे अर्थों में छोटे-बड़े, आधे-अधूरे सभी अंगों-प्रत्यंगों के अध्ययन का विषय है तो उसे अपने शोध कार्यों में समाज के सभी अंगों को अर्थात् श्रेष्ठियों को भी शामिल करना होगा। इसके अभाव में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दबावों और शोषण सम्बन्धी हमारी जानकारी अपूर्ण रहेगी।

7. अतीत-वर्तमान का मानव विज्ञान बनाम भविष्य का मानव विज्ञान

विश्व स्तरीय मानव विज्ञान के सबसे सनसनीखेज पक्षों में से एक भविष्य के अध्ययन की चिन्ता है। आई॰यू॰ए॰ई॰एस॰ ने भविष्य सम्बन्धी ज्ञान (फ्यूचरोलॉजी) पर काम करने के लिए एक आयोग की स्थापना की है, बी॰के॰ राय उसके अध्यक्ष हैं।

III

भारत के लिए प्रासंगिक मानव विज्ञान को भारतीय समाज के सामने विद्यमान बड़ी-बड़ी चुनौतियों, राष्ट्र-निर्माण की आवश्यकताओं और तीव्र आर्थिक विकास की चिन्ताओं से जुड़ना होगा।

'अत्यावश्यक मानव विज्ञान' (अर्जेन्ट एन्थ्रोपोलॉजी) एक और मुहावरा है जो हमारे ध्यान को समाज में व्याप्त त्वरित समस्याओं की ओर आकृष्ट करता है। भारत के 'अत्यावश्यक मानव विज्ञान' की किसी भी योजना में मानवशास्त्रियों को जिन अत्यधिक आवश्यक समस्याओं से जूझना पड़ेगा, वे हैं-गरीबी, शोषण, हिंसा, जातीयता, साम्प्रदायिकता (और अब आतंकवाद भी), दमन, अज्ञान और निराश-हताश होने आदि की समस्याएं। इस दिशा में प्रयत्नों की कमी पर खेद प्रकट करते हुए बैरीमैन कहते हैं कि "हमारे अध्यापन की भांति हमारे अन्वेषण कार्य को, आज के भारत में जैसा कुछ महसूस किया जाता है, उसके सन्दर्भ में प्रासंगिक होना चाहिए। किन्तु जब

मैं इन विषयों की व्यावसायिक पत्रिकाओं को देखता हूं या साथियों से बात करता हूं तो मुझे पता चलता है कि ऐसे शोध बहुत कम हो रहे हैं। मानवीय दृष्टि से उच्च प्राथमिकता अत्यावश्यक शोध कार्यों को दी जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो हम अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों के दायरे को छोटा करेंगे और हमारी जनता के साथ-साथ हमारे विज्ञान को भी उसके परिणाम भुगतने होंगे।"

सभी सामाजिक विज्ञानों की तुलना में सूक्ष्म विषय-वस्तु के अध्ययन पर मानवशास्त्रियों की पकड़ सबसे मजबूत है। यह गहन विशेषज्ञता लगभग सौ वर्षों की अवधि में उपलब्ध की गयी है। दुर्भाग्य की बात है कि इसके द्वारा अर्जित ज्ञान व जानकारी का भारत के लिए नीति-निर्माण करने वालों योजना बनाने वालों अथवा विकास सम्बन्धी अधिकारियों द्वारा उपयोग नहीं किया गया। मानवशास्त्रियों ने सदा इस बात की वकालत की है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में तथा आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के बीच पारस्परिक सम्बन्धों में मानवीय तत्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। बड़े आर्थिक निर्णयों पर अक्सर कार्य पद्धति सम्बन्धी विचार असर जमाते प्रतीत होते हैं। मानव विज्ञान हमें बताता है कि आर्थिक नियोजन के साथ-साथ विचारपूर्वक किया गया सामाजिक नियोजन, विशेष रूप से भारत जैसे देश के लिए, आवश्यक है। एक बहुत ही स्पष्ट और बेबाक प्रवचन में मानव विज्ञान का विचार दर्शन बताते हुए तथा विकास की चुनौती के सामने भारतीय मानव विज्ञान की भूमिका का किंचित् न्यूनानुमान करते हुए एस॰ सी॰ दूबे (1978) ने कहा है कि "गरीबी, शोषण और जनसंख्या की वृद्धि जैसे मामलों पर इसके काम करने का ढंग बहुत ढीला है। क्रियात्मक नीति में मानव विज्ञान छुटपुट सुधारों और छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ यथास्थिति बनाये रखने का पक्षधर है। आमूल परिवर्तनों की बात बहुत ही कम लोग सोचते हैं।'' वह चाहते हैं कि मानव विज्ञान के लक्ष्यों को नये सिरे से परिभाषित किया जाए। भारतीय मानवशास्त्री और तीसरी दुनिया के उनके सभी साथियों को पश्चिमी दृष्टिकोण से देखना बन्द करना चाहिए। इस देश में साधनों की कमी है। इसलिए उनका उपयोग ऐसे कार्यों में किया जाना चाहिए जो स्पष्टतः जनता के लिए लाभदायक हो। जो धन लगाते हैं जैसे कि सरकार, वे यह भी उम्मीद करते हैं कि उनके द्वारा जो धन

मानवशास्त्रियों पर खर्च किया गया है उसका वे औचित्य भी सिद्ध करें।

मानवशास्त्रियों को याद रखना चाहिए कि उन्हें अपने देशवासियों के प्रति अपने दायित्वों के मामले में लापरवाही नहीं बरतनी चाहिए। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन मानवशास्त्रियों को एक ऐसा सुअवसर प्रदान करता है जिसमें वह विद्यार्थियों के साथ-साथ परिवर्तन के निदेशक के रूप में भी काम करते हैं।

मानव विज्ञान की तुलना में कदाचित कोई भी अन्य सामाजिक विज्ञान इतना अच्छी तरह नहीं जानता कि जीवंत समाज किस प्रकार आपस में सामंजस्य और संतुलन बनाये रखते हैं और किस प्रकार बदलते परिवेश में अपने को ढाल लेते हैं। मानव विज्ञान को समय की इस चुनौती को स्वीकार करना होगा। उसे उन सभी सम्भावनाओं की पूर्ति करनी है जिनकी उससे अपेक्षा की जाती है।

◆◆◆

6

इहलौकीकरण : कुछ मानव विज्ञान सम्बंधी निहितार्थ

प्रचलित रूप में धर्म और धर्मनिरपेक्षतावाद अथवा धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष एक दूसरे के पूरक शब्द हैं। इसलिए धर्मनिरपेक्ष पर कोई टिप्पणी करने से पहले यह उचित है कि धर्म पर थोड़ा विचार कर लिया जाए। सम्पूर्ण जीव-संसार में केवल मनुष्य ही वह प्राणी है जो ईश्वरोपासना करता है। मनुष्य के सांस्कृतिक संसार में एक रहस्यपूर्ण अज्ञात की धारणा शामिल है। मनुष्य ने आश्चर्यजनक रूप से अनगिनत विश्वास, आचार-व्यवहार, अनुष्ठान आदि पाल रखे हैं। विश्वास धर्म का बोधात्मक अंग है और आचरण एवं अनुष्ठान आदि उसकी अभिव्यक्ति के उपकरण हैं। उनके माध्यम से आदमी को ज्ञानात्मक प्रेरणायें तो प्राप्त होती ही हैं, साथ ही साथ उसे अपने कार्यों की सार्थकता का बोध भी होता है।

सैद्धान्तिक स्तर पर, जैसा कि एमील दुर्खीम का कथन है, जो कुछ दुनिया में है-विश्वास, मिथ सिद्धान्त, रूढ़ि, कार्य-कलाप, व्यक्ति और जीव-सभी या तो पवित्र हैं या फिर (सेक्युलर) धर्मनिरपेक्ष। धर्म से सम्बन्धित हर चीज, पवित्रता की परिधि में है और इस नाते सभी परम्परागत समाज बुनियादी रूप से 'पवित्र समाज' है क्योंकि उनका संचालन अंशतः अथवा अधिकांशतः धर्म के नियमों द्वारा नियंत्रित होता है। धर्म ही ऐसे समाज के सदस्यों के कार्यकलाप को नियन्त्रित करता है।

धर्म निरपेक्षता के गुणधर्म में निम्नलिखित बातें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं:

(1) चर्च (धर्म संस्था) और राज्य के बीच सत्ताधिकार का बंटवारा;

(2) परलोक के बजाय 'इहलोक' पर बल; और

(3) हेतुवादिता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण।

धर्म निरपेक्षता का तात्पर्य है कि राज्य का शासन धर्म (मजहब) नहीं करेगा अर्थात् बिशप, पंडित, मुल्ला या खलीफा जैसे धर्माधिकारी

शासन नहीं करेंगे। सामाजिक निष्क्रियता प्रदान करने वाली विचारधाराओं, जैसे भाग्यवादिता और ईश्वर के नाम पर प्रतिशोधात्मक कार्रवाइयां आदि का धर्मनिरपेक्षता में कोई स्थान नहीं है। धर्मनिरपेक्ष मस्तिष्क हेतुवादी दृष्टि से वस्तुओं और घटनाओं को आंकता है। आधुनिक और धर्म निरपेक्ष समाज वस्तुतः धर्म विरोधी नहीं है किन्तु उसे अन्धविश्वासों और असहिष्णुता के साथ-साथ कट्टरता और सुधार-विरोधी तत्वों से मोर्चा लेना होगा। "वैयक्तिक विश्वास के ऐसे क्षेत्र जो समाज की व्यापक आवश्यकताओं की पूर्ति में आड़े नहीं आते, समाज द्वारा संरक्षित किये जा सकते हैं। किन्तु ऐसे विश्वासों और कर्मकाण्डों के लिए जो विभिन्न धार्मिक समूहों में मनमुटाव और असामन्जस्य पैदा करते हैं, सख्त और संकल्पित कार्यवाही आवश्यक है।" (एस० सी० दूबे, 1974)।

समाज धर्मनिरपेक्ष के रूप में पैदा नहीं होते। वस्तुतः जो समाज थोड़े बहुत अंशों में धर्मनिरपेक्षता का अनुगमन करते हैं, उन्हें भी परम्परागत स्थिति से धर्म निरपेक्षता में बदलने के लिए एक परिवर्तन के दौर से गुजरना पड़ा है। इस बदलाव में धर्मनिरपेक्ष होने की प्रक्रिया ने भी अपनी भूमिका अदा है। मोटे तौर पर धर्मनिरपेक्ष होने की प्रक्रिया निम्नलिखित तीन तत्वों के माध्यम से काम करती है:

1. शिक्षा
2. विधि निर्माण
3. सामाजिक सुधार

जब वैज्ञानिक एवं हेतुवादी तरीकों से शिक्षा दी जाती है तब वह व्यक्ति के सोचने की प्रक्रिया में हेतुवाद बढ़ाती है। यदि हम भारत का उदाहरण नहीं दें तो परम्परागत भारत में धार्मिक संस्थाओं द्वारा पाठशाला, मदरसा, मठ, मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघर आदि से सम्बद्ध शिक्षा-स्थलों में शिक्षा का दायरा व्यापक हुआ और धर्मनिरपेक्ष विद्यालय खोले गये जिससे व्यापक परिवर्तन आया। इसका अधिकांश श्रेय शिक्षा की सामग्री तथा उसके माध्यम से होने वाले परिवर्तनों को है। इसीलिए सामाजिक रूपान्तरण में औपचारिक शिक्षा की भूमिका के महत्व को कम नहीं आंका जा सकता। धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया में वैधानिक कार्रवाई से, यदि वह सामाजिक परिवेश एवं प्रेरणा देने वाले अन्य अनेक तत्वों को समर्पित नहीं है, वांछित परिणामों की उपलब्धि संभव नहीं है। ऐसी स्थितियों के उदाहरण के रूप में अनेक

विकासशील देशों को प्रस्तुत किया जा सकता है, भारत को ही ले लें।

हमारा देश विधान के जरिए धर्मनिरपेक्ष हुआ है। उसके पीछे प्रेरणा प्रदान करने वाली ऐसी व्यवस्थायें नहीं थीं जिसमें सच्चे रूप में सच्ची धर्मनिरपेक्षता का विकास हो पाता। हमारे देश में धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता के पीछे काफी संकीर्णता, अज्ञान, विभ्रम और अवैज्ञानिक भावनायें हैं जो हमारे देश के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को विशृंखलित करने के लिए उद्यत रहती हैं। जातीयता, आदिवासीपन (ट्राइब्लइज्म), भाषा और धार्मिक साम्प्रदायिकता हमारे दैनिक जीवन के दुखद तथ्य हैं। तथाकथित धर्माचार्य, दैवी प्रतिनिधि और कट्टरवादी संकीर्ण धार्मिकता को बढ़ावा देने वाले अन्य लोग आये दिन उभरते रहते हैं। इस सबके सामने हमारी धर्मनिरपेक्षता मात्र कागजी शेर बन कर रह गयी है। वास्तव में उसे जीवन की शैली होना चाहिए। वह केवल एक नारा नहीं है वरन् आस्था का आयाम है। धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने के लिये सामाजिक सुधार हेतु सामाजिक आन्दोलन एक कारगर अस्त्र है। इससे आदमी के विचार बदलते हैं। वह हमें सामाजिक परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए तैयार करता है। हमारे समाज में जितनी भी धर्म निरपेक्षता नजर आती हैं वह वस्तुतः समय-समय पर प्रारम्भ किये गये सामाजिक सुधार आन्दोलनों की देन हैं।

धर्मनिरपेक्षता से जुड़े दो तथ्य और हैं-शहरीकरण और औद्योगीकरण। इन तथ्यों के कारण कितने ही नये प्रौद्योगिक मार्ग खुले हैं। यह भी देखा गया है कि ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक जानकारी और टेक्नोलॉज़ी का क्षेत्र विस्तृत होता है धर्म का क्षेत्र उतना ही संकुचित होता जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि धर्म और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी हैं। दूबे (वही) ने उचित ही कहा है कि "ऊंचे आध्यात्मिक एवं नैतिक स्तर पर धर्म (मजहब) विज्ञान की भाषा या प्रगति की प्रकृति के आड़े नहीं आता।" शहरीकरण और औद्योगीकरण समूह या झुण्ड के जीवन की पकड़ को ढीला करने के साथ-साथ मनुष्य के सामने नये विकल्प प्रस्तुत करने में सहायक होते हैं। वे उनमें कारण व परिणाम सम्बन्धी हेतुवादी दृष्टि उत्पन्न करते हैं। जीवन के अनेक पक्षों में धार्मिक विश्वासों का प्रभाव कम होता है, हालांकि धर्म के प्रति दिलचस्पी बनी रहती है। ऐसी स्थिति में धर्म अपनी सामूहिक एवं साम्प्रदायिक शक्ति खो कर आमतौर पर वैयक्तिक वस्तु बन जाता है।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया को निम्नलिखित प्रतीकों से प्रोत्साहन दिया जा सकता है:

1. अस्पृश्यता जैसे असमानता के परम्परागत प्रतीकों को समाप्त करके। यह एक ऐसा चलन है जिसे अब कानूनी अपराध घोषित किया जा चुका है।
2. सभी धार्मिक स्थानों और संस्थाओं के द्वार सभी वर्गों के लोगों के लिए खोलकर।
3. हिन्दुओं के वैयक्तिक कानूनों में सुधार करके, जिसका लक्ष्य देश के सभी समुदायों के लोगों के लिए एक समान वैयक्तिक कानून (पर्सनल लॉ) बनाना हो।
4. सभी दुकानों, सार्वजनिक जलपान-गृहों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों पर देश के किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव के व्यवहार को निषिद्ध करके।
5. देश के सभी सम्प्रदायों के लिए सभी शिक्षा संस्थानों के द्वार खोलकर।
6. पाठ्य-पुस्तकों की सामग्री को धर्मनिरपेक्ष बनाकर अर्थात् पाठ्य-पुस्तकों में वैज्ञानिक एवं हेतुवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करने वाली सामग्री को जोड़कर तथा नौजवानों के मस्तिष्क में जहर घोलने वाली बातों को निकाल कर।
7. गरीबी को खत्म करने वाले एक ऐसे सुदृढ़ आर्थिक आधार का विकास करके जिससे जनता में सम्पत्ति का एक समान बंटवारा हो सके।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में धर्मनिरपेक्षता एक बुनियादी तत्व है। इसलिए यदि हमें अपने समाज को विश्वव्यापी परिवर्तनों के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए आधुनिक बनाना है तो हमारे सामने धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया की गति को तीव्र करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है।

◆◆◆

खण्ड दो

अतीत का सांस्कृतिक पुनर्निर्माण

(Cultural Reconstruction of the Past)

7

भारतीय संस्कृति के प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक आयाम

नवीनतम् अनुसंधानों और अध्ययनों से हमें ज्ञात होता है कि मानव लगभग 30 लाख वर्ष पुराना है। मानव और उपमानव के प्रस्तरीकृत अवशेष तथा पत्थर के उपकरण, जैसे उसके पार्थिव स्मृति चिह्न न केवल मानव की प्राचीनता की कहानी बताते हैं वरन् उसके सांस्कृतिक विकास पर भी प्रकाश डालते हैं। जहां अधिकांश प्रारम्भिक अन्वेषण काफी हद तक संयोग के विषय रहे हैं वहीं गत चार-पांच दशकों से मानव के पूर्वजों और निकटतम सम्बन्धियों और उनकी भौतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की खोज अधिकांशतः प्रशिक्षित वैज्ञानिकों द्वारा विशेष रूप से मानवशास्त्रियों और पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा की जा रही है।

इस सामूहिक प्रयास में भू-गर्भवेत्ता, रसायन शास्त्री तथा इस मिशन को पूरा करने में वांछित अनेक विशेषज्ञ आदि शामिल हुए हैं। फिर भी आज जबकि प्रस्तरयुगीन संस्कृति और मानव के प्रस्तरीकृत अवशेषों की खोज पहले के किसी भी समय की तुलना में ज्यादा संगठित है, खोजों के मामले में संयोग की भूमिका भी काफी महत्वपूर्ण रही है। पृथ्वी का विस्तार अत्यधिक है और उसकी सतह का अधिकतर भाग हरियाली और ह्यूमस आदि कई चीजों से इतना अधिक ढका रहता है कि भूगर्भ में संग्रहीत मानव के अतीत के साक्ष्य प्राप्त करना संयोग की बात है। नदियां तथा अन्य कई प्राकृतिक शक्तियां प्रायः भूमि के उन भागों का कटाव करती हैं जिनमें मनुष्य के अतीत के वे साक्ष्य विद्यमान होते हैं, जिनकी हमें तलाश होती है। यह केवल संयोग की बात है कि जब और जिस स्थान पर निक्षारण या कटाव होता है तब उसी मौके पर कोई प्रशिक्षित मानवशास्त्री उपस्थित हो जो उस छिपे हुये "खजाने को पहचान सके और उसके सम्बन्ध में दुनिया को बता सके। इसी प्रकार नदी की बालू निकालने, ईंटों से गर्भित जमीन

की खुदाई करने या सोना, हीरा या टीन के भण्डार वाले कछारों में किये जाने वाले व्यापारिक कार्य आदि भी ऐसे माध्यम हैं जिनके परिणामस्वरूप मनुष्य के सुदूर अतीत के प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं। इनमें भी यह मात्र संयोग की बात होती है कि वहां प्रस्तर उपकरणों अथवा जीवाश्मों की पहचान करने योग्य व्यक्ति उपस्थित हों या न हों। ऐसे व्यक्ति की अनुपस्थिति में उन वस्तुओं के नष्ट होने की आशंका रहती है" (लीकी, 1960)।

मानव ने अपना घर कहां बनाया, कहां वह शिकार करता था और कहां रहता था इन बातों का निर्णय करने में मौसम और भौगोलिक स्थितियों ने हमेशा सहायता दी है, और चूंकि जब से 'मानव' बना है और उससे भी लम्बी अवधि में जब आदमी के मानव-सम पूर्वज धीरे-धीरे मनुष्य के रूप में अपने आपको बदल रहे थे, न तो मौसम और न भौगोलिक स्थितियां लम्बी अवधि तक एक जैसी रहीं। इसलिए हमें दुनिया में हुए मौसम सम्बन्धी एवं भौगोलिक परिवर्तनों का भी अध्ययन करना चाहिए तभी हम धरती पर आदमी के अतीत को भली प्रकार समझ पायेंगे। लीकी (वही) ने ठीक ही कहा है कि अतीत को परिभाषित करने के काम में साधारण सामान्य ज्ञान होना एक महत्वपूर्ण तत्व है। इसमें काफी मात्रा में वैज्ञानिक जानकारी भी जुड़ी होनी चाहिए तभी हम मौसम, भूगोल अथवा सामान्य परिवेश का वह सही चित्र देख या समझ सकेंगे जिसमें प्रस्तर-युगीन मानव (स्टोन एज मैन) रहता था।

पुरापाषाण काल (पैलियोलिथिक)

मनुष्य को अपने विकास के दौरान एक से बड़े मौसमी परिवर्तन देखने पड़े हैं किन्तु उसके अत्यधिक विकसित, जटिल और कुशाग्र मस्तिष्क ने हमेशा उसे मौसम सम्बन्धी उतार-चढ़ावों का सामना करते हुए अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए तरह-तरह के तरीकों व उपकरणों का आविष्कार करने में मदद की है। उसे अपने भोजन के लिए बड़ी सख्त मेहनत करनी पड़ती थी। प्रारम्भिक स्तर पर तो वह खाद्य-संग्राहक था। उसने अपने साथियों के साथ प्रकृति प्रदत्त फलों और शिकार की तलाश में जाना सीखा। उसने पत्थर के औजार बनाना सीखा, शरीर को ढंकने के लिये जानवरों की खाल का इस्तेमाल करना और अपने रहने के लिए शरणगाह बनाना सीखा। उसने आग जलाना सीखा और बोलने/बात करने की शक्ति का विकास

किया। लेकिन, इतना सब कर लेने के बाद भी मानव का कार्य-कलाप शिकार पर जाने, मछलियां पकड़ने और प्रकृति से प्राप्त कन्द-मूल या खाने योग्य अन्य वस्तुओं का संग्रह करने तक ही सीमित था। प्रारम्भिक मानव के विकास का युग पुरापाषाण काल कहलाता है। सबसे पहले की इस अवधि (30 लाख वर्ष पहले से 10 हजार वर्ष तक) के अवशेष, परिभाषा के अनुसार पैलियोलिथिक अर्थात् पुरापाषाण युगीन संस्कृति के द्योतक हैं।

भारत में मानव लगभग 5,00,000 (पांच लाख) वर्षों से रह रहा है। यहां पुरापाषाण युगीन संस्कृति का विकास प्लीस्टोसीन युग में हुआ था। यह युग भू-गर्भ विज्ञान के 'होलोसिन' युग अर्थात् जिस युग में हम रह रहे हैं और जो लगभग 10,000 वर्ष पहले शुरू हुआ था, के ठीक पहले का युग माना जाता है। प्लीस्टोसीन युग कब प्रारम्भ हुआ था, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस युग में जलवायु सम्बन्धी बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आये थे। हजारों वर्षों तक चलने वाला ऐसा ठंडा मौसम आता था कि धरती पर हर चीज जम जाती थी और बर्फ के बड़े-बड़े ढूहे (ग्लेशियर) बन जाते थे। समय के इस चरण को हिमानी (ग्लेसियेशन) कहते हैं। यूरोप और अमेरिका हिमाच्छादन के चार और 'अन्तर हिमाच्छादन' (हिमाच्छादन के दो मौसमों के बीच सामान्य मौसम का युग) के तीन दौरों से होकर गुजरे हैं किन्तु पर्वतीय चोटियों को छोड़कर, उष्णकटिबन्धीय क्षेत्र, बर्फ से मुक्त रहे। इन क्षेत्रों को कहीं-कहीं निपट सूखे की दीर्घकालीन स्थितियों का सामना करना पड़ा जिन्हें 'प्लुवियल' और 'ऐन्टीप्लुवियल' जैसे शब्दों की संज्ञा दी गयी है।

सांस्कृतिक विकास की प्रकिया की शुरुआत उस समय से मानी जा सकती है जब हमारे उप-मानवीय पूर्वजों ने अनगढ़ औजार बनाने की कला प्राप्त की। इन औजारों की बनावट कुछ इस प्रकार की है मानो ये प्राकृतिक अवस्था में ही वैसे छिले हुए बन गये हों। मानव उस समय अपने विकास की प्रक्रिया में था और न्यूनाधिक रूप में 'आस्ट्रैलोपिथिकस अफ्रीकेनस' (झुककर चलने वाले कपि-मानव) के स्तर का था। लगभग बीस लाख वर्ष पूर्व 'होमो इरेक्टस' का विकास हुआ और उसके बाद 'होमो सेपियन्स' अर्थात् आधुनिक मानव पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने के लिए सामने आया। ये लोग परस्पर प्रभाव डालने में तथा भूमि पर रहने के लिए अपने को उसके अनुकूल बनाने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ थे। एक अरसा बाद

इन्होंने आग का इस्तेमाल भी सीख लिया। "आग के चारों ओर बैठकर समान रूप से उसकी उष्णता का लाभ उठाने का रिवाज आम तौर से अपनाया जाता होगा और इस चलन ने उन प्रारंभिक मानव समूहों को अपने बीच सामाजिक सम्बन्धों को मजबूत करने की प्रेरणा दी होगी" (भट्टाचार्य, 1984)। प्राकृतिक रूप से छिले हुए या उनमें निकलती चिप्पियों (फ्लेक) को देखकर प्रारंभिक मानव ने सोचा होगा कि वह भी विभिन्न उपयोगों के लिए पत्थरों के औजार बना सकता है। प्रारम्भिक औजार बनाने वालों ने धीरे-धीरे यह भी सीखा होगा कि पत्थर के एक टुकड़े को कैसे पकड़ा जाए तथा उसे दूसरे पत्थर पर किस प्रकार और किस स्थान पर जोर से मारा जाए किस उससे इच्छानुसार चिप्पी (फ्लेक) तोड़ी जा सके।

राबर्ट ब्रूस फुट पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 1863 में भारत में पुरापाषाण कालीन औजारों की खोज की थी। इसलिए हमारे देश में पुरापाषाण कालीन अनुसंधान एक सौ वर्ष से अधिक पुराना है। किन्तु उसे गति 1935 में येल-कैम्ब्रिज अभियान से ही मिली। इस अभियान का नेतृत्व डी॰ टेरा और पैटरसन ने किया था।

भारत में पुरापाषाण काल को पहले दो अवधियों में विभाजित किया गया था:

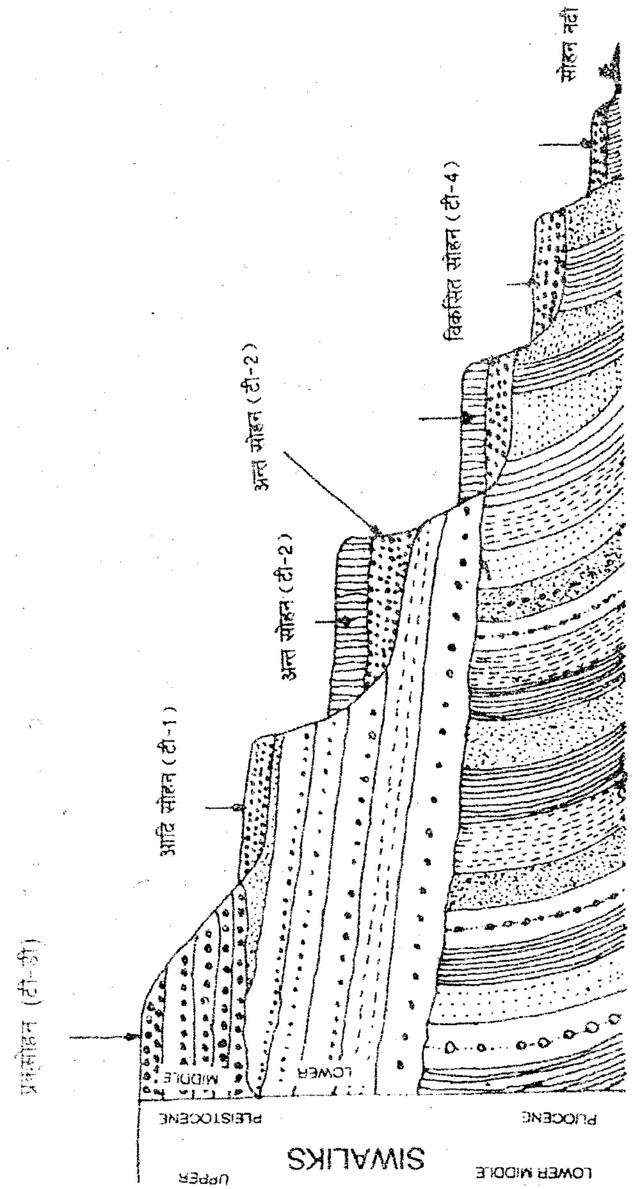
(1) लोअर पैलियोलिथिक या अर्ली स्टोन एज - निम्न पुरापाषाण काल

(2) मिडिल पैलियोलिथिक या मिडिल स्टोन एज - मध्य पुरापाषाण काल

चूंकि यहां अपर पैलियोलिथिक (उच्च पुरापाषाण) का यूरोप की भाँति अपना कोई स्वतन्त्र चरित्र नहीं था, इसलिये उच्च पुरापाषाण कालीन कमजोर और धुंधले अवशेषों को मिडिल पैलियोलिथिक (मिडिल स्टोन एज) के अन्तर्गत ही रखा गया। लेकिन प्रस्तुत वर्णन में भारतीय पुरापाषाण को यूरोपीय पुरापाषाण की भांति तीन स्वतंत्र अवधियों में बांटकर वर्णित किया जायेगा क्योंकि हाल के वर्षों में ऐसे साक्ष्य मिले हैं जिनके आधार पर, शत-प्रतिशत न सही, फिर भी भारतीय उच्च पुरापाषाण का एक खाका या रेखाचित्र अवश्य उभरता है।

निम्न पुरापाषाण (लोअर पैलियोलिथिक) संस्कृति

उत्तर का कछारी छत्ता और केरल को छोड़कर देश के सभी भागों में निम्न पुरापाषाणकालीन अवशेष पाये गये हैं फिर भी इतने पहले के युग का कोई मानव जीवाश्म (कंकाल) अभी तक नहीं मिल पाया है।



सोहन घाटी की अनुप्रस्थ काट

अन्य क्षेत्रों जैसे पठारों, नदी घाटियों और यहां तक कि पहाड़ी तराइयों में निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण पाये गये हैं। निम्न पुरापाषाण के बारे में अब तक जो ज्ञान हमें है वह आमतौर पर निम्नलिखित स्थलों (साइट) के अध्ययन पर आधारित हैं-उत्तरी पश्चिम क्षेत्र में पोटवार पठार में विशेष कर सोहन नदी की घाटी, पश्चिमी भारत में डीडवाना, चित्तौरगढ़, नागरी, गुजरात की साबरमती घाटी, मध्य प्रदेश में नर्मदा घाटी में नरसिंह पुर और होशंगाबाद, उत्तर प्रदेश में सिंगरोली बेसिन, पूर्वी क्षेत्र में उड़ीसा में कुलियाना और कमारपाड़ा, पश्चिम बंगाल के बांकुड़ा जिले की सिसुनिया पहाड़ी तथा प्रायद्वीप (पेनिनसुलर) भारत में कुर्नूल, गिदालुर-करेमपुड़ी, नागार्जुन कोन्डा और चिंगलपेट आदि।

भारतीय निम्न पुरापाषाण को किसी निश्चित कालानुक्रम में नहीं रखा जा सकता और न ही इसे एक समरूप सांस्कृतिक चरण ही माना जा सकता है, क्योंकि अलग-अलग क्षेत्रों में इसका चरित्र सांस्कृतिक-कलात्मक तौर पर एक जैसा नहीं है। भारतीय निम्न पुरापाषाण का एक प्रमुख स्रोत सोहन संस्कृति है। सोहन संस्कृति के अवशेष पोटवार क्षेत्र में बड़ी मात्रा में मिले हैं। पोटवार, सिंधु व झेलम नदी के बीच लगभग 100 किलोमीटर का एक उभरा हुआ पठार है। रावलपिंडी (अब पाकिस्तान का एक नगर) इस पठार के लगभग बीचों-बीच स्थित है। सोहन, सिन्धु नदी की एक सहायक नदी है जिसकी घाटी में डी टेरा और पैटरसन ने कश्मीर सहित शोध व उत्खनन कार्य किया था। बाद में कई भारतीय पुरातत्व वैज्ञानिकों ने भी इसका उत्खनन किया। इस पूरे क्षेत्र में पेबुल पर बने चापर-चापिंग उपकरणों का बाहुल्य देखने को मिलता है लेकिन साथ में बहुत से फलक (फ्लेक) भी मिले हैं। सोहन घाटी में पुरापाषाण कालीन उपकरणों को चार मुख्य कालों में विभाजित किया जा सकता है:

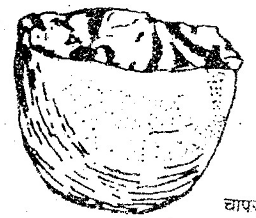
(1) प्री-सोहन (प्राक् सोहन)
(2) अर्ली सोहन (आदि सोहन)
(3) लेट सोहन (अन्त सोहन)
(4) इवाल्वड सोहन (विकसित सोहन)

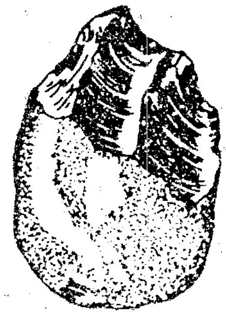
प्राक् सोहन के स्तरों से अनिश्चित प्रकार के टूटे हुए पेबुल (पत्थरों के चिकने व गोलाई लिये हुए टुकड़े) और कुछ फलक प्राप्त हुए हैं। ये

अधिकतर क्वार्टजाइट के हैं। जल के प्रवाह से इन टुकड़ों के नुकीले सिरे घिस गये हैं। इन 'उपकरणों' के बारे में आज भी इस बात का संदेह है कि इसे मानव ने बनाया था या कुछ प्राकृतिक कारक ने, क्योंकि उस समय इस क्षेत्र में मानव की उपस्थिति संदिग्ध है। आदि सोहन के स्तरों से कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण उपकरण प्राप्त हुए हैं।

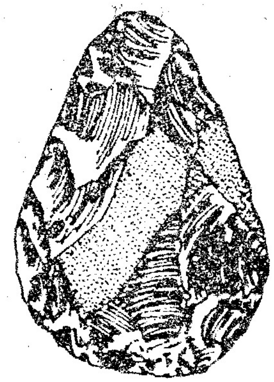
ये मुख्यतः दो प्रकार के पेबुल उपकरण हैं जिन्हें चापर व चापिंग उपकरण कह कर पुकारा जाता है। इन दोनों के बीच अन्तर बहुत थोड़ा-सा है, जब पेबुल के दोनों ओर से फलक निकाल कर कार्यांग बनाया गया तो इसे चापिंग उपकरण कहा गया और जब केवल एक ही ओर से फलक निकाले गये तो इस प्रकार बने उपकरणों को चापर कहा गया। ये देखने में बड़े भद्दे तथा भारी उपकरण हैं और अल्प-विकसित उपकरण निर्माण प्रवधि के द्योतक हैं। ये अविशिष्टीकृत उपकरण रहे होंगे और इनसे काटने के अतिरिक्त बहुत से और दूसरे काम लिये जाते रहे होंगे। प्राक् सोहन व आदि सोहन को हम निम्न पुरापाषाण में रख सकते हैं। अन्त सोहन के स्तरों से मिलने वाले उपकरण बुनियादी तौर पर आदि सोहन से बिल्कुल अलग नहीं हैं, मात्र इसके कि अब उपकरण पहले से हल्के व साफ-सुथरे बने दिखाई देते हैं। हां, फलक पर बने उपकरणों (फ्लेक उपकरण) की संख्या पहले से काफी बढ़ी हुई नजर आती है। विकसित सोहन के स्तर से ब्लेड जैसे उपकरण मिलते हैं लेकिन संख्या इतनी कम है कि इन्हें किसी नई जीवन पद्धति का द्योतक नहीं माना जा सकता और न ही यूरोपीय उच्च पुरापाषाणकाल का समान्तर, जहां यह पूरा सांस्कृतिक चरण ब्लेड उपकरणों व हड्डी पर बने उपकरणों के बाहुल्य के कारण जाना जाता है।

सोहन संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि यहां पेबुल के चापर-उपकरणों के साथ कुछ थोड़े से (हस्त कुल्हाड़े) हैण्डेक्स व (विदारणी उपकरण) क्लीवर भी मिले हैं। इनके किनारे जल प्रवाह के कारण गोल व चिपटे हो गये हैं। चौंतरा इस प्रकार का एक अनोखा स्थल है। शायद सोहन-घाटी के अतिरिक्त समूचे विश्व में चापर-चापिंग तथा हैण्डेक्स-क्लीवर उपकरण इतने पहले एक साथ नहीं मिले हैं और इसलिये इस विशेषता को भारतीय पुरापाषाण के अनोखेपन तथा अनन्यता का एक पहलू भी माना जा सकता है। इस विशेषता के कारण कुछ प्रागैतिहासज्ञ यह व्यक्त करते हैं कि

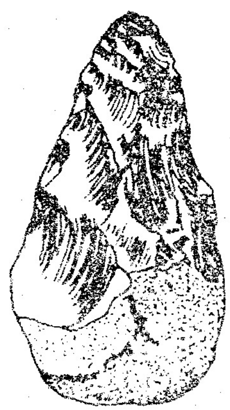




चापर तथा चापिंग उपकरण



हस्त कुल्हाड़े





क्लीवर

निम्न पुरापाषाण कालीन उपकरण

शायद दो विभिन्न मानव समुदाय, जो समकालीन थे, इस भूभाग में निवास कर रह थे लेकिन जीवाश्मों व शरीरिक अवशेषों की अनुपस्थिति में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

पश्चिमी क्षेत्र भी हाल में निम्न पुरापाषाण काल के अवशेषों के लिये उभर कर सामने आये हैं। सौराष्ट्र व राजस्थान में किए गए अध्ययनों ने इस सिलसिले में नये द्वार खोले हैं। चम्बल की घाटी से अनेक बड़े-बड़े निम्न पुरापाषाण कालीन उपकरण मिले हैं। जोधपुर के पास डीडवाना के उत्खनन से पता चला है कि यहां बड़ी-बड़ी निम्न पुरापाषाणकालीन बस्तियां थीं। यहां चापर व चापिंग उपकरणों का जमाव देखने को मिलता है, लेकिन साथ ही कुछ बहुत बड़े-बड़े हैण्डेक्स भी मिलते हैं लेकिन क्लीवर नहीं पाये गये हैं। गुजरात में सभी नदियों के साथ-साथ निम्न पुरापाषाणकालीन स्थल मिले हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि उस समय की जलवायु मानव के लिये बहुत अच्छी थी। उपकरण आमतौर पर यूरोपीय एश्यूलियन परम्पराओं पर आधारित थे।

मध्य क्षेत्र में नर्मदा की घाटी पाषाणकालीन अवशेषों का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। सोहन के अपने अनुभव के बाद डी टेरा वहां की हिमाच्छादन व अन्तर-हिमाच्छदन की जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियों को मध्य व दक्षिणी क्षेत्र की वार्षिक व अन्तर-वार्षिक परिस्थितियों के साथ जोड़कर अध्ययन करना चाहते थे। इसके लिये नर्मदा का चुनाव स्वाभाविक था। शायद इसीलिये मुख्य नर्मदा क्षेत्र में, जो होशंगाबाद व नरसिंहपुर के बीच में स्थित है, प्लीस्टोसीन काल के जमावों का अध्ययन विशेष रूप से किया गया और उसके अच्छे परिणाम निकले। सम्पूर्ण नर्मदा उद्योग में बड़े-बड़े हैण्डेक्स, क्लीवर, चापर-चापिंग उपकरण तथा कलेक्टोनियन फ्लेक शामिल हैं जो इस क्षेत्र के विभिन्न स्थलों से मिले हैं। इसी क्षेत्र में हथनौरा नामक स्थान से 'होमो इरेक्टस' का एक कंकाल भी पाया गया है जिसे 'नर्मदा मानव' की संज्ञा दी गई है। इसके अतिरिक्त भीमबेटका और आदमगढ़ के जमाव से भी निम्न पुरापाषाणकालीन अवशेष मिले हैं लेकिन इनका मूल चरित्र बाद के कालों का है। पूर्वी क्षेत्र ने भी, जिसका एक बड़ा भाग कछारी है, अपनी पहाड़ी नदियों और उनसे मिले पहाड़ों की ढलानों में कुछ पुरापाषाणकालीन स्थल दिये हैं। चूंकि इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक शोध कार्य अभी बहुत ही

आरम्भिक चरणों में है इसलिये यहां से अब तक निम्न पुरापाषाण के केवल 2-3 स्थल ही प्राप्त हो सके हैं। उड़ीसा के मयूरभंज जिले में कुलियाना और कमारपाड़ा से यद्यपि कोई बड़ा अच्छा स्तर विन्यास (स्ट्रेटीग्राफी) नहीं मिला है लेकिन इन गढ़ों से निम्न पुरापाषाण संस्कृति के काफी अवशेष मिले हैं। यहां के आधे से अधिक उपकरण चापर-चापिंग प्रकार के हैं लेकिन इन के साथ एश्यूलियन प्रकार के हस्त कुल्हाड़े और क्लीवर भी बड़ी संख्या में मिले हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिम बंगाल में बांकुड़ा व बीरभूम से भी निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण रिपोर्ट किये गये हैं। लेकिन पूर्वी क्षेत्र के कगार पर लगभग सभी निम्न पुरापाषाणकालीन स्थल अब तक मेघालय में ही केंन्द्रित है। यहां भी चापर-चापिंग उपकरणों का बाहुल्य है, यद्यपि कहीं-कहीं दो एक हस्तकुल्हाड़े और क्लीवर भी पाये गये हैं।

सोहन घाटी के बाद सबसे महत्वपूर्ण निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण उद्योग दक्षिण भारत के प्रायद्वीप भाग से मिला है। चूँकि इस प्रकार के उपकरण सबसे पहले तत्कालीन मद्रास राज्य के क्षेत्रों से ही मिले थे, इसलिए इस पूरे उद्योग को 'मद्रासियन इंडस्ट्री' की संज्ञा दी गयी। यद्यपि बाद के दिनों में ऐसे ही उपकरणों के दर्जनों स्थल भारत के दूसरे क्षेत्रों से भी खोज लिये गये लेकिन परम्परागत तौर पर इसे आज भी 'मद्रासी उद्योग' के नाम से ही पुकारा जाता है। यह पूरा क्षेत्र भारी वर्षा का क्षेत्र है और उष्णकटिबन्धीय घने वनों से ढंका हुआ है। यहां से सबसे पहले 1938 में वर्तमान तमिलनाडु के चिंगलपेट जिले की कोर्टालियर घाटी से निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण प्राप्त हुए थे। यह उद्योग अधिकतर हस्त कुल्हाड़ी और क्लीवर पर आधारित है। हां, पेबुल और फ्लेक उपकरणों की लगभग अनुपस्थिति बहुत महत्वपूर्ण है। यद्यपि बाद के वर्षों में गुडियम की गुफा से कुछ पेबुल और फ्लेक उपकरण मिले लेकिन 'मद्रासी संस्कृति' का बुनियादी चरित्र हैंडेक्स-क्लीवर ही है जो विभिन्न प्रकारों में यहां के दर्जनों स्थलों से मिले हैं। यहां के हैंडेक्स व क्लीवर सोहन संस्कृति के इन्हीं उपकरणों की तुलना में काफी बेहतर और परिष्कृत नजर आते हैं। संकालिया ने यहां के हस्तकुल्हाड़ों व क्लीवरों में एक महत्वपूर्ण विशेषता की ओर संकेत किया है जो नई सम्भावनाओं के द्वार खोल सकता है। यह विशेषता है बहुत से हस्तकुल्हाड़ों व क्लीवरों के दोनों पार्श्विक किनारों पर 'कमर' (वेस्ट) का

होना जो इनको किसी लकड़ी या बांस के हत्थों में लगाकर इस्तेमाल किए जाने का प्रमाण हो सकता है। यदि यह बात शत-प्रतिशत सही मान ली जाये तो इतना पहले हत्थे या मूठ का प्रयोग अपने आप में एक बहुत ही महत्वपूर्ण विशेषता हो सकती है। नागार्जुनकोंडा और करेमपुड़ी के स्थलों से इस काल के उपकरणों के इतने बड़े भंडार मिले हैं कि उनके आधार पर आंध्र प्रदेश को निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति का 'खजाना' कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कर्नाटक प्रदेश में भी मालप्रभा व घाटप्रभा तथा तुंगभद्रा से भी बहुत से निम्न पुरापाषाणकालीन स्थल मिल चुके हैं लेकिन यहां भी कोर्टालियर घाटी की तरह पेबुल उपकरणों का अभाव मिलता है।

यदि सभी क्षेत्रों की पुरापाषाण संस्कृति का खुलासा किया जाये तो कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में निम्न पुरापाषाण संस्कृतियां उच्च प्लीस्टोसीन युग के आरम्भिक दिनों में उभरी होंगी। इतनी देरी से इनका विकास पूरे उपमहाद्वीप की कहानी नहीं है। इसमें भी क्षेत्रीय विविधतायें देखने को मिलती हैं। इस काल के स्थलों के विवरण से उन क्षेत्रों के बारे में पता चलता है जहां निम्न पुरापाषाणकालीन मानव ने अपनी पहली बस्तियां बसाई थीं। ये लोग आम तौर से जलापूर्ति स्रोतों के पास रहते थे। इसके कई कारण थे। सबसे बड़ा कारण तो यही था कि उनके पास पानी रखने या उसे लाने-ले जाने वाले बर्तन नहीं थे। बर्तनों के अभाव में वे जल के स्रोतों से दूर नहीं रह सकते थे। इसी कारणवश बड़ी मात्रा में उपकरण और दूसरे सांस्कृतिक अवशेष नदियों के कगारों पर पाये गये हैं। कच्चे माल की उपलब्धता भी उद्योग के लिये स्थान चुनने में महत्वपूर्ण तत्व रहा होगा। वे लोग पहाड़ियों के निकट जल प्रवाह से गोल हुए पत्थरों के टीलों तथा जंगल की सीमाओं पर (शिकारी सुविधा के लिए) रहना पसन्द करते थे। उन्होंने ऊंचे स्थानों तथा घने जंगलों में रहना कभी पसन्द नहीं किया।

विभिन्न स्थलों से पाये गये उपकरणों के इस्तेमाल के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। पैटरसन का कहना है कि सोहन में पाये गये उपकरण संभवत: काटने, फांके करने, कूटने और चमड़ा कमाने के रूप में इस्तेमाल किये जाते होंगे। जिउनर (zeuner) का विचार है कि कुठार या हस्तकुल्हाड़े उस समय उपलब्ध खाई जाने वाली जड़ें खोदने व काटने, छेद करने, चीर-फाड़ करने और मुर्दा जानवरों की खाल साफ करने के अच्छे

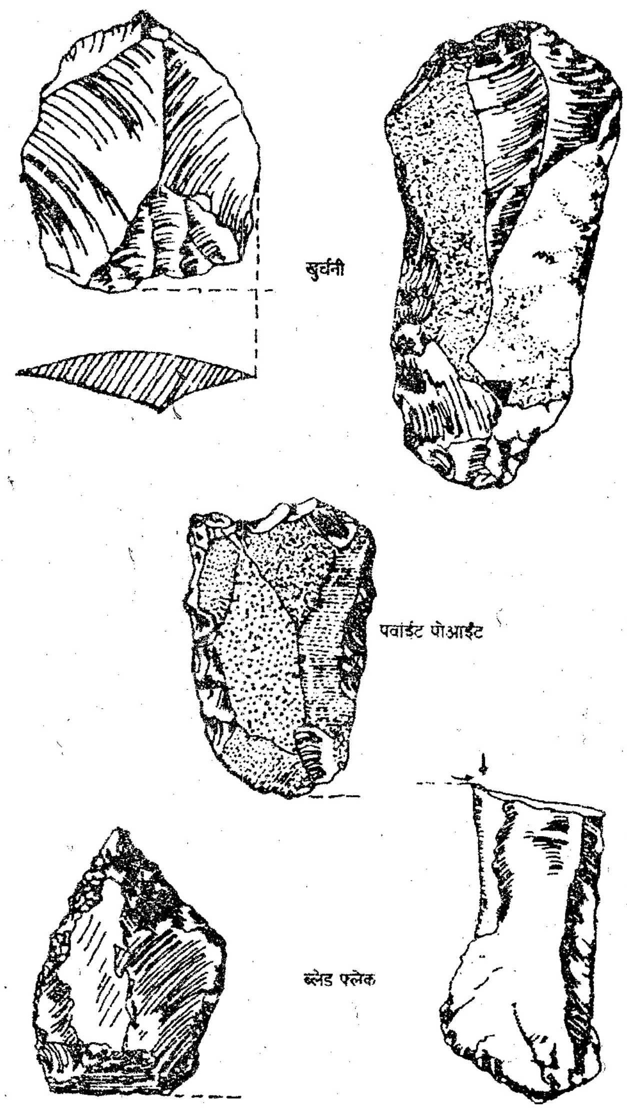
और कारगर उपकरण रहे होंगे। मानव उस समय नंगा रहता था। भोजन संग्रह करता था, शिकार करता था तथा मछलियां पकड़ता था। इस युग के मानवीय जीवाश्म नहीं मिले हैं। दूसरे शब्दों में, उपकरण तो बहुत मिले, पर उपकरण निर्माता नहीं मिला। इसके लिए बहुत हद तक हमारे यहां की भूमि और मिट्टी की तेजाबी प्रकृति जिम्मेदार है। फिर भी इस मामले में संयोग ने भी अब तक खुदाई करने वाले का साथ नहीं दिया।

मध्य पुरापाषाण संस्कृति (मिडिल पैलियोलिथिक)

निम्न पुरापाषाण के बाद मध्य पुरापाषाण प्रारम्भ हुआ। बहुत दिनों तक भारतवर्ष में यह कोई स्वतंत्र या विशिष्ट सांस्कृतिक स्तर नहीं माना जाता था जिसका प्रमुख कारण था इसके किसी विशिष्ट स्तर-विन्यास का अभाव, जिसके परिणामस्वरूप निम्न व मध्य पुरापाषाण काल के बीच विभाजक रेखा खींचना कठिन था। मानवीय विकास के इस दौर को नियन्डर्थल मानव का युग कहा गया है। भारत में इसके स्वतंत्र अस्तित्व का श्रेय संकालिया को मिलता है जिन्होंने 1956 में नेवासा में अनेक फ्लेक उपकरणों को खोजकर मध्य पुरापाषाण काल का विशिष्ट चरित्र स्थापित कर दिया।

मध्य पुरापाषाणयुगीन संस्कृति के सबसे महत्वपूर्ण स्थल महाराष्ट्र क्षेत्र में, विशेषतया गोदावरी और उसकी उपधाराओं की घाटियों में, पाये गये हैं। इन स्थलों में नेवासा, सुरेगांव, बेल पंढारी और नन्दूर मधमेश्वर आदि शामिल हैं। हाल की खुदाइयों ने इन स्थलों में पश्चिम बंगाल के बांकुड़ा और पुरूलिया नामक स्थानों के नाम भी जोड़ दिये हैं। इसके अतिरिक्त हाल की अन्य खुदाइयों का विवरण भी इसी अध्ययन में दिया जायेगा जिसमें मध्य प्रदेश प्रमुख है।

भारतीय मध्य-पुरापाषाण-संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता जिसने पुरातत्व-शास्त्रियों का ध्यान काफी आकर्षित किया है, वह है, निम्न पुरापाषाण से मध्य पुरापाषाण में प्रवेश करने पर कच्चे माल में महत्वपूर्ण परिवर्तन। पहले उपकरण अधिकतर क्वार्टजाइट पत्थर पर बनाये गये थे लेकिन पहली बार चिकने व चमकदार पत्थरों जैसे जैस्पर, कैलसीडोनी तथा फ्लिंट का इस्तेमाल किया गया। मध्य पुरापाषाण काल का उपकरण निर्माता फ्लेक (फलकों) पर निर्भर था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके उपकरण



मध्य एवं उच्च पुरापाषाण कालीन उपकरण

पहले से छोटे व हल्के हो गये। ये अधिकतर चाकू-छुरे के तौर पर इस्तेमाल होने लगे। संभवत: इसी प्रकार के पाषाण-चाकुओं से आज के लौह-इस्पात, ताम्र तथा कांस्य उपकरण विकसित हुए हैं।

मध्य प्रदेश तथा बुंदेलखण्ड क्षेत्रों में मध्य पुरापाषाण संस्कृति अपने सबसे अच्छे रूप में नजर आती है। इसलिये अब तक उत्खनित स्थलों में यहीं के स्थलों को इस संस्कृति के सबसे अच्छे प्रतिनिधि के रूप में माना जा सकता है। इस इस समूचे क्षेत्र में नर्मदा के जमाव, बेतवा, शिवाना, चम्बल और दूसरी बहुत-सी जलधाराओं से इस संस्कृति के अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनमें चर्ट (चकमक पत्थर) पर बने छोटे-छोटे हस्त-कुल्हाड़े, क्लीवर, चापर और गुफाएं ऐसे स्थल हैं जिनका बड़ा गहरा अध्ययन किया जा चुका है तथा जिनकी अधिकांश बातों को लेखबद्ध किया जा चुका है। भारत में वास्तविक पुरापाषाण युग के बहुत कम निवास स्थलों की खुदाई हुई है। उससे भी कम के बारे में प्रलेख लिखें और प्रकाशित किये गये हैं। वी॰ एन॰ मिश्र ने भीमबेटका के शैलकृत निवासों (रॉक शेल्टर) का विस्तृत अध्ययन किया है। दो सौ से अधिक शैलकृत निवास व गुफायें भीमबेटका पहाड़ियों में हैं तथा करीब 750 पूरे क्षेत्र में हैं। पांच सौ से अधिक चित्रित पाई गई हैं। यह स्थान न केवल भारत में वरन् शायद पूरी दुनिया में शैल चित्रों का सबसे बड़ा भण्डार है। इन शैल आश्रय स्थलों में बहुत-सी ऐसी हैं जिनमें मलबा भरा हुआ है। मिश्र द्वारा उत्खनित स्थल (III F-23) का क्षेत्रफल 52 वर्ग मीटर है। उसमें चार मीटर नीचे तक उपकरणों का भंडार है जिसे आठ स्तरों में बांटा जा सकता है। छ: से आठ नम्बर के स्तर एश्यूलियन (भारत के संदर्भ में निम्न पुरापाषाण) संस्कृति से सम्बन्धित है। पांचवीं परत से मध्य पुरापाषाणकाल के उपकरण प्राप्त हुए हैं और चौथी परत उच्च पुरापाषाणकाल की है। स्पष्ट है कि ये उपकरण उन्हीं शैल आश्रय स्थलों में बनाये गये थे क्योंकि प्रमाणस्वरूप उनके बनाते समय का मलबा वहां मौजूद मिला है। इनमें हस्त कुल्हाड़े और क्लीवर जैसे उपकरण आर्थोक्वार्टजाइट पत्थर से तथा दूसरे फ्लेक उपकरण पीले रंग के क्वार्टजाइट पत्थर से बनाये गये हैं। यहां से पांच हज़ार से भी अधिक उपकरण मिले हैं। इसके अलावा इलाहाबाद की बेलन नदी की घाटी से भी इस संस्कृति के बहुत से उपकरणों का पता चलता है।

मध्य पुरापाषाण संस्कृति में पाये जाने वाले उपकरणों का प्रारूपिक वर्णन यदि संक्षेप में किया जाये तो यह कहा जा सकता है कि निम्न उपकरण अलग-अलग क्षेत्रों में बाहुल्यता के कारण संस्कृति के प्रतिनिधि उपकरण थे : विभिन्न प्रकार की खुरचनियां (स्क्रेपर), छिद्रक (प्वाइंट), बेधक (बोरर), तक्षणियां (ब्युरिन), हस्तकुल्हाड़े व क्लीन, कुछ चापर व चापिंग उपकरण तथा कुछ ब्लेड। खुरचनियों (स्क्रेपर) तथा बेधकों (बोरर) की बाहुल्यता अक्सर विद्वानों को परेशान करती है कि खाद्य संकलन व शिकारी समुदायों को ऐसे उपकरण से क्या सहायता मिलती रही होंगी। ऐसी शंकाओं का जवाब देते हुए संकालिया ने यह मत व्यक्त किया है कि पाये गये मध्य पुरापाषाणयुगीन उपकरणों शायद लकड़ी, हड्डियों व सींघों पर बनाये और इस्तेमाल किये गये। अन्ततोगत्वा ये प्राय: उपकरणों को बनाने में इस्तेमाल किये जाते थे; चूँकि इस युग के गैर पाषाण अवशेष हमें नहीं मिलते इसलिये ये औजार-हथियार भी हमें नहीं मिलते हैं।

प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अभी भी मानव पूर्णत: प्रकृतिजीवी था लेकिन उसे अग्नि का ज्ञान हो गया था। उसने गुफाओं को भी अपना निवास स्थान बनाया। ये लोग पशुओं का शिकार सामूहिक रूप से करते थे। इस सांस्कृतिक चरण को एक लाख वर्ष से करीब छत्तीस हजार वर्ष पूर्व के बीच रखा जा सकता है।

उच्च्य पुरापाषाण संस्कृति (अपर पैलियोलिथिक)

उच्च्य पुरापाषाणकालीन संस्कृति का समय महान हिमयुग के लगभग अंतिम चरण के आस-पास माना जाता है। अब मौसम की ठंडक बहुत हद तक कम हो चुकी थी। उच्च्य पुरापाषाणकाल के आते-आते मानव पूरी तरह विकसित हो चुका था। सांस्कृतिक तथा जैविक तौर पर इन्हीं प्रारम्भिक मानव-समूहों ने ही आगे चलकर विविधताओं के कारण, नई मानव प्रजातियों व संस्कृतियों को जन्म दिया। भट्टाचार्य के अनुसार नियन्डर्थल जाति के अंत और शारीरिक रूप से आज के मानव के समान मानव जाति के उदय के अतिरिक्त इस युग की महत्वपूर्ण घटनायें इस प्रकार हैं-

1. नई दुनिया और आस्ट्रेलिया सहित संसार के बसने योग्य अधिकतर भागों में मानव का फैलाव।
2. सापेक्षतया बड़े पैमाने पर अप्रत्याशित रूप से कला और अनुष्ठानों को प्रतिबिम्बित करने वाली छोटी मूर्तियों व चित्रकारी का प्रादुर्भाव।

3. अनेक प्रकार के अस्थि-निर्मित औजारों, सुइयों, मछली पकड़ने के प्रसाधनों तथा मत्स्य बर्छियों (हार्पून) का प्रादुर्भाव।
4. मानव समूहों का रक्त सम्बन्धों या बन्धुत्व के रिश्तों में बंध कर उन्हें संगठित करने की दिशा में ठोस प्रयास (वही)।

ऊपर दिये गये वर्णन के आधार पर (जो यूरोपीय उच्च पुरापाषाण का चित्रण है और जिसके बारे में हमारा ज्ञान गहन है) यह कहा जा सकता है कि भारतीय उच्च पुरापाषाण की तुलना एक सुस्पष्ट व स्वतंत्र सांस्कृतिक चरण के तौर पर आज भी उसकी समकालीन यूरोपीय संस्कृति से नहीं की जा सकती क्योंकि ऊपर दिये गये लक्षणों का भारतीय उच्च पुरापाषाण में बहुत अभाव नजर आता है। उच्च पुरापाषाणयुगीन संस्कृति के महत्वपूर्ण स्थलों में (जिन पर हमारा उच्च पुरापाषाणकालीन संस्कृति का अधिकतर ज्ञान आधारित है) रेनीगुन्ट (जिला चित्तूर, आंध्र प्रदेश), मुच्छतला चिन्तमनु गवई (जिला कर्नूल आंध्र प्रदेश), भीमबेटका, बगौर-II (मध्य प्रदेश) तथा बेलन घाटी (जिला इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश) का नाम लिया जा सकता है। रेनीगुन्ट से बड़ी संख्या में ब्लेड बरामद किये गये हैं। इन ब्लेड उपकरणों में तक्षिणी (ब्युरिन), आल, खुर्चनी (स्क्रेपर), छिद्रक (प्वाइंट) तथा छोटी हड्डियों पर बने उपकरण हैं जो पहली बार बरामद हुए हैं। यहां पर 90% से अधिक उपकरण हड्डियों, सींघों आदि पर (अर्थात् गैर-पाषाण वस्तु पर) और शेष पत्थरों पर बने मिले हैं। ऐसे अस्थि-उपकरणों में स्क्रेपर, छेनी व रूखानी (चिजिल), कण्टक (बार्ब), छिद्रक तथा स्पेचुला शामिल हैं। बेलन घाटी से अन्य उच्च पुरापाषाण कालीन अवशेषों के अतिरिक्त हड्डी पर बनी एक मातृदेवी जैसी मूर्ति भी मिली है। इस प्रकार की मूर्तियां बड़ी संख्या में यूरोपीय उच्च पुरापाषाण संस्कृति में पाई जाती हैं। बेलन घाटी की मूर्ति का 'मूर्ति' होना संदेहास्पद है क्योंकि बहुत से विद्वान इसे मूर्ति न मानकर मत्स्य बर्छी (हारपून) मानते हैं। यदि यह सांस्कृतिक अवशेष मूर्ति प्रमाणित हो जाये तो अपनी तरह की यह पहली कलाकृति होगी जिसकी तुलना यूरोपीय उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृतियों की मूर्तियों से की जा सकती है। हाल में बागौर से भी एक उच्च पुरापाषाण-कालीन स्थल की खोज हुई है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह न केवल एक आवास स्थल है बल्कि देखने में पूजा स्थल जैसा भी लगता है।

उच्च पुरापाषाण संस्कृति की आयु लगभग छत्तीस हजार वर्ष पूर्व से लगभग नौ हजार वर्ष ईसा पूर्व मानी जाती है। इस प्रकार इसकी अवधि लगभग सत्ताईस हजार वर्ष की रही है जो निम्न पुरापाषाण काल की तुलना में 3% और मध्य पुरापाषाणकालीन चरण के 6% के लगभग मानी जा सकती है। इससे एक बात जो साफ होकर सामने आ रही है वह यह है कि सांस्कृतिक उद्‌विकास की इस यात्रा में मानव जैसे आगे बढ़ता गया, उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों की गति बढ़ती गई। दुर्भाग्यवश भारतीय उच्च पुरापाषाण काल के बारे में हमारा ज्ञान आज भी बहुत सीमित है।

मध्यपाषाण काल (मेसोलिथिक)

ईसा से कोई 10,000 वर्ष पहले महान हिमयुग की समाप्ति के साथ-साथ पुरापाषाण काल का भी अन्त हो गया। इस प्रकार उच्च पुरापाषाण को हम पुरापाषाण संस्कृति का अन्तिम चरण मान सकते हैं। इस तरह यह भी कहा जा सकता है कि पुरापाषाण और नवपाषाण काल के बीच का सांस्कृतिक काल ईसा से लगभग 10,000 वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ था और ईसा के लगभग 4,000 वर्ष पहले तक चलता रहा। दुनिया से हिमाच्छादन की पुरानी अवस्थायें लगभग समाप्त हो चुकी थीं। गर्म मौसम प्रारम्भ हो चुका था। मौसम में जो एकाएक परिवर्तन हुए, मानव ने उनके साथ सामंजस्य स्थापित कर लिया था।

हालांकि पहले के दोनों प्रस्तर युगों की तुलना में इस युग का मानव अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में और घना बसा हुआ था फिर भी भारत के मध्य पाषाण की जो जानकारी हमें प्राप्त है उसका आधार मुख्यत: कुछ थोड़े से स्थल हैं जहां पर खुदाइयां कराई गयीं और अध्ययन किये गये हैं। खुदाई के महत्वपूर्ण स्थल हैं: पश्चिम बंगाल में बीरभानपुर, तमिलनाडु में टेरी स्थल, गुजरात में लंघनाज, राजस्थान में बागौर, मध्य प्रदेश में भीमबेटका और आदमगढ़ तथा उत्तर प्रदेश में सराय नाहर राय। इन खुदाइयों से प्राप्त जानकारी को संक्षेप में भट्टाचार्य ने इस प्रकार बताया है:

(1) मध्य पाषाणकालीन मानव ने न केवल अपना विशिष्ट अनुकूलन कर लिया था वरन् ईसा से लगभग आठ हजार वर्ष पूर्व उसने अपने हाथों से बनाये गये 'घरों' में रहना भी शुरू कर दिया था। दूसरे शब्दों में इसी तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस संस्कृति के प्रारम्भ का

समय यूरोप और अफ्रीका में इसी प्रकार के विकास के समय से मेल खाता है। इतने पहले के समय का हमें भारत में अब तक केवल एक स्थल मिला है जो सराय नहर राय है। भारत में मिले शेष सभी स्थल ईसा से पांच हजार वर्ष पूर्व से दो हजार वर्ष पूर्व के बीच के हैं।

(2) इनमें से अधिकतर स्थलों से पत्थर के छोटे उपकरणों (लघुपाषाण या माइक्रोलिथ) के प्रचलन की जानकारी मिलती है, फावड़े व बड़ी कुल्हाड़ियों के प्रयोग के प्रमाण नहीं मिलते। गैंडे के कन्धे की हड्डी का प्रयोग जिसके साक्ष्य लंघनाज में पाये गये हैं, इस पक्ष का उद्घाटन करता है कि उस समय तक पत्थर के अतिरिक्त अन्य दूसरी वस्तुओं का उपयोग भी शुरू हो चुका था। हिरन के सींघों और हाथी दांत का प्रयोग भारत के मध्यपाषाण काल में शायद ही हुआ हो। अपने रगड़े जाने के प्रमाणों के साथ 'हेमाटाइट' और गुलेल में इस्तेमाल किये जाने वाले पत्थर के छोटे गोले मध्यपाषाण काल की संस्कृति और शिकार खेलने के तरीकों की विशेषतायें हैं। मध्य प्रदेश के भीमबेटका और उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिलों में पाये गये शैल चित्र मध्य पाषाण के अन्य चित्रों से अलग हैं। इन सब में जानवरों के स्वरूप बनाये गये हैं। शिकार के मुख्य प्रसाधन भाले थे जिनमें माइक्रोलिथ के कांटे (बार्ब) लगे थे।

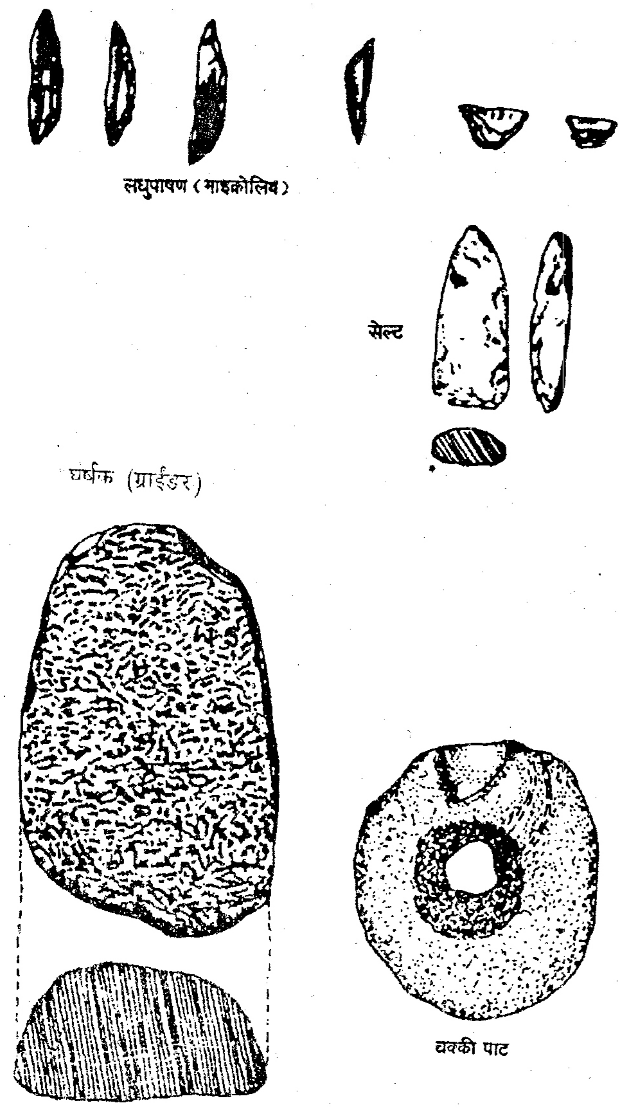
(3) भीमबेटका में गुफा के मुख पर एक विशेष प्रकार की संरचना के प्रमाण मिले हैं जो हवा के बहाव को रोकने के लिए बनाई गयी प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि बागौर में रहने योग्य फर्श बनाने के लिए नदी तल से प्राकृतिक रोड़ी लाने की व्यवस्था भी की गयी थी।

(4) आदमगढ़ में पाई गई हड्डियों की एक बड़ी मात्रा पालतू जानवरों की है, शेष वे हैं जो शिकार के कामों में इस्तेमाल की जाती होंगी। पालतू जानवर की बात से यह संकेत नहीं लेना चाहिए कि उस युग में चारागाह पर आधारित अर्थ-व्यवस्था थी, क्योंकि जो हड्डियां पायी गयी हैं उनमें लगभग 6 प्रकार के स्तनपायी जानवरों की हड्डियां हैं। इसके अलावा आदमगढ़ पहाड़ी गुफाओं का स्थल है और चारागाहों पर निर्भर मानव समूह ऐसे स्थान पर लम्बी अवधि तक नहीं रह सकते। स्पष्ट है कि इन स्थानों के बारे में हमारी जानकारी पूर्ण नहीं है। सम्भव है कि वह एक नवजात उद्योग का ही प्रतिनिधित्व करता हो।

(5) मानव समूहों में परस्पर लड़ाई या युद्ध इस युग में संयोग की बात नहीं थी। इसका प्रमाण वह कंकाल है जो सराय नाहर राय में मिला है और जिसकी पसलियों में एक माइक्रोलिथ धंसा हुआ है। भारत में मध्यपाषाणकालीन संस्कृति की विशेषता पत्थर से बने छोटे-छोटे औजार हैं। ये औजार एक सेन्टीमीटर तक लम्बे होते थे और इनका निर्माण इस युग का प्रमुख उद्योग था। स्पष्ट है कि इस तरह के औजार अकेले नहीं इस्तेमाल किये जाते होंगे, इन्हें लकड़ी में या बैल आदि के जबड़े की हड्डियों में जड़ लिया जाता होगा। मूढ़ या दस्ता लगाने के काम के साक्ष्य हमें भारत में तो नहीं, विदेशों में अवश्य मिले हैं।

माइक्रोलिथ उपकरण सबसे पहले कार्लाइल द्वारा 1867 में विन्ध्य शैल-शरण स्थल में पाये गये थे। इसके बाद 19वीं शताब्दी में उन्हें दो स्थलों पर कार्क्बन और रिवेटकार्नेक द्वारा पाया गया। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कैमिएड, टॉड, हन्ट और गार्डेन ने उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में इनके पाये जाने की रिपोर्ट दी (अग्रवाल, 1984)। किन्तु मेसोलिथिक पर प्रणालीबद्ध और वैज्ञानिक अनुसंधान कार्य केवल संकालिया द्वारा गुजरात के लंघनाज नामक स्थान की खुदाई से प्रारम्भ हुआ। जिउनर, ऑलचिन, कृष्णास्वामी, सुब्बाराव और मलिक ने भी विभिन्न स्थानों की खोज की और खुदाइयां कराई। हाल के वर्षों में वर्मा ने उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में, जोशी और खरे ने मध्य प्रदेश में और संकालिया ने कर्नाटक में खुदाई कराई। वी॰ एन॰ मिश्रा ने राजस्थान व मध्य प्रदेश में उत्खनन कार्य कराया और भारत के मध्यपाषाण काल पर काफी लिखा और प्रकाशित किया।

लंघनाज में कई महत्वपूर्ण चीजें मिली हैं। मध्यपाषाणकालीन भू-परतों में ज्यामितिक आकार के जो माइक्रोलिथ मिले हैं उनमें अर्धचन्द्राकार, अर्धत्रिकोण, नवचन्द्राकार, असमान्तर-भुज गोलाई लिये हुए, चतुर्भुजाकार और चौकोर हैं। अधिकतर काले चकमक पत्थर गोमेद, इन्द्रगोप और कुछ क्वार्ट्ज नामक पत्थर पर बनाये गये हैं। गैंडों के कन्धों का जो बड़ा हिस्सा यहां पाया गया है उसके बारे में राय यह है कि उससे पत्थर के छोटे उपकरण बनाने में निहाई का काम लिया जाता था। इस सबके अतिरिक्त मध्यपाषाण काल का आदमी गाय, भैंस, सुअर, बकरी, मछली व कुत्ते आदि पर भी निर्भर रहता था। लंघनाज में पाये गये मानवीय कंकालों ने अपनी प्रजाति के मामले में



मध्य पाषाण एवं नवपाषाण कालीन उपकरण

अवशेष मिले। सामान्यत: दक्षिणी मध्यपाषाण संस्कृति की विशेषता यह है कि मुख्यत: स्फटिक से ही उपकरण बनाये जाते थे जिसमें चपटी धार की तकनीक का इस्तेमाल होता था। यहां से प्राप्त उपकरणों में ज्यामितिक तत्व या तो बिल्कुल नहीं हैं और यदि कहीं हैं भी तो बहुत थोड़े। चूंकि संग्रह का अधिकांश भाग जमीन की सतह (सर्फेस कलेक्शन) से पाया गया है और खुदाई के जो थोड़े से प्रयास किये गये थे वे औजारों की खोज तक ही सीमित थे, इसलिये हम मध्य पाषाण युग के बारे में उसके उपकरणों के अतिरिक्त कुछ नहीं जानते (अग्रवाल, वही)।

राजस्थान में भीलवाड़ा जिले में कोठारी नदी के तट पर स्थित बागौर एक ऐसा स्थल है जो अब भी भारतीय मेसोलिथिक का बहुत महत्वपूर्ण और विस्तृत स्रोत है। इस जगह पर पाये गये सांस्कृतिक अवशेषों की विविधता और मात्रा दोनों बड़ी सम्पन्न हैं। इस स्थल का पता 1967 में मिश्रा ने लगाया था। यहां की बस्तियों में मिट्टी के घरों के ठोस ढांचे, पत्थरों को बिछाकर बनाए गये फर्श, अपेक्षाकृत अधिक बर्तन और एक अच्छा प्रस्तर उद्योग पाया गया है। पूरे उपमहाद्वीप में बागौर ही वह स्थान है जहां मेसोलिथिक संस्कृति का सबसे अच्छा अध्ययन किया गया है। माइक्रोलिथिक उद्योग लगभग उस समस्त क्षेत्र में बंटा हुआ था जहां-जहां मानव बस्तियां थीं। कच्चे माल के रूप में स्फ़टिक और चकमक (बिल्लोरी) पत्थर इस्तेमाल होता था। माइक्रोलिथिक उद्योग अनिवार्यत: ज्यामितीय है और शिकार पर आधारित अर्थव्यवस्था का अंग है।

ऐसी अनगिनत जली हुई और फाड़ी हुई हड्डियों और पत्थरों के टुकड़े मिले हैं जिनका इस्तेमाल हड्डियों को तोड़ने और छोटे औजार बनाने में किया जाता था। केवल एक कब्र ऐसी पाई गई है जिसमें शव का सिर पश्चिम की ओर रखा हुआ मिला है। यह कब्र बस्ती के बीच में है और उसके साथ ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला है जो मनुष्य की अन्त्येष्टि संस्कार से सम्बद्ध माना जा सके। इस उद्योग को औजारों के स्वरूप के मामले में पूर्णत: तथा कारीगरी की दृष्टि से बहुत ऊंचे स्तर का माना गया है। रेडियो-कार्बन द्वारा समय जानने की विधि के अनुसार यह स्थल ईसा से 4,600 वर्ष पहले का है।

काफी वाद-विवाद पैदा किया। जिस सिकुड़ी हुई स्थिति में ये कंकाल पाये गये थे उससे ऐसा लगता है कि उनके मरने के बाद कुछ औजारों के साथ इसी हालत में उन्हें एक निश्चित उद्देश्य से दफन किया गया होगा।

उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जिले में सराय नाहर राय का उत्खनन शर्मा ने कराया था। यहां चूल्हे भी पाये गये थे। 5 X 4 मीटर के एक चौके में, जो कुटी हुई राख और जली हुई मिट्टी से बनाया गया था, चारों कोनों पर चूल्हे में जानवरों की जली-अधजली हड्डियां और माइक्रोलिथ प्राप्त हुए हैं पर इन्सानी हड्डियाँ नहीं पायी गयीं। रसोई में पाई गयी हड्डियों से ज्ञात होता है कि उस समय भारत के इस हिस्से में बारह सिंह, जंगली सांड या भैंसे, गैंडा, मछली-मेंढक आदि पाये जाते थे। इसी स्थल के निकटवर्ती क्षेत्र में तेरह शवाधि स्थान भी पाए गये जिनमें शव के सिर को पश्चिम की ओर तथा दोनों हाथों को पेट के ऊपर रखा हुआ पाया गया। इनके आस-पास के क्षेत्रों में भी चूल्हे पाये गये हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मरे हुए लोगों को बस्ती के भीतर ही दफनाया जाता था। सराय नाहर राय से मिली लघुपाषाण संस्कृति इन सबसे पहले की है क्योंकि इस युग के शवस्थानों, चूल्हों-चौकों और उसकी भूपरतों में कहीं भी मिट्टी के बर्तन नहीं मिले हैं।

मध्य प्रदेश की गुफाओं और आश्रयस्थलों में पत्थर के छोटे-छोटे उपकरण (माइक्रोलिथ) काफी मात्रा में मिले हैं। संकालिया का विचार है कि पश्चिम से लेकर पूर्व तक सम्पूर्ण विन्ध्य पर्वतश्रृंखला न केवल इन उपकरणों का बड़ा स्रोत है वरन् इसी में मध्य भारत की माइक्रोलिथिक एवं मेसोलिथिक समस्या का समाधान छिपा है। भीमबेटका में मध्यपाषाण संस्कृति का आम सिलसिला ज्यामितिक आकार के उपकरणों से शुरू होता है और वहां मिट्टी के बर्तन नहीं पाये गये। होशंगाबाद के पास आदमगढ़ में भी भीमबेटका जैसा क्रम ही मिला है। माइक्रोलिथिक उद्योग ज्यामितीय है हालांकि तुलनात्मक रूप में कम विकसित है। मिट्टी के बर्तन भी माइक्रोलिथिक स्तर के ही पाये गये हैं।

कर्नाटक पठार के पश्चिमी किनारे पर स्थित संगनकल्लू में पहले सुब्बाराव ने और बाद में संकालिया ने उत्खनन कराया। वहां ट्रैप (काली चट्टान) और क्वार्ट्ज (स्फटिक) नामक पत्थरों पर आधारित उद्योग के

यह स्पष्ट नहीं है कि पत्थर के ये छोटे औजार (माइक्रोलिथ) बाहरी प्रभाव की देन थे या अपने से पहले के पाषाण उद्योग से विकसित हुए थे। न केवल भारत वरन् यूरोप, अफ्रीका, एशिया आदि सारे संसार में यह उद्योग पाया गया है जिससे इनके बीच किसी तरह के सांस्कृतिक सम्पर्क का संकेत मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि अफ्रीका से मानव की एक नयी प्रजाति इन औजारों के साथ भारत आयी थी।

नवपाषाण काल (नियोलिथिक)

नवपाषाण काल की संस्कृति इस बात की परिचायक है कि उस समय समाज में अनेक आर्थिक और प्रौद्योगिक परिवर्तन हुए। वे परिवर्तन इतने दूरगामी परिणामों वाले थे कि अनेक विद्वानों ने इस चरण को नियोलिथिक रिवोल्यूशन (नवपाषाण क्रांति) कहकर पुकारा है। हालांकि नवपाषाण काल बहुत पहले, 7,000 ई० पू० शुरू हुआ था लेकिन भारत में इस युग की जो बस्तियाँ पायी गयी हैं वे 4,000 ई० पू० से अधिक पुरानी नहीं हैं। इस युग की प्रौद्योगिक विशेषता यह थी कि मानव ने पत्थर घिसकर और उन पर पालिश करके उपकरण बनाना शुरू कर दिया था। आर्थिक क्षेत्र में वह भोजन का उत्पादन भी करने लगा था; गाय, बैल, सुअर, बकरी और कुत्ते पालने लगा था। इन सबसे उसे आत्मनिर्भर होने में काफी सहायता मिली। बाद में वह बर्तन भी बनाने लगा। जीवन की इस नयी शैली में वह सामूहिक रूप से निश्चित स्थानों में बस्तियां बनाकर रहने भी लगा। उसका घुमक्कड़ जीवन (मुख्यत: भोजन की तलाश) समाप्त हो गया। उसके और जमीन के उर्वर टुकड़े के बीच जिसे खेत कहा जाता है, एक नया सम्बन्ध स्थापित हुआ। इस सम्बन्ध ने उसका सम्पूर्ण जीवन बदल दिया। वह अब घुमक्कड़ शिकारी नहीं रहा। छोटे-छोटे समूहों में उसका इधर-उधर घूमना बन्द हो गया। उसने संगठित समुदाय या सामाजिक जीवन का विकास कर लिया।

नवपाषाण काल की संस्कृतियों में हालांकि बहुत-सी समानताएं हैं फिर भी हरेक में स्थानीय पर्यावरण और विविध प्रकार के प्रभावों के कारण अपनी क्षेत्रीय विलक्षणताएं भी हैं। इसलिए उनका क्षेत्रीय अथवा क्रमानुसार वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इन संस्कृतियों के एक साथ विकसित होने, समसामयिक होने तथा एक दूसरे से प्रभावित होने की सम्भावना बताने वाले अनेक सांस्कृतिक साक्ष्य भी देखे गये हैं।

नवपाषाण काल की संस्कृतियों के अवशेष भारत में जहां-जहां मिले हैं, उन महत्वपूर्ण उत्खनन स्थलों के नाम हैं : कश्मीर में बुर्जाहोम, गुफकराल और मार्तण्ड, दक्षिण में ब्रह्मगिरि, संगनकल्लू, पिकलिहल, मस्की, नागार्जुन-कोन्डा, उन्तूर नरसीपुर और टेक्कलकोटा; पूर्वी क्षेत्र में दोओजली, हैडिंग और चिरन्द की खुदाइयों में मिली हैं।

उत्तर भारत में नवपाषाण काल की संस्कृति के अवशेष श्रीनगर (कश्मीर) से लगभग 20 किलोमीटर दूर बुर्जाहोम नामक स्थान की खुदाई में पाये गये हैं। सबसे पहले इस स्थल की खोज 1935 में डी टेरा और पैटरसन ने की थी, परन्तु उस समय इन लोगों ने इसे सिंधु सभ्यता का एक स्थल समझा था। 1960-71 के बीच आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के एक विद्वान श्री खजान्ची ने यहां उत्खनन कराया और उसके नवपाषाण युगीन होने को प्रमाणित किया। इस क्षेत्र में नवपाषाण कालीन लोग एक पठार पर खोहों (गढ़ों) में रहते थे। उनकी प्रमुख अर्थव्यवस्था मछली पकड़ने और शिकार पर आधारित थी, हालांकि उन्हें खेती-बाड़ी का हलका-सा ज्ञान भी था। बुर्जाहोम के भंडारों को हम चार युगों में बांट सकते हैं जिनमें पहले दो नवपाषाण कालीन हैं, तीसरा महापाषाण कालीन (मेगालिथिक) और अन्तिम पूर्ण ऐतिहासिक। पहली अवधि की सबसे बड़ी विशेषता है-आदमियों का खोहों (गड्ढे) में रहना। ये खोह या गड्ढे अलग-अलग आकार के होते थे-गोल, चौकोर, अण्डाकार या आयताकार। गोल गड्ढे बड़े और गहरे होते थे। उनके खोदने के समय पड़े लम्बी कुठार के निशान अभी भी देखे जा सकते हैं। बड़े गड्ढों के मुख का व्यास 2.7 मीटर तक होता था और तल की चौड़ाई 4.6 मीटर तक होती थी। दीवारों पर मिट्टी की पोताई की जाती थी। नवपाषाण कालीन लोगों द्वारा तरह-तरह के औजार इस्तेमाल किये जाते थे जैसे पालिश किये हुए कुठार या फरसे, कुल्हाड़ी, मूसल, हंसिया, पालिश करने वालों की छेनी तथा बल्लम, भालों का फल आदि। पालिश किये हुए औजारों के अतिरिक्त वे लोग कई प्रकार के ऐसे औजार भी इस्तेमाल में लाते थे जिन्हें हड्डी से बनाया जाता था। अग्रवाल (वही) का मत है कि बुर्जाहोम का हड्डी से बने औजारों का उद्योग भारत में पाये गये नवपाषाण काल की संस्कृतियों में सर्वोत्कृष्ट और अनूठा है। ये औजार थे-हारपून (मछली मारने का भाला), सुइयां, कटनी, तीर और भालों के

फल, कटार, रांपी आदि। बुर्जाहोम के नियोलिथिक कुम्हार बहुत अच्छे बर्तन बनाते थे हालांकि चाक का इस्तेमाल तब तक उन लोगों को ज्ञात नहीं था। पन्त (1972) ने रेडियोग्राफी द्वारा बर्तनों की जांच करके प्रमाणित किया कि वे कुंडलीकरण की क्रिया द्वारा बनाये जाते थे। बर्तनों पर पड़ी अनेक तरह की बुनाई की छाप यह सिद्ध करती है कि उन्हें चटाइयों पर बनाया जाता था। बर्तनों पर चीरा आदि लगाकर या नक्काशी द्वारा तरह-तरह के डिजाइन भी बनाए जाते थे। उनके रंग धवल से भूरे तक कई प्रकार के हैं। शिकार के दृश्यों की चित्रकारी भी पायी गयी है। मनुष्य और जानवर दोनों को दफनाया जाता था। कालक्रम जानने की कार्बन पद्धति से पता चलता है कि यह संस्कृति 2400 से 1400 ई॰ पू॰ पुरानी थी।

नवपाषाण काल के सबसे पुराने अवशेष दक्षिण भारत में संगनकल्लू नामक स्थान में पाये गये हैं। यहां का उत्खनन सुब्बाराव ने कराया था, व्हीलर ने ब्रह्मगिरी नामक स्थान पर खुदाई कराई थी। दक्षिण भारत में पाई गयी नियोलिथिक संस्कृति की विशिष्ट वस्तु नुकीली मूठ की पालिश की हुई कुठार है। बसुला एक दूसरा औजार है जो उस युग का प्रतिनिधित्व करता है। कई तरह की छेनी या निहानियां भी पाई गयी हैं। कुछ नोकदार औजार भी पाये गये हैं जिनका इस्तेमाल किसी चीज को छेदकर उठाने, छेद करने अथवा नोक के इस्तेमाल वाले दूसरे बहुत से कार्यों में किया जाता रहा होगा। इनके अतिरिक्त, कूटने के पत्थर, गुलेल या गोफन से फेंकने वाले गोले तथा चक्की के पाट भी मिले हैं। इस जमाने में हड्डी के औजार भी इस्तेमाल किये जाते थे। इस युग में सेरिमिक (बर्तन निर्माण) का काम भी काफी होता था लेकिन इस युग के बर्तन धवल रंग की मिट्टी से हाथ द्वारा बनाये होते थे। मस्की में चक्के की मदद से बनाये गये बर्तन काफी मात्रा में मिले हैं। यह विकास बहुत बाद का जान पड़ता है। कूबड़ वाले बैल की टेराकोटा मूर्तियाँ भी पयी गयी हैं। लगता है कि इन जानवरों ने उस युग की अर्थव्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। यह भी प्रतीत होता है कि नवपाषाण काल के लोग पशुपालन और खेती-बाड़ी के काम से परिचित हो चुके थे। इसके प्रमाण स्वरूप पालतू भैंस, भेड़ और बकरी आदि के अवशेष मिले हैं। यह सही है कि इस युग के अवशेषों में अनाज या उसके सूचक चिह्न मिले किन्तु उदराकार काठीनुमा में पाट (चक्की के)

और मूसल जो पाये गये हैं वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि उस समय के लोगों को किसी प्रकार के अन्न की जानकारी अवश्य थी जिसे वे कूट कर खाया करते थे। यह तथ्य उस समय के दो कंकालों के घिसे हुए दांतों से भी प्रमाणित होता है। वे लोग झोपड़ों के घरों में रहते थे जिनके अवशेष बह्मगिरी और पिकलिहल में पाये गये हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस युग के लोगों को मिट्टी के बर्तन बनाने में महारत हासिल थी। उपलब्ध सी-14 (कार्बन-14) पद्धति के अनुसार दक्षिण भारत की नवपाषाण कालीन संस्कृति 2500-1000 ई॰ पू॰ की है।

असम की कछार पहाड़ियों के उत्तरी क्षेत्र में देवजली हैडिंग की खुदाई जो शर्मा ने कराई थी, को छोड़कर पूर्वी भारत में प्राप्त अधिकतर अवशेष भूमि की सतह से संग्रहीत किये गये हैं।

देवजली हैडिंग के छोटे से उत्खनन में पहली बार भू-तल से नीचे की परतों में अवशेष पाये गये। चमकीले पत्थर के कुठार और मिट्टी के बर्तन भूमि में काफी गहराई पर स्थित भण्डार में पाये गये थे। गोल और पालिश किये हुए कुठारों की मूठ चौड़ी और किनारे गोल और धारदार हैं। असम में नवपाषाण कालीन संस्कृति का जो नमूना पाया गया है वह देश के शेष भागों से प्राप्त इस युग के अवशेषों से काफी भिन्न लगता है। खुदाइयों में अनगिनत बर्तनों के टुकड़े मिले हैं। उनके साथ पत्थर की कुल्हाड़ियां भी मिली हैं, मिट्टी के बर्तन हाथ के बने हैं और उन पर डोरे से या झबियों की चटाइनुमा छाप से खूबसूरत डिजाइन बनाये जाते थे। नवपाषाण कालीन मानव मिट्टी की दीवारों से बने घरों में रहता था। दुर्भाग्य की बात यह है कि इस खुदाई में हमें उन लोगों की बस्ती के ढांचे के बारे में कोई सूचना नहीं मिली है। संकालिया असम की इस नवपाषाण कालीन संस्कृति को 4,000-2,000 ई॰ पू॰ की मानते हैं।

बिहार के सारण जिले में गंगा और घाघरा के संगम पर स्थित चिरन्द नामक स्थान को छोड़ कर दोआब क्षेत्र में कहीं पर भी नवपाषाण कालीन संस्कृति के अवशेष नहीं मिले हैं। बुर्जाहोम के बाद चिरन्द ऐसा अकेला स्थान है जहां हड्डी से बने अनेक किस्मों के औज़ार प्राप्त हुए हैं: कुठार, फरसे, शॉपियां, हथौड़े, सुइयां, सूजे, कटनी, बाण या भालों की छड़ को

सीधा करने वाला औजार तथा इन दोनों के नुकीले फल आदि। हड्डी के गहने भी बनाये जाते थे जैसे-पेन्डेन्ट, कुण्डल या ऐरन, चूड़ियां, टिकुली, बिन्दी और कंघी आदि। सिल-बट्टे और पत्थर के गोलों के अलावा पत्थर की कुल्हाड़ियां भी पायी गयी हैं। इस युग के औजार चकमक, कैलसीडोनी (स्फटिक की एक किस्म) जैसे पत्थरों से भी बनाये जाते थे। सबसे ज्यादा असरदार, आक्रामक हथियार थे धनुष और बाण। बाणों के अग्रिम भाग पर पत्थर और हड्डी की तेज धार वाली नोकें लगायी जाती थीं या चुभने व गहरी पीड़ा पहुंचाने वाले टेराकोटा के डंकमार गोले फिट किये जाते थे। इस युग के बर्तन बहुत अच्छे बने हुए हैं। हालांकि खुदाई करने वाले इन्हें हाथ का बना बताते हैं फिर भी ये उस युग के बर्तन निर्माण क्षेत्र में एक बड़े परिवर्तन के प्रतीक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले लोग छप्पर आदि से ढंके गड्ढों में रहते थे लेकिन बाद में मिट्टी-गारे की दीवारों से बने घरों के इस्तेमाल का चलन शुरू हो गया। यह भी प्रतीत होता है कि इस युग के लोगों को अन्न की खेती-बाड़ी की थोड़ी जानकारी अवश्य थी क्योंकि अवशेषों में गेहूं और धान की भूसी की राख पायी गई है। महत्वपूर्ण बात यह है कि टेराकोटा शैली में बनी सांप की मूर्तियां भी पायी गयी हैं जो नागपंथ के बारे में एक तरह की प्राथमिक सूचना देती हैं। चिरन्द की निगोलिथिक संस्कृति 1,000 ई० पू० शुरू हुई मानी जाती है, किन्तु इस बात की सुदृढ़ सम्भावना है कि वह इससे भी ज्यादा पुरानी हो।

नवपाषाण काल के लोग यद्यपि शिकार भी करते थे, लेकिन भोजन का ज्यादातर हिस्सा स्वयं उत्पादित करते थे। बैल को जोतने और सामान ढोने के काम में इस्तेमाल किया जाता था। कुत्ता, जो मनुष्य का प्राचीनतम मित्र है, न केवल शिकार में आदमी की मदद करता था वरन् घर-परिवार की सुरक्षात्मक चौकसी भी करता था। आदमी शिकार पर जाते थे, घर-परिवार की रक्षा करते थे और औरतें घर पर सन, गेहूं और जौ को कूटने-पीसने आदि का काम करती थीं। अनाज बोने, फसल काटने और उसे उपयोग में लाने की दृष्टि से यह आवश्यक था कि परिवार एक ही स्थान पर लम्बी अवधि तक निवास करे। सदियों के अन्तराल में नियोलिथिक युग के मनुष्य ने अन्य कलाओं का विकास भी किया। उसने जान लिया कि सन के तन्तुओं को बांट कर उससे धागा और रस्सी बनाई जा सकती है, धागे को

बुन कर कपड़ा बनाया जा सकता है। औरतें हड्डी की सुइयों से कपड़े को सिल कर सरल किस्म की पोशाकें तैयार करती थीं। आग की जानकारी ने उस युग के लोगों को यह भी बताया कि उसमे मिट्टी के बर्तन भी पकाये जा सकते हैं। उन्होंने बड़े और मोटे आकार के लम्बे लट्ठों को आग की मदद से बीच में जलाकर खोखला करना सीखा और खोखले लट्ठे ही संसार की पहली नावें थीं। इन नावों के बन जाने से उस युग का मानव नदियों का अपेक्षाकृत अधिक इस्तेमाल करने लगा तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने-जाने लगा। इस तरह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के संदर्भ में इस आविष्कार को प्रकृति के ऊपर मनुष्य की एक और विजय माना जा सकता है।

नवपाषाण काल के लोगों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे औजारों और हथियारों के मामले में पत्थरों पर अब भी निर्भर थे, इसलिए पहाड़ी इलाके में बसना उनकी मजबूरी थी। वे ज्यादातर पर्वतीय प्रदेशों की नदी-घाटियों में बसे। इसके अतिरिक्त वे लोग आवश्यकता से अधिक भोजन या वस्तुओं का उत्पादन भी नहीं कर पाते थे। फिर भी, इस युग में आकर मानव को व्यवस्थित जीवन मिला, वह खेती-बाड़ी करने लगा और इसलिए उसे अपने अस्तित्व के इतिहास में पहली बार सुकून और अवकाश का समय मिलने लगा। श्रम या काम के बंटवारे ने बहुत लोगों को अलग-अलग कामों में विशेषज्ञता प्राप्त करने का मौका दिया। व्यवस्थित सामुदायिक जीवन में मानव के आचरण व व्यवहार का नियमन करने के लिए नियम की जरूरत महसूस की गयी। यह जानना मुश्किल है कि नियम और कायदे कैसे बनाए और लागू किये गये लेकिन लगता है कि समुदाय सम्बन्धी निर्णय उस जमाने में या तो बस्ती के सभी लोगों की राय से लिए जाते थे या फिर यह काम समुदाय के बुजुर्गों की परिषद् करती थी जैसाकि आज भी जनजातीय समुदायों में प्रचलन है। उस जमाने में न कोई राजा होता था और न संगठित सरकार, मुखिया और सरगना अवश्य थे। पुरातत्वीय खुदाइयों में ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिला है जिससे यह समझा जा सके कि उस युग में समुदाय के किन्हीं सदस्यों को औरों की तुलना में बड़ा या श्रेष्ठ माना जाता था। इस प्रकार नवपाषाण काल में सामाजिक असमानता नहीं विकसित हुई थी। उत्पादन के स्रोतों का स्वामित्व समाज या समुदाय के हाथ में था। वैयक्तिक

सम्पत्ति की कोई योजना नहीं थी सिवाय व्यक्ति के अपने इस्तेमाल की छोटी-मोटी चीजों को छोड़कर, जैसे गहने, बर्तन आदि। इस प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था ने ही मोर्गन को इसे "आदिम (प्रारंभिक) साम्यवाद" कहकर सम्बोधित करने की प्रेरणा दी। बाद के चरणों में कदाचित नवपाषाण काल के ही मानव ने चाक का आविष्कार किया जिसने मानव संस्कृति में एक प्रौद्योगिक क्रांति का सूत्रपात किया। इसके बाद मानव ने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। नवपाषाण काल के प्रारम्भ से ही सामाजिक उत्थान और प्रौद्योगिक विकास की गति ने जोर पकड़ा था। बाद में लिपि के आविष्कार तथा मनुष्य की अन्य उपलब्धियों ने सभ्यता के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रागैतिहासिक कला

मानव की कलात्मक योग्यता का सबसे पुराना साक्ष्य हमें निम्न-पुरापाषाण काल में मिलता है। किन्तु इस दक्षता का पूर्ण प्रस्फुटन उच्च पुरापाषाण काल में और उसके बाद के दौर में हुआ। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कला के कुछ अपरिष्कृत नमूने इससे पहले भी बनाये गये थे लेकिन उन्हें सुरक्षित नहीं रखा जा सका। "हम निस्संदेह यह कल्पना कर सकते हैं कि मानव द्वारा रंगों का इस्तेमाल करके चित्र बनाने और खासतौर से बनाये गये औजारों से नक्काशी करने के बहुत पहले उसने अपनी अंगुली या लकड़ी के टुकड़ों आदि से बालू, धरती अथवा गीली मिट्टी पर अनगढ़ चित्र बनाये होंगे। स्वाभाविक है कि उसके वे चित्र अब तक सुरक्षित नहीं रह सकते थे" (लीके, 1960)। स्पेन, फ्रांस और इटली की गुफाओं में और शैल शरण स्थलों में उच्च खूबसूरत पेंटिंगें और कलात्मक वस्तुएं प्राप्त हुई हैं। यदि हम इस बात पर विचार करें कि पुरापाषाण काल की भित्ति कला (म्यूरल आर्ट) कहां-कहां पायी जाती हैं तो हमें उसके स्थलों को तीन श्रेणियों में बांटना होगा:

(1) अंधेरी गुफाएं और गलियारे जहां कृत्रिम प्रकाश की मदद के बिना कुछ भी नहीं दिखाई देता।

(2) खुले शैल-शरण स्थल जिनमें हम थोड़ी आगे की ओर झुकी हुई चट्टानें भी शामिल कर सकते हैं, हालांकि उन्हें शरण-स्थल नहीं कहा जा सकता।



शैल–गृह चित्रकारी का एक नमूना

(3) चट्टान की चपटी सतहों या स्थानच्युत शिलाखंडों पर।

अंधेरे कोनों या दुर्गम स्थानों पर बनी कलाकृतियों की प्रचलित व्याख्या यह है कि वे किसी प्रकार के ऐन्द्रजालिक टोटके की अभिव्यक्तियां हैं। यूरोप में पाये जाने वाले बहुत से तथा कुछ भारतीय भित्ति चित्र भी इस बात का समर्थन करते हैं क्योंकि इनमें से बहुतों में शिकार के दृश्य (बाण से बिंधे खून से लथपथ जानवर) दिखाये गये हैं। इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जानवरों को वास्तविक शिकार के पहले चित्र में पकड़ा और 'मारा' जाता था। उस युग के मानव के लिए कला वस्तुतः शिकार की प्रक्रिया का एक अंग थी। यह बात पुरापाषाण युगीन मानव द्वारा संसार भर में बनाये गये शिकार के अनगिनत दृश्यों से प्रमाणित होती है।

भारत में पहली शैल पेंटिंग की सूचना सौ वर्ष से अधिक समय पहले कार्लाइल ने दी। कुछ अन्य शोधकर्ताओं, जैसे काकबर्न, एन्डरसन, मिश्रा, घोष आदि ने शैल पेन्टिंग्स के और भी कई स्थल खोजे हैं और उन पर अपने प्रबन्ध लिखे और प्रकाशित किये हैं।

पुरापाषाण काल से मध्यपाषाण काल तक जिस प्रकार मानव की जीवन-शैली और उसके तौर-तरीकों में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए उसी प्रकार उसकी कला और उसके स्वरूप में भी व्यापक परिवर्तन हुये। भोजन संग्रह करने वाला शिकारी-घुमक्कड़ मानव खेती-बाड़ी और पशुपालन करने लगा था। इस बुनियादी परिवर्तन के साथ-साथ विचार-दर्शन और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण भी काफी बदल गया था। जैसा कि होसर का मत है कि "टोना भौतिक और प्रत्यक्ष-वादी है, उसका शिकंजा बड़ा मजबूत होता है, सर्वचेतन वाद आध्यात्मिक है और कल्पना या भावमगता की ओर ले जाता है।" यही कारण है कि पुरापाषाणकालीन कला में यथार्थ और जीवन की सच्चाई झलकती है जबकि नवपाषाण काल की कला रीतबद्ध और आदर्शीकृत कल्पना की दुनिया का विरोध करती है तथा साधारण एवं अनुभवजन्य यथार्थ में अभिरुचि रखती है।

मध्य प्रदेश की विन्ध्य पर्वत श्रृंखला की भीमबेटका पहाड़ियों में तथा आदमगढ़ और महादेव में पुरापाषण व मध्यपाषाण कालों के सांस्कृतिक अवशेष भारी मात्रा में पाये गये हैं। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं मध्य

पाषाण काल की पेन्टिंगें। इस क्षेत्र से प्राप्त कला के अवशेषों पर वर्मा, पाण्डेय, मठपाल और वक्कर ने बहुत अच्छा कार्य किया है। प्रारम्भिक पेन्टिगों में जंगली भैंसों, हाथी, शेर, गैंडों और सुअर के चित्र मिलते हैं। बाद की मध्यपाषाण कालीन पेन्टिगों में चित्र का आकार छोटा हो गया है किन्तु उनके विषय में काफी विविधता आ गयी है। पेंटिंगें दीवार या छत पर पायी गयी हैं। कुछ पेन्टिंगें सफेद रंग और मैग्नीशियम आक्साइड एवं ताँबे के घोल से प्राप्त काले और गहरे बैंगनी रंग को मिलाकर बनाई गई हैं। यह मिश्रण चित्र में गहरा चमकीला हरा शेड लाने के लिये किया गया है। वैसे ज्यादातर पेन्टिंगें हेमाटाइट या दूसरे प्रकार के आक्साइडों की मदद से लाल, पीले, नारंगी और भूरे रंगों में बनाई गयी हैं।

कहीं-कहीं निर्वस्त्र और कहीं कपड़े पहने हुए स्त्रियों के चित्र बनाये गये हैं। नक्काशी द्वारा बनाये गये जानवरों के चित्र भी मिले हैं। इन सभी शैल-चित्रों पर गम्भीरतापूर्वक वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य शुरू हो चुका है। मठपाल (1984) ने एक महत्वपूर्ण और मार्गदर्शक कार्य में भीमबेटका में प्राप्त शैल चित्रों के रंगों और उनके बनाने की प्रविधि का अध्ययन करने का प्रयास किया है, उन चित्रों में दर्शाई गयी विभिन्न किस्म की चिड़ियों की पहचान करने की कोशिश भी की गई है। मठपाल इन पेन्टिगों को चार किस्म की तकनीकी शैलियों में विभाजित करते हैं: सूखे रंगों अथवा खड़िया से बने चित्र, गीले अपारदर्शी या तेल से समारंजित रंगों से बने चित्र और स्प्रे कलर पेन्टिंगें। उनका कहना है कि भारत में खड़िया से बने चित्र दुर्लभ हैं। खनिज और गैरिक रंगों को किसी प्रकार की वनस्पति के रस या चर्बी आदि में मिलाकर ये चित्र बनाये जाते थे। भीमबेटका में जहां-जहां मध्यपाषाण युगीन अवशेष पाये गये हैं वहां-वहां उन्होंने इस्तेमाल किये गये हेमाटाइट (लाल रंग की वह मिट्टी जिसमें लोहे का अंश पाया जाता है) के अंश पाये गए हैं। पेन्टिंगों में बने विभिन्न किस्म के पक्षियों की पहचान के प्रयासों से कुछ दिलचस्प निष्कर्ष निकाले गये हैं, जैसे बहुत पहले की बनी पेन्टिंगों में वृक्ष की शाखाओं पर रहने वाली चिड़ियों के चित्र (जैसे गारैया) नहीं मिलते क्योंकि इन चिड़ियों का मुख्य भोजन अन्न होता है और भोजन की तलाश में स्वयं घूमने या शिकार करने वाला मानव-समाज तब अन्न से अपरिचित था।

उत्तर कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश की भुरभुरे पत्थर की चट्टानों ने नवपाषाण काल के मानव को यथोचित परिवेश प्रदान किया, वहां उसके तीन महत्वपूर्ण स्थल हैं: कपगल्लू, पिकलिहल व टेक्कलकोटा। इन स्थलों पर विभिन्न जानवरों के चित्र तो पाये ही गए हैं किन्तु कपगल्लू में एक स्थान पर विचित्र प्रकार के दृश्यों के चित्र भी हैं जिनमें सामान्य आकार से बहुत बड़े लिंग वाले एवं आवेश में भरे पुरुष स्त्रियों का अपहरण करते दर्शाये गये हैं।

'घरेलू कला' (होमआर्ट) के अन्तर्गत वे सभी कलाएं आती हैं जो चल-वस्तुओं पर बनाई जाती हैं। प्रागैतिहासिक मानव अपने शरीर को हाथी दांत, हड्डी, पत्थर और सीप की बनी माला अणि और बाजूबन्द जैसे गहनों से अलंकृत करता था। मध्य और नवपाषाण कालों के अवशेष जिन स्थलों पर पाये गये हैं वहां जानवरों के दांतों और कम कठोर पत्थरों पर तरह-तरह के चित्र व डिजाइनों की नक्काशी भी मिलती है।

प्रागैतिहासिक कला की खोज, हालांकि वह बहुत कम की गई है प्रागैतिहासिक मानव के एक महत्वपूर्ण पक्ष को उजागर करती है। भट्टाचार्य (1984) ने सार रूप में उसका हवाला देते हुए उचित ही कहा है कि वह पुरापाषाणकालीन प्रागैतिहासिक मानव की बहुत पहले की मानसिक स्थिति की सूचक है। खुदाई में प्राप्त पारिस्थितिक साक्ष्यों और मलबे की तरतीब आदि ने प्रागैतिहासिक समाजों के बारे में अनेक संकेत दिये हैं किन्तु उस युग के मानव का मस्तिष्क विवेचनकर्ताओं के लिए अज्ञात ही रहा। उसकी चिन्तायें, उसकी मानसिक उद्विगनताएं अथवा उसके आनन्द और हर्षतिरेक के बारे में हम कभी न समझ पाएंगे। अकेले कला ही वह खिड़की है जिससे हम उसके मस्तिष्क में झांक सकते हैं और इसीलिए वह महत्वपूर्ण है।

सिन्धु सभ्यता

भारत के कई भागों में नवपाषाण काल के बाद 'चैलकोलिथिक' (ताम्र-प्रस्तर युगीन) संस्कृतियों का उदय हुआ। इस युग में पत्थर और तांबे, दोनों का साथ-साथ उपयोग होता था। हालांकि इनमें से ज्यादातर संस्कृतियां हड़प्पा संस्कृति के बाद की हैं, फिर भी उससे काफी पिछड़ी हुई लगती

हैं। न उनकी कोई अपनी लिपि थी और न उन्होंने शहर आदि बसाए थे। इसलिए जिसे भारत की प्रथम सभ्यता माना जाता है वह सिन्धु सभ्यता ताम्र-प्रस्तर कालीन अन्य संस्कृतियों से अधिक प्राचीन है किन्तु उसकी बहुत-सी विशेषताएं हमें अब तक ज्ञात नहीं हैं। यह हड़प्पा संस्कृति के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि हड़प्पा नामक स्थान में इसके काफी अवशेष मिले हैं। सिन्धु सभ्यता इसे इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसके अवशेष पहले सिन्धु घाटी में कई जगह की खुदाइयों में पाये जा चुके हैं।

ऐसा लगता है कि ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व सिन्धु-घाटी में हड़प्पा-संस्कृति का 'एकाएक' विकास हुआ। इस संस्कृति को हम "किसी भी क्रांति की तरह मानव की प्रतिभा और सुअवसरों का आकस्मिक परिणाम कह सकते हैं" (व्हीलर, 1953)। इस महान् संस्कृति का विकास मानव की रचनात्मक प्रतिभा और पारिस्थितिक सुअवसरों की वजह से हुआ। यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है कि सिन्धु सभ्यता आकस्मिक रूप से विकसित हुई, फिर भी हाल के कुछ अध्ययनों में मुगल (1970-74) ने इस तथ्य की ओर इंगित किया है कि सिंधु सभ्यता के विकास में कई संस्कृतियों का योगदान रहा है। इसलिए हड़प्पा के ठीक पहले की संस्कृतियों को प्रचलित शब्दों में 'हड़प्पा-पूर्व की' (प्री हड़प्पन) न कह कर उसे हड़प्पा की प्रारम्भिक संस्कृति (अरली हड़प्पन) की संज्ञा देते हैं।

हड़प्पा के पूर्व की संस्कृति के अवशेष हमें भारत-ईरान सीमा क्षेत्र तक में अनेक स्थानों पर मिले हैं। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण स्थलों के नाम हैं: ब्लूचिस्तान में किली गुल मुहम्मद, दम्ब सादात, पेरिआनों-धुन्दाई और कुल्ली मेंहली, सिन्ध में अमरी, कोट दिजी, मोहनजोदड़ो और गुमला, पंजाब में हड़प्पा, उत्तर राजस्थान में कालीबंगन और गुजरात में लोथल। इन स्थलों के उत्खनन से जो एक सामान्य तथ्य सामने आया वह यह था कि इस युग के लोग शहरीकरण की चौखट पर पहुंच चुके थे। पूर्व-हड़प्पा संस्कृति की कुछ खास विशेषताएं हैं-किलेबन्दी की दक्षता, भवन निर्माण सम्बंधी विस्तृत ज्ञान, मिट्टी के बर्तनों का निर्माण, पशुपालन और व्यापार आदि। यह संस्कृति 2,700 से 2,400 ई॰ पू॰ अस्तित्व में थी।

हड़प्पा संस्कृति का सबसे पहली बार 1921 में पता लगा। पाकिस्तान स्थित पश्चिमी पंजाब के हड़प्पा नामक स्थान की खुदाइयों में इसके अवशेष मिले। इस जानकारी से भारतीय इतिहास की प्राचीनता में कम से कम एक हजार वर्ष और जुड़ गये। पंजाब में हड़प्पा के उत्खनन के उपरान्त ऐसे अनेक स्थलों का पता लगा जहां हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिले हैं। ये स्थल हिमालय के तराई क्षेत्र रोपड़ से लेकर अरब सागर के तट तक पाये जाते हैं। इस क्षेत्र के अन्तर्गत पंजाब, सिंध, ब्लूचिस्तान, गुजरात, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ सीमांत स्थान आते हैं। यह पूरा क्षेत्र एक त्रिकोण जैसा लगता है। इसका क्षेत्रफल लगभग 2,99,600 वर्ग कि॰मी॰ है जो निश्चित रूप से बड़ा है। ईसा से पूर्व की तीसरी या दूसरी सहस्राब्दी में विश्व का कोई भी सांस्कृतिक क्षेत्र हड़प्पा संस्कृति के इस इलाके जितना लम्बा-चौड़ा नहीं था।

हड़प्पा संस्कृति 250 से भी अधिक स्थलों की खुदाइयों में मिली है। इनमें से चार स्थल ऐसे हैं जिन्हें शहर माना जा सकता है। दो शहर अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं-पंजाब में हड़प्पा और सिन्ध में मोहनजोदड़ो। ये दोनों स्थान इस समय पाकिस्तान में हैं। इन दोनों के बीच 483 किलोमीटर का फासला है किन्तु सिंधु नदी इन दोनों को आपस में जोड़ती है। तीसरा शहर सिन्ध में मोहनजोदड़ो के दक्षिण में 130 कि॰ मी॰ पर स्थित चन्नूदारो नामक स्थान पर है, चौथा गुजरात में कस्बे की खाड़ी के ऊपर लोथल में, पांचवां उत्तरीं राजस्थान में कालीबंगन में और छठा बनवाली हरियाणा के हिसार जिले में पाया गया। "एक ही संस्कृति के अनेक स्थलों के बीच हड़प्पा और मोहनजोदड़ो एक ही साम्राज्य की जुड़वा राजधानी लगते हैं" (गॉर्डन चाइल्ड, 1952)।

सिन्धु सभ्यता तौल या माप के माध्यमों, मिट्टी के बर्तन, वास्तुकला, नगर-नियोजन तथा अन्य सभी शिल्पों और कलाओं में एकरूपता और उनके मानकीकरण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। ऑलचिन और ऑलचिन (1968) ने ठीक ही कहा है कि यह एकरूपता उस समय और विशिष्ट हो जाती है जब हम इस तथ्य पर गौर करते हैं कि यह संस्कृति दस लाख से अधिक वर्ग किलोमीटर में फैली हुई थी। इस एकरूपता का तात्पर्य क्या है? क्या यह समस्त क्षेत्र एक साम्राज्य के अन्तर्गत था अथवा यह एक

व्यापारिक क्षेत्र था? इन सवालों के उत्तर अनुमान के विषय हैं। ईसा के पहले तीसरी सहस्राब्दी में इतनी अधिक एकरूपता निश्चय ही एक अनूठी बात है। वैसे हाल के अध्ययनों में उसकी क्षेत्रीय विविधतायें भी धीरे-धीरे उजागर हुई हैं।

नगर-नियोजन एवं संरचना

हड़प्पा कालीन लोगों के शहर बड़े ही सुनियोजित होते थे। उनके शहरों में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा केन्द्रीय महानगर थे। चान्हुदारों, कालीबंगन, कोटदिजी, लोथल, रंगपुर, सुतकागेन्डोर और सुतकाकोह आदि द्वितीय श्रेणी की बस्तियां थीं। नगर नियोजन में बहुत ही सारूप्य था। लगता है कि यह उस समय के लोगों के कुशल प्रशासन और उत्पादन के केन्द्रीयकरण का परिणाम है। महानगरीय केन्द्रों में उनके अपने दुर्ग थे। इन दुर्गों में कदाचित तत्कालीन सत्ताधारी लोग रहते थे। शहर ब्लाकों में बंटा हुआ था। कहीं कोई भवन मुख्य मार्ग पर अतिक्रमण करता नजर नहीं आता जबकि सुमेर सभ्यता के अवशेषों में यह बात मिलती है। मार्ग पर स्थान-स्थान पर बने रोशनी के स्तम्भ इस बात के गवाह हैं कि उस जमाने में सड़कों पर प्रकाश की व्यवस्था थी।

मोहनजोदड़ो, रोपड़ और लोथल के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भवनों को ऊंचाई पर या चबूतरा देकर बनाया जाता था। भवन दो श्रेणी के होते थे। एक रहने वाले घर और दूसरे सार्वजनिक उपयोग की इमारतें। छोटे से छोटे घर में भी कम से कम दो कमरे, रसोई, स्नानघर, आंगन या गलियारा और सम्भवतः एक ऊपरी मंजिल होती थी। दुर्ग के अलावा अन्य प्रकार की सार्वजनिक इमारतें भी थीं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा दोनों में अन्न के बड़े-बड़े भंडार-गृह पाये गये हैं। ये भंडार-गृह भी ब्लाकों में बंटे हैं। हर भंडार-गृह के सामने माल चढ़ाने-उतारने तथा माल को फटकने के लिए चबूतरे बने हैं। मोहनजोदड़ो में विशाल स्नानगृह से जुड़ी जल-चिकित्सा की एक बड़ी व्यवस्था भी पायी गयी है। वहां पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी हैं और पानी की आपूर्ति निकटवर्ती कुएं से होती है। स्नानगृह के साथ गर्म-हवा में बैठने की भी व्यवस्था है।

लोथल में एक बहुत बड़ा भवन ऐसा भी पाया गया है जिसका इस्तेमाल

सम्भवतः नौकाओं के रखने के लिए किया जाता था। यहां समुद्री जहाज रुकते थे, माल लादा और उतारा जाता था। सिन्धु सभ्यता की सबसे अनूठी विशेषता उस समय की नालियों की व्यवस्था थी। घरों और सड़कों पर नालियों का निर्माण और बन्दोबस्त बहुत ही अच्छा और मुकम्मल था। यह उस समय के लोगों के शहर नियोजन सम्बन्धी अच्छे ज्ञान को प्रमाणित करता है। भवन-निर्माण कार्य में जिस सामग्री का इस्तेमाल हुआ है वह उस समय के लोगों की भवन निर्माण सम्बन्धी उत्तम जानकारी का परिचायक है। दीवारों, फर्श, स्नानगृहों, नालियों और कुओं के निर्माण में आमतौर से पकी हुई ईंटों का इस्तेमाल किया गया है। धूप से सुखाई ईंटों का इस्तेमाल नीवें भरने या छत आदि की भराई में किया गया है। मोहनजोदड़ो में ईंट के भट्ठों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं।

सामाजिक स्थितियां

शहरों का उद्भव और परिणामतः शहरी जीवन की शुरुआत सिन्धु-सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता है। विशेषज्ञता प्राप्त करने की तीव्र प्रवृत्ति के कारण लोग तरह-तरह के पेशे अपना रहे थे। फिर भी ज्यादातर लोग किसान थे जो शहर की दीवारों के पीछे रहते थे। वे गेहूं, जौ और मटर की खेती करते थे। कपास की भी खेती होती थी।

जानवरों और दुधारू पशुओं को पालने का प्रचलन था। समाज का वर्गीकरण भी शुरू हो चुका था। मोहनजोदड़ो के अवशेष इस तथ्य के साक्षी हैं कि जनता मुख्यतः चार वर्गों में बंटी हुई थी, विद्वान वर्ग अथवा बुद्धिवादी कुलीन समुदाय, सैनिक, व्यापारी और कारीगर, और चौथा वर्ग था मजदूरों का जो अपने में एक सर्वथा भिन्न वर्ग था।

इस युग के बहुत कम भौतिक अवशेषों के आधार पर उस समय के लोगों के धार्मिक जीवन का अनुमान लगाना खतरे से खाली नहीं है। काफी मात्रा में ऐसी मोहरें (सील) मिली हैं जिन पर कूबड़ वाले बैल की आकृति बनी हैं। हो सकता है तब बैल को पवित्र माना जाता रहा हो। एक मोहर पर कोई ईश्वर जैसी आकृति बनी मिली है। जिसे अब हिन्दुओं के आदि देवता शिव का प्रारम्भिक रूप माना जाता है। देवियों के रूप भी पाये गये हैं।

अनेक विद्वानों का मत है कि उस युग में राजा और मातृशक्ति देवी की आराधना प्रचलित थी। मोहनजोदड़ो का विशाल स्नानगृह परम्परागत धार्मिक-सार्वजनिक स्नानगृह भी हो सकता है। शवों को दफनाया भी जाता था और उनका दाह-संस्कार भी किया जाता था। कुछ विद्वानों के अनुसार लोग पेड़ों और कुछ जानवरों की पूजा भी करते थे।

हमें उस समय के लोगों के राजनीतिक संगठन का कोई ज्ञान नहीं है। मिस्र और मेसोपोटामिया के ठीक विपरीत यहां कोई मंदिर नहीं पाया गया। विशाल स्नानगृह के अलावा कोई दूसरी धार्मिक इमारत भी नहीं पायी गयी। इसलिए इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता कि सिन्धु सभ्यता में पुरोहितों अथवा धर्माचार्यों का शासन था। संभवत: वहां व्यापारियों के किसी वर्ग का शासन था।

आर्थिक कार्यकलाप

उस समय उर्वर भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी, इसलिए खेती-बारी के काम में तेजी से प्रगति हुई। यह लोगों का मुख्य व्यवसाय था। किसान बाढ़ वाले मैदानों से पानी उतर जाने के बाद बीज बोते थे और फसल तैयार होने पर गेहूं और जौ की कटाई करते थे। कोई हल या फावड़ा नहीं पाया गया है लेकिन यह आम तौर से सोचा जाता है कि वे लोग भूमि खोदने-गोड़ने के लिए लकड़ी की कूसिया (फाल) का इस्तेमाल करते रहे होंगे। फिर भी हमें इस बात का ज्ञान नहीं है कि हल आदमी खींचता था या बैल जोते जाते थे।

ये लोग कांस्य युग के थे। वे न केवल चित्र, मूर्तियां और बर्तन बनाते थे बल्कि कुल्हाड़ी, परशु, आरी, चाकू और भाले जैसे विभिन्न प्रकार के हथियार और औजार भी बनाते थे। बुनकर सूती व ऊनी कपड़े बुनते थे। सुनार सोने, चांदी और कीमती रत्नों से गहने बनाते थे। सम्भव है कि सोना, चांदी अफगानिस्तान से और कीमती रत्न दक्षिण भारत से आते रहे हों। कुम्हार के चाक का पूरा उपयोग होता था। वे अपने विशेष किस्म के बर्तन भी बनाते थे।

सिन्धु घाटी के लोगों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक विवाद का विषय रहा है। फेयरसर्विस (1971) उसके अस्तित्व से इन्कार करते हैं जबकि राव (1973) उसके प्रबल समर्थक हैं। किन्तु मेसोपोटामिया में ऐसे संदर्भ मिले हैं जो सिंधु घाटी के लोगों के साथ सम्पर्क व सम्बन्ध का संकेत देते हैं और यही उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आधार प्रदान करते हैं। राजस्थान, अफगानिस्तान व ईरान के साथ उनके व्यापारिक सम्बन्ध थे।

सिन्धु क्षेत्र के शहरी लोग व्यापार और अन्य प्रकार के आदान-प्रदान में तौल बाटों तथा नाप-जोख के दूसरे माध्यमों का इस्तेमाल करते थे। तौल के बट्टे विभिन्न प्रकार के पत्थरों से बनाये जाते थे। वे लोग धातु का सिक्का नहीं इस्तेमाल करते थे। उनकी मुद्रा के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं है।

लिपि

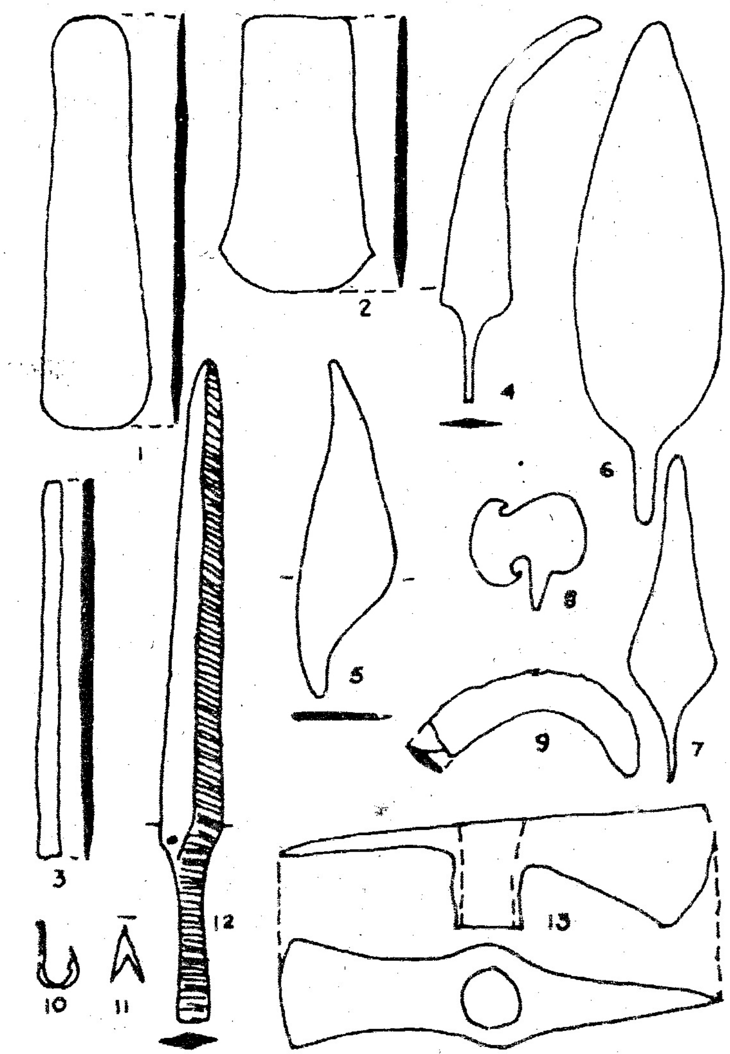
हड़प्पा युग की मुहरों, मोहर बन्दी और बर्तनों में चित्र लिपि में कथाएं लिखी हुई हैं। इस लिपि में कोई चार सौ चित्राक्षर हैं। मिस्र और मेसोपोटामिया के लोगों से भिन्न हड़प्पा संस्कृति के लोग अभिलेख नहीं लिखते थे। ज्यादातर अभिलेख मुहरों पर हैं और दो-चार शब्दों से ज्यादा के नहीं हैं। ये मुहरें सम्भव हैं धनाढ्य लोग अपनी सम्पत्ति की पहचान के लिए रखते हों। यह लिपि अब तक पढ़ी नहीं जा सकी है। विद्वानों का कहना है कि लिपि दाहिनी ओर से बांयीं ओर को लिखी जाती थी।

लगभग 1500 ई॰ पू॰ हड़प्पा संस्कृति का अन्त हुआ। उसका पतन क्यों और कैसे हुआ इस बारे में विद्वानों में व्यापक मतभेद है। कुछ लोग उसके पतन के लिए भूमि में नमक की मात्रा बढ़ जाने के कारण उसके बंजर होने और पड़ोसी रेगिस्तान के फैलाव को जिम्मेदार मानते हैं, कुछ इसे भयंकर बाढ़ की स्थितियां पैदा करने वाले प्राकृतिक प्रकोप का परिणाम मानते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि हड़प्पा संस्कृति का विनाश आर्यों के आक्रमणों से हुआ, हालाँकि अब तक ऐसा कोई पुरातत्वीय साक्ष्य नहीं मिला है जिससे आर्यों और हड़प्पाकालीन लोगों के बीच किसी सीधे या प्रत्यक्ष सम्पर्क की बात सिद्ध होती हो। इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए अपेक्षाकृत अधिक पुरातत्वीय अथवा भूपटल-रचना सम्बन्धी

प्रमाणों की आवश्यकता है।

हाल में एक रूसी विद्वान एम॰ दिमित्रियेव ने कहा है कि लगभग 3,500 वर्ष पहले मोहनजोदड़ो संस्कृति के लुप्त हो जाने का कारण वातावरण में हुआ कोई भौतिक-रासायनिक विस्फोट भी हो सकता है। किसी अन्य ग्रह के विजातीय लोगों द्वारा उसे आणविक विस्फोट में तहस-नहस करने की पूर्व-कलपनाओं को नकारते हुए दिमित्रियेव ने कहा है कि यह विनाश 'अदृश्य गाज' नामक प्राकृतिक प्रकोप का परिणाम भी हो सकता है। 'अदृश्य गाज' विषाक्त ऊर्जा के एक भयंकर विस्फोट को कहते हैं जो वातावरण में एक प्रकार की भौतिक रासायनिक विरचन के फलस्वरूप होता है। जहां वह अदृश्य गाज गिरती है वहां दूर-दूर तक सब कुछ स्वाहा हो जाता है। उस ऊर्जा की गर्मी 15,000 डिग्री सेल्सियस के आस-पास मानी जाती है। महाभारत नामक गौरव ग्रंथ में मोहनजोदड़ो के निकटवर्ती स्थान पर इस प्रकार के विस्फोट होने का जिक्र है जो 'आंखों को अन्धा करने वाले प्रकाश और बिना धुएं की आकस्मिक एवं व्यापक आग' के उपरान्त हुआ था। विश्व के दूसरे हिस्सों में गिरने वाली इस तरह ही अदृश्य 'गाजों' का जिक्र करते हुए दिमित्रियेव ने कहा है कि भौतिक-रासायनिक प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर कभी-कभी वातावरण में विषैली शक्ति पैदा हो जाती है जो वायु को दूषित कर देती है।

ऐसा लगता है कि मोहनजोदड़ो की जनता का सम्पूर्ण विनाश एक भयंकर विस्फोट के बाद फैली जहरीली गैस से हुआ और उसी से सारा शहर तहस-नहस हो गया। यह बात उस क्षेत्र में पाये गये नर कंकालों की अवस्थाओं और भीषण आग में पिघले हुए पत्थरों के अवशेषों से प्रमाणित होती है। दिमित्रियेव का कथन है कि गणना से ज्ञात होता है कि मोहनजोदड़ो के विनाश के दौरान वातावरण में लगभग 1,000 विरेचन और अदृश्य विद्युत के लगभग 30 सेंटीमीटर व्यास तक के 3,000 से अधिक निस्तारण हुए होंगे। इस निष्कर्ष को और भी मजबूत बनाने वाले आंकड़े व साक्ष्य उन अवशेषों के अध्ययन से प्राप्त किये जा सकते हैं जो उस भयंकर और व्यापक अग्निकाण्ड के उपरान्त अब तक वहां मौजूद हैं।



हड़प्पा संस्कृति के कांस्य उपकरण

ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृति (चाल्कोलिथिक कल्चर)

भारत की ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृतियों में परम्परा से वे संस्कृतियां शामिल मानी जाती हैं जो न तो शहरी हैं और न हड़प्पा की हैं। किन्तु उनकी पहचान तांबे और पत्थर के इस्तेमाल से की जाती है। आम तौर पर यही समझा जाता है कि ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृति हड़प्पा संस्कृति के बाद प्रारम्भ हुई। हड़प्पा की प्रारम्भिक संस्कृति की शहरी परम्पराएं लुप्त हो गयीं और उसके बाद जो परम्पराएं आयीं उनमें प्रधानतः ग्रामीण अर्थव्यवस्था परिलक्षित हुई। अंग्रेजी में इस युग को 'चाल्कोलिथिक' कहते हैं। यह मुहावरा मूलशब्द 'चेकोस' से बना है जिसका अर्थ है तांबा, लिथिक शब्द का तात्पर्य है पत्थर। नवपाषाण काल के अन्त तक मानव धातु का उपयोग करने लगा था। मानव के उपयोग में आने वाली सबसे पहली धातु 'तांबा' है। एक लम्बे अरसे तक तांबे के औजारों के साथ-साथ पत्थर के औजारों का इस्तेमाल होता रहा। समय के इस चरण में लोग अधिकांशतः नदी-तटों पर ग्रामीण बस्तियां बनाकर रहते थे। ये बस्तियां पर्वत-श्रृंखलाओं से दूर नहीं होती थीं। ये लोग 'माइक्रोलिथ्स' अर्थात् पत्थर से बने छोटे औजार इस्तेमाल करते थे और साथ में तांबे से बने औजार भी। किन्तु तांबे के औजारों का प्रचलन अपेक्षाकृत कम था। इस समय के लोगों ने ही मिट्टी के रंगीन बर्तनो का इस्तेमाल शुरू किया।

ताम्र-पाषाण काल में पहली बार भारत में सब तरह से सम्पन्न गांवों की स्थापना हुई। नवपाषाण काल के समुदायों की तुलना में इस युग के लोग ज्यादातर खेती-बाड़ी करते थे। शर्मा (1977) ने बड़ी संख्या में दफनाये गये बच्चों के साक्ष्य के आधार पर ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृतियों की आम कमजोरियों का वर्णन किया है। खाद्यान्न उत्पादक अर्थव्यवस्था होने के बावजूद इस युग में बच्चों की मृत्यु-दर काफी अधिक थी। इसका कारण पोषक आहार का अभाव, चिकित्साशास्त्र की अनभिज्ञता और छूत की बीमारियों का प्रसार हो सकता है। कुछ भी हो किन्तु यह सच है कि इस युग के लोगों की सामाजिक एवं आर्थिक जीवन-शैली लम्बी आयु को प्रोत्साहित करने वाली न थी। इसी चरण में सामाजिक असमानताओं ने भी जन्म लिया। पश्चिमी महाराष्ट्र के चन्दोली और नेवासा नामक स्थानों में कुछ बच्चों के

दफनाये जाने के प्रमाण मिले हैं। इनमें से कुछ कब्रों में ऐसे बच्चों के अवशेष मिले हैं जिनके गले में मनकों की मालाएं हैं किन्तु दूसरे बच्चों की कब्रों में केवल बर्तन ही मिले हैं। इस संस्कृति को 1,750 से 1,000 ईस्वी पूर्व का माना जाता है। जलमग्न अथवा दलदली मैदानों और घने वन क्षेत्रों को छोड़कर ताम्र-प्रस्तर युग की संस्कृति के अवशेष लगभग भारत भर में पाये गये हैं। भारत में 'चाल्कोलिथिक' (ताम्र पाषाण काल की) संस्कृतियों को छह क्षेत्रीय समूहों में बांटा जा सकता है:

1. अहाड़ बनास की ताम्र-प्रस्तर युगीन संस्कृति
2. मध्य प्रदेश की ताम्र-प्रस्तर युगीन संस्कृति
3. उत्तरी डकेन की ताम्र-प्रस्तर युगीन संस्कृति
4. डकेन (भारत का दक्षिणी पठार) की नवपाषाण काल व ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृति
5. गंगा के दोआब की ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृति और
6. पूर्वी क्षेत्र की ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृति

भारत में ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृतियों से सम्बन्धित हमारी अधिकतर जानकारी हमें जिन स्थलों से मिली है उनके नाम हैं: बनास संस्कृति के अहर, बागौर और गिलुन्द, मध्य प्रदेश के कायथा, महेश्वर, नवदाटोली नागदा, अवारा, मनोती और एवान, उत्तरी डकेन के प्रकाश, बहल, चनदोली, जोरवे, नेवासा, इनाम गांव और नासिक, डकेन में पिकलिहल, ब्रह्मगिरी और मास्की, गंगा दाआब में बहादुराबाद, अम्बाहेड़ी, हस्तिनापुर और अतरंजीखेड़ा, सौराष्ट्र में लोथल, रंगपुर, सोमनाथ और राजदी और पूर्वी क्षेत्र में चिरन्द और पन्दिन राजन धिबी। हड़प्पा की संस्कृति में जो विलक्षण एकरूपता मिलती है उससे सर्वथा भिन्न ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृतियों में स्पष्ट क्षेत्रीय पहचान और विभिन्नता पायी जाती है। दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में बनास संस्कृति प्रस्फुटित हुई, मालवा क्षेत्र में कायथा संस्कृति और मध्य गंगा घाटी में गेरूए रंग की पॉटरी (मिट्टी के बर्तन) की संस्कृति का विकास हुआ। इन संस्कृतियों में उनकी परस्पर विभिन्नता मुख्यत: मिट्टी के बर्तनों में नजर आती है। इनमें से अधिकतर संस्कृतियां तांबे के सीमित इस्तेमाल और पत्थर के चाकुओं के भरपूर इस्तेमाल के लिए जानी जाती हैं।

गेरूए रंग की मिट्टी के बर्तन ज्यादातर गंगा-दोआब के उत्खनन स्थलों में मिले हैं। जब लाल ने इन बर्तनों को पहली बार हस्तिनापुर में पाया तो उन्होंने देखा कि ये हाथ में रगड़ खाने पर अंगुलियों पर गेरूआ रंग छोड़ते हैं। इसलिए इन बर्तनों का नाम गेरूए रंग के बर्तन पड़ गया। तांबे के विभिन्न प्रकार के औजारों के जखीरे उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश में अनेक स्थानों पर आकस्मिक रूप में मिले हैं। इसलिए इन औजारों का नाम तांबे का जखीरा (कापर होर्ड्स) पड़ गया। भारतीय इतिहास के पहले की सभी प्राचीन संस्कृतियों में तांबे की धातु का इस्तेमाल होता था। इसलिए यह कोई विस्मय की बात नहीं है कि उत्तर-पश्चिम पाकिस्तान के शलोजन क्षेत्र से लेकर उड़ीसा के भगरापीर और दक्षिण भारत में कलूर नामक स्थानों में एक ही किस्म के औजार मिले हैं जबकि इन स्थानों में परस्पर काफी दूरी है। औजारों के प्रकार भी विविध हैं, कड़े-छल्ले, चौड़े और मोटे स्कन्ध के कुठार, तलवारें, दोधारी कुल्हाड़ियां आदि। पूर्वी क्षेत्र में मिलने वाले तांबे के औजार सरल और सादे किस्म के हैं। चौड़ी और मत्थेदार कुल्हाड़ियों और छल्ले ताम्र-प्रस्तर युग की सभी संस्कृतियों और सभी स्थानों में पाये जाते हैं। पिगट ने तांबे के जखीरों में पूर्व की ओर प्रस्थान करते हुए हड़प्पा के शरणार्थियों के अवशेष पाये हैं।

बनास संस्कृति का नाम उस नदी के नाम पर पड़ा जिसके तटीय क्षेत्र में अनेक स्थानों पर खुदाई में इस संस्कृति के अवशेष पाये गये हैं। दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में बनास नदी के तट पर लगभग पचास स्थलों पर इस संस्कृति के अवशेषों की आशा की गयी थी किन्तु उत्खनन केवल अहड़, गिलुन्द और कायथा में कराया गया। इस संस्कृति की खास पहचान काली और लाल मिट्टी के बर्तन हैं जिनका बाहरी हिस्सा सफेद रंग से रंगा जाता था। गोट आमतौर पर ज्यामितीय-समान्तर या तिरछी लकीरों में गोल या अर्ध वलयाकार मिलती है। इस संस्कृति के दूसरे चरण के बर्तनों पर ज्वार की मदद से भी डिजाइन बनाए गये हैं। लम्बे चावल की छाप भी बहुतों में मिलती है। दूसरा कोई जला हुआ या किसी तरह का अन्न नहीं पाया गया। पशुओं की हड्डियां बहुत मिली हैं। लोग कदाचित मेंढक, मछली, बकरा, भेड़, हिरन, सुअर और ढोर आदि का मांस खाते थे।

कायथा संस्कृति का नाम चम्बल की उपशाखा कलिसिन्ध के तट पर स्थित कायथा नामक स्थान के नाम पर पड़ा है। इस संस्कृति की खास

विशेषता यह है कि इस समय में तीन आकार-प्रकार के मिट्टी के बर्तन बनते थे। सर्वाधिक प्रचलित किस्म मोटे और मजबूत 'ब्राउन स्लिप्ड वेयर' नामक बर्तनों की थी जिन्हें गहरे लाल या जामुनी रंग से रँगा जाता था। बर्तनों पर बने ज्यादातर डिज़ाइन आमतौर पर रैखिक हैं। ऐसा लगता है कि कायथी लोग तांबे के मामले में काफी सम्पन्न थे क्योंकि खुदाई के केवल एक भाण्ड में ही तांबे की अट्ठाइस चूड़ियां मिली हैं। उन लोगों ने ब्लेड उद्योग का काफी विकास कर लिया था। फरसे, चाकू और दोतरफा धार वाले फलक कैलसिडोनी पत्थर के बनाये जाते थे। खुदाई में कहीं किसी भी घर या मकान की सम्पूर्ण योजना नहीं मिली। गड्ढ़ों से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि उस समय के लोग बांस की खपच्चियों से गोल या चौकोर झोंपड़े बनाते थे। दफनाने की प्रथा के किसी सूचक चिह्न की सूचना नहीं मिली है। मालवा और कायथा संस्कृति का प्रधान केन्द्र मालवा है, यहां तक कि बनास संस्कृति की पहुंच के प्रमाण भी यहां मिलते हैं। मालवा संस्कृति की पहचान है उसके बर्तन जिन्हें 'मालवा वेयर्स' के नाम से पुकारा जाता है। ये बर्तन धूमिल पीले या नारंगी रंग के हैं तथा इन पर काले और गहरे भूरे रंग से तरह-तरह के डिजाइन बनाये गये हैं। ये लोग तांबे और पत्थर के औजारों का प्रयोग करते थे। इनके झोंपड़े खपच्चियों और गीली मिट्टी के पलस्तर से बने होते थे। मालवा संस्कृति के अवशेष मध्य प्रदेश में भी मिले हैं और महाराष्ट्र में भी। सुप्रसिद्ध उत्खनन स्थल हैं-मध्य प्रदेश में एरन, नागदा और नवदाटोली तथा महाराष्ट्र में इनामगांव। नवदाटोली में मालवा संस्कृति के बर्तनों पर चित्रकारी के सबसे सुन्दर नमूने प्राप्त हुए हैं। काले और लाल रंग के बर्तनों पर छः सौ से अधिक मोटिफों का इस्तेमाल किया गया है जिनमें से कुछ ज्यामितिक और कुछ प्रकृति से सम्बन्धित हैं। अवशेषों से उस समय के लोगों की भोजन सम्बन्धित आदतों की भी विस्तृत जानकारी मिलती है। गेहूं, जौ और चावल के जले हुए दाने पाये गये हैं। अलसी, काले चने, मसूर, बेर, आंवला और एक किस्म की मटर आदि का प्रयोग भी ये लोग करते थे। ऐसे साक्ष्य भी मिले हैं जो यह बताते हैं कि उस समय गोमांस, हिरन और सुअर का मांस भी खाया जाता था।

जोरवे संस्कृति के अवशेष कोंकण को छोड़ कर पूरे महाराष्ट्र में पाये जाते हैं। जोरवे लोग जौ, गेहूं, मसूर और धान की खेती करते थे। मानव द्वारा सिंचाई करने के संकेत मिले हैं। खुदाई में कहीं भी रकाबी नहीं मिली है।

यह इस बात का संकेत भी हो सकता है कि उस समय खाना अर्ध-तरल रूप में खाया जाता होगा। मिट्टी का तवा शायद चपातियां बनाने के काम आता रहा होगा। बड़ी-बड़ी काठी की चक्कियों से ज्वार और गेहूं पीसा जाता रहा होगा। यह भी लगता है कि पांच बड़े गड्ढे जानवरों को भूनने के काम आते रहे होंगे। जोरवे संस्कृति के प्रमाणांक उस समय के बर्तन हैं। उनकी सतह लाल और नारंगी रंग की है और उस पर काले रंग से ज्यामितिक डिजाइनें बनी हैं। उनकी मिट्टी अच्छी है और अच्छी तरह से पकाया भी गया है। बालिग और नबालिग शव दफनाये जाते थे और दफनाते समय उनका सिर उत्तर की ओर रखा जाता था। बड़ों को सीधे-सीधे किन्तु बच्चों को हाथ के बने लाल और धवल रंग के घड़ों में दफनाया जाता था। स्त्रियों की छोटी मूर्तियां भी मिलती हैं। सिर-सहित और सिर-रहित ये मूर्तियां कच्ची भी हैं और पकाई हुई भी। इन मूर्तियों में अंगों का प्रतीकात्मक चित्रण है किन्तु जननेन्द्रियों के मामले में अतिरंजन किया गया है। संकेत यह मिलता है कि इन मूर्तियों का इस्तेमाल प्रजनन शक्ति की उपासना में किया जाता था। बस्तियों की संरचना भी कारीगरों के घटिया झोंपड़ों और गड्ढ़ों में बने घरों के विपरीत एक महत्वपूर्ण सूचना देती नजर आती है, बस्ती के बीच के हिस्से में कदाचित परिष्कृत या कुलीन लोग रहते थे।

पूर्वी क्षेत्र में ताम्र-पाषाण कालीन संस्कृतियों के अवशेष बिहार, बंगाल और उड़ीसा में पाये गये हैं। गंगा और घाघरा के संगम पर स्थित चिरन्द नामक स्थान पर जो बिहार के सारन नामक जिले में है, इस संस्कृति के अनेक और महत्वपूर्ण अवशेष पाये गये हैं। चिरन्द इस संस्कृति का एक खास उत्खनित स्थल है। हाथ के बने मोटी परत के धवल बर्तन, चाक पर बने लाल तथा काले व लाल बर्तन उद्योग का परिचय देते हैं। मर्तबान, रकाबी, टोटी वाले पात्र, कटोरी-कटोरे, लोटा आदि भी बनाये जाते थे। टेराकोटा पद्धति से बनी विविध प्रकार की वस्तुएं भी पायी गयी हैं। सांप की छोटी मूर्तियां इस संस्कृति में बहुत प्रचलित जान पड़ती हैं। नाग-पूजा का प्रारम्भ कदाचित इन्हीं लोंगों से शुरू हुआ हो। ऐसा लगता है कि इस समय के लोग शुरू से ही गड्ढ़ा खोदकर उस पर बनी झोंपड़ियों में रहते

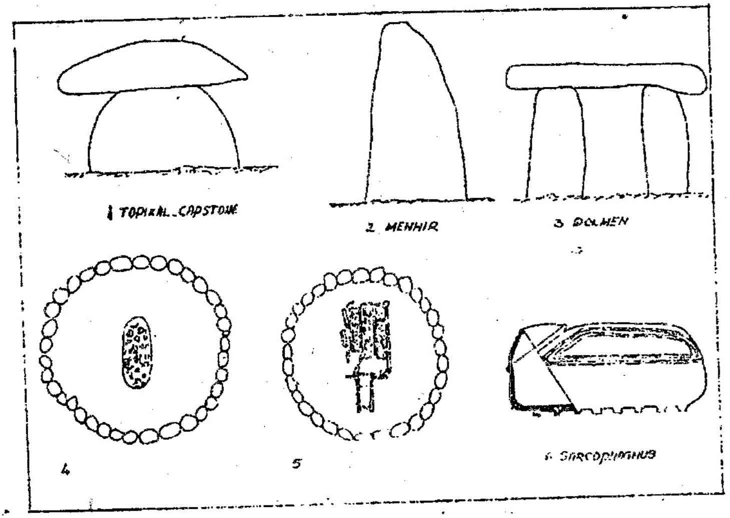
थे किन्तु बाद में वे लोग जमीन के ऊपर झोंपड़ियां बनाकर रहने लगे थे।

पिछले पृष्ठों में आपने जिन संस्कृतियों के बारे में पढ़ा उन सब में औजार और उपकरण बनाने में तांबे का इस्तेमाल होता था। बाद में वे लोग मिश्रित धातु का इस्तेमाल भी करने लगे थे। ये संस्कृतियां उन स्थानों पर उदित हुयीं जहां खेती-बाड़ी के लिए बड़े पैमाने पर जंगलों की कटाई आवश्यक न थी और जहां की भूमि कृषि योग्य थी। मनुष्य के इतिहास में दूसरा बड़ा कदम वह था जिसमें उसने लोहे की खोज की और उसका इस्तेमाल सीखा। वह तांबे और कांसे की तुलना में अधिक मजबूत होता है और प्रचुर मात्रा में उपलब्ध भी था। लोहे की खोज की बदौलत विभिन्न प्रकार के कृषि योग्य औजार और उपकरण बनाये जा सके। लोहे की कुल्हाड़ियों से बड़े पैमानों पर जंगलों को काट कर खेती के लिए भूमि साफ की जा सकी। लोहे के इस्तेमाल ने अनेक सभ्यताओं के विकास में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। लोहे की खोज के बाद मानव ने कभी मुड़ कर पीछे नहीं देखा और वह अधिक से अधिक प्रौद्योगिक विकास के प्रयासों में लगा रहा।

महापाषाण कालीन संस्कृति

मृत व्यक्ति के स्मारक चिह्न के रूप में बड़े-बड़े पत्थरों का प्रयोग विश्व भर में प्रचलित है। यूरोप की महापाषाण युगीन संस्कृति का सम्बन्ध नवपाषाण युग से है जबकि भारत में विशेषकर दक्षिण भारतीय महापाषाण युग की संस्कृति का सम्बन्ध लौह युग से है।

आर०ई० व्हीलर (1956) के अनुसार महापाषाण युग के स्मारक खुरदरे, वृहद् आकार वाले पत्थर के अपरिष्कृत टुकड़ों से बनाये गये हैं। इस स्मारकों में सदा एक निश्चित अल्पविकास का गुण परिलक्षित नहीं होता। ये स्मारक अन्त्येष्टि, स्मृति चिह्न या किसी धार्मिक परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं, ऐसा उन पर प्राप्त चिह्नों से ज्ञात होता है। भारत में महापाषाण युग की समाधियां एवं अन्त्येष्टि सम्बन्धी सर्वप्रथम अवशेष 1872 ई० में मिले थे।



दक्षिण भारत के प्रमुख महापाषाण प्रकार: 1. कैपस्टोन, 2. मेनहिर, 3. डॉलमेन, 4. पाषाण वृत्त (गड्ढ़ा शवाधान), 5. पाषाण वृत्त (ताबूत शवाधान), 6. सार्कोफैगस (शव पेटिका)।

परन्तु इस सम्बन्ध में पुरातत्व विज्ञान ने शोधकार्य सन् 1944 ई॰ से प्रारम्भ किया। उस समय से अब तक, विशेष कर दक्षिण भारत में महापाषाण युग के अनेक अवशेष प्राप्त किये जा चुके हैं। मद्रास, चिंगलपेट, अखोर एवं चित्तूर के क्षेत्रों से इस प्रकार के मिलते-जुलते अनेक स्मारक प्राप्त हुये हैं।

विद्वानों का अनुमान है कि आरम्भिक काल में इस प्रकार के पत्थरों का प्रयोग अन्त्येष्टि क्रियाओं में किया गया होगा। कालान्तर में उनका प्रयोग स्मारक पत्थर के रूप में किया गया। मानव कंकालों के अतिरिक्त इस प्रकार के अनेक समाधि स्थलों से अन्त्येष्टि सम्बन्धी अन्य सामग्री विभिन्न खोजों के दौरान प्राप्त हुयी है।

भारत में मुख्यत: चार प्रकार के महापाषाण युगीन अवशेष मिलते है–

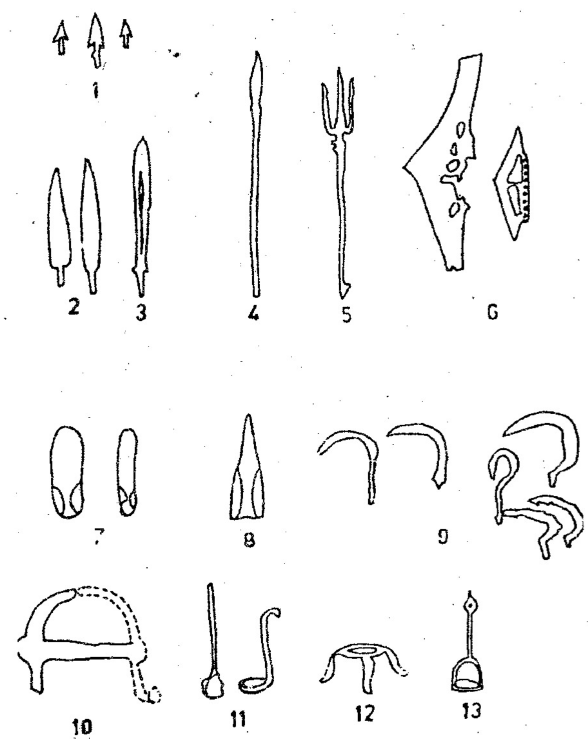
1. संगौरा वृत्त (Cairn Circle)
2. ताबूत (Cist)
3. मैनहिर (Menhir)
4. महापाषाण तुंब (Dolmen)

1. संगौरा वृत्तः इस प्रकार के महापाषाण अनेक गोलाकार पत्थरों को सम्मिलित कर बने होते हैं। इन संगौरा वृत्तों को देखकर लगता है कि उस समय पहले शव को लोहे के औजारों, मृत्तिका पात्र या कलश और पालतू जानवरों की अस्थियों को साथ दफना दिया जाता था। तत्पश्चात् समाधि के चारों ओर गोल पत्थरों को जड़ दिया जाता था। इस प्रकार के संगौरा वृत्त नयाकुंड बोरगांव (महाराष्ट्र) तथा चिंगलपेट (तमिलनाडु) में मिलते हैं।

2. ताबूतः यह भी अन्त्येष्टि की एक विधि है। इसमें पहले शव को दफना कर चारों ओर से छोटे-छोटे पत्थरों के खम्भों से घेर दिया जाता था, फिर इन खम्भों के ऊपर एक बड़ी पत्थर की सिल्ली रख कर समाधि पर छाया-छत्र जैसी आकृति बना दी जाती थी। इस प्रकार की महापाषाण युगीन समाधियां उत्तर प्रदेश के बांदा और मिर्जापुर जिलों में मिलती हैं।

3. मैनहिरः इस प्रकार की समाधियों में शव को गाड़कर उसके ऊपर एक बड़ा सा स्तम्भाकार स्मारक पत्थर लगा दिया जाता था जो कि उस स्थान पर समाधि होने का संकेत देता था। उन स्तम्भाकार पत्थरों की लम्बाई 1.5 मीटर से 5.5 मीटर तक पायी गयी है। इस प्रकार की स्मारक समाधियां कर्नाटक के मस्की और गुलबर्गा क्षेत्रों में मिलती हैं।

4. महापाषाण तुंबः इस प्रकार की समाधियों के निर्माण में सर्वप्रथम पत्थर की पट्टियों से घिरे हुए चबूतरे जैसे स्थान पर शव एक पत्थर की सिल्ली पर रखा जाता था, फिर शव के चारों कोनों पर स्थित खम्भों पर एक और पत्थर की पट्टी स्थित कर दी जाती थी। उपरोक्त बनावट मेज के आकार का आभास देती है। इसी कारण इस प्रकार की समाधियों को तुंब कहा जाता है जिसका अर्थ है पत्थर की मेज। इस प्रकार की समाधियां कर्नाटक के ब्रह्मगिरी एवं तमिलनाडु के चिंगलपेट नामक स्थानों पर प्राय: देखी गयी हैं।



दक्षिण भारतीय महापाषाण शवाधानों से मिले लौह उपकरण– 1. वाणाग्र, 2. कटार, 3. तलवार, 4. भालाग्र, 5. त्रिशूल, 6. लड़ाका कुल्हाड़ी, 7. कुदाल (हो), 8. हल का मुट्ठा, 9. हंसिया, 10. रकाब, 11. कर्छी, 12. तिपाई, 13. दीपक।

उपरोक्त वर्णित चार प्रकार की समाधियां भारत में महापाषाण युगीन परम्पराओं की प्रतिनिधि स्वरूप दृष्टिगोचर होती हैं। इन चारों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रारूप भी भारत के कुछ क्षेत्रों में पाये गये हैं, यद्यपि इनकी संख्या बहुत कम है। इनमें से प्रमुख हैं: (1) छत्राकार पाषाण, (2) शैलाकृत गुफा, (3) शीर्ष एवं फणाकार पाषाण।

1. छत्राकार पाषाण: एक स्तम्भाकार पत्थर पर एक छत्राकार पत्थर स्थित किया गया है जो कि छतरी के आकार का आभास देता है। इस प्रकार के उदाहरण विशेषतया केरल के अरियानुर एवं चेरैनांगल स्थानों पर

पाये गये हैं।

2. शैलाकृत गुफा: समाधि लेटराइट पाषाण की आयताकार खोह काट कर बनायी जाती है। इसी खोह में शव को रख कर ढंक दिया जाता है। इस प्रकार की समाधियां केरल के कट्कोम्पल एवं पोरकलम नामक स्थानों पर मिली हैं।

3. शीर्ष फणाकार समाधि: यह शव-अन्त्येष्टि की साधारण विधि का संकेत देती है। इस विधि में सर्वप्रथम शव एवं अन्य अन्त्येष्टि सामग्री को गाड़ दिया जाता है, फिर उसको एक गोलाकार पाषाण पट्टी से ढंक दिया जाता है। इस प्रकार के समाधि स्थल आन्ध्र प्रदेश और केरल में पाये गये हैं।

चपटी कुठार, हंसिया, त्रिशूल, त्रिपाई श्लाग, बहुदीप आलम्ब, बाणाग्र एवं दीप जैसे अनेक लौह निर्मित उपकरण महापाषाण युगीन समाधियों की खुदाई में समान रूप से प्राप्त हुये हैं। घोड़े के सिर एवं मुंह पर सजाये जाने वाले अनेक आभूषण भी महापाषाण युगीन भू-निवेशों की खुदाई में प्राप्त हुये हैं।

ऐसा अनुमान है कि दक्षिणी महापाषाण सभ्यता के रचयिता वे अरबी लोग थे जो मध्य गंगा घाटी के नव-विकसित राजनीतिक केन्द्रों से घोड़ों के व्यापार के सम्बन्ध में आये थे और वहीं पर खानाबदोश पद्धति के आवास बना कर रहने लगे थे। दक्षिण महापाषाण युगीन संस्कृति के अतिरिक्त सन् 1950 के बाद से नागपुर, पौनार, अमरावती व धुले तक फैली विदर्भ महापाषाण संस्कृति पर शोध कार्य हो रहा है। साथ ही उत्तरी भारत के लेह व झेलम घाटी (जम्मू व कश्मीर), देहरादून, मिर्जापुर, वाराणसी, इलाहाबाद, बांदा एवं उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं राजस्थान तक विस्तृत उत्तर भारतीय महापाषाण युगीन संस्कृति सम्बन्धी शोधकार्य भी 1950 के बाद से प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

महापाषाण सभ्यता के विषय में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि उसका किसी विशिष्ट प्रागैतिहासिक संस्कृति से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सका है। इतिहास साक्षी है कि अनेक जनजातीय समूह एक ही तरह के स्मारकों के निर्माता रहे हैं। छोटानागपुर क्षेत्र के महापाषाणयुगीन स्मारकों के प्रकरण ध्यान देने योग्य हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि महापाषाण स्मारकों के निर्माण की परम्परा एक लम्बे क्षेत्र में फैली हुई पायी गई है। साथ ही महापाषाणयुगीन भूनिवेश विश्व के उन स्थानों से भी मिले हैं जिनके मध्य सम्भावित प्राकृतिक बाधायें इस परम्परा के प्रसार को हतोत्साहित करती हैं।

◆◆◆

8

मानव विज्ञान के संग्रहालय एवं भारत में संग्रहालय शास्त्र

संग्रहालयों का काम आज न तो आसान रह गया है और न उसे संग्रहों के निष्क्रिय संरक्षण की संज्ञा दी जा सकती है। अब संग्रहालय काफी जटिल संस्थाओं का रूप ले चुके हैं और अन्य दायित्वों के साथ-साथ उनके मुख्यत: दो काम हैं। पहला, शोध कार्य के केन्द्र के रूप में जहां ज्ञान की विभिन्न शाखाओं जैसे कला, इतिहास, पुरातत्व और नृजाति विज्ञान आदि से सम्बन्धित अनुसंधान का कार्य होता है। इसलिये, आज संग्रहालयों को विद्वानों और छात्रों को वर्गीकृत शोध एवं संदर्भ-सामग्री देनी पड़ती है। दूसरा, जनशिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में। इसलिए इन्हें जनता को शिक्षित और जानकार बनाने के लिये आकर्षक प्रदर्शनियों का संयोजन करना पड़ता है। इस प्रकार संग्रहालयों को विशिष्ट और सामान्य, दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान करने का काम करना पड़ता है।

माइकेल एम्स (1986) ने ठीक ही कहा है कि "संग्रहालय वह स्थान है जहां आप यथार्थ के अपने निजी बोध को उसके पहले से स्वीकृत स्वरूप अर्थात सच्चाई के तटस्थ और निष्पक्ष दृष्टिकोण से तुलना करते हैं। संग्रहालय सार्वजनिक स्वामित्व से संचालित ऐसे नागरिक मन्दिर हैं जो अनेक शताब्दियों के विकास के परिणाम होते हैं। वैयक्तिक संग्रह और निजी संग्रहालय सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे हैं और अब भी चल रहे हैं। पूरी धार्मिकता के साथ संरक्षित अवशेष-गृह, अलंकृत किये हुए मन्दिर या कैथेड्रल और स्मारक, सभी के पीछे एक लम्बा इतिहास है, किन्तु संग्रहालय जो सार्वजनिक सम्पति है और जिसमें हर कोई जा सकता है, अपेक्षाकृत नये केन्द्र हैं जो धार्मिक अर्थों के बजाय धर्मनिरपेक्ष भाव से राज्य अथवा राष्ट्र से जुड़े होते हैं और स्थापित एवं सर्वसम्मत विचारों को व्यक्त और सत्यापित करते हैं। ये संग्रहालय पिछले सौ-दो सौ वर्षों से ही अस्तित्व में आये हैं।''

कुछ शताब्दियों पहले संग्रहालयों की वस्तुएं कुछ लोगों तक अधिकांशतः सत्ता-सम्पन्न या बहुत अमीर एवं प्रभावशाली व्यक्तियों तक ही सीमित थी और उन्हें मालिक की कृपा से ही देखा जा सकता था। इस प्रकार केवल सुविधा सम्पन्न लोगों को छोड़कर शेष जनता तक ज्ञान के संचार की न तो आवश्यकता समझी जाती थी और न उसके साधन ही उपलब्ध थे। फिर ज्यों-ज्यों संग्रह की वस्तुओं की संख्या और जटिलताएं बढ़ीं, आकार-प्रकार बढ़े, त्यों-त्यों उनके रखने के स्थान और संरक्षण की समस्याएं सामने आईं, और इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता भी बढ़ी जो संग्रह की देखभाल, उसकी सुरक्षा और उसके प्रबन्धन में दक्ष हो।

भारत में संग्रहालय-आन्दोलन की शुरुआत अट्ठारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में हुई। "इस आन्दोलन की प्रारम्भिक काल में ही मानव विज्ञान ने देश के सभी प्रमुख संग्रहालयों में स्थान पा लिया था" (सचिन राय, 1976)। 'एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल' के संस्थापक सर विलियम जोन्स के प्रयत्नों से नृजातिशास्त्र (इथनोग्राफी) सम्बन्धी वस्तुओं को सोसाइटी की लब्ध-वस्तुओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। शुरुआत उन्हीं के द्वारा 1784 में की गयीं। तब से नृजातिशास्त्र सम्बन्धी वस्तुएं निरन्तर एकत्र की गयीं और उन्हें एशियाटिक सोसाइटी के पथप्रदर्शक प्रयासों के बाद समस्त भारत के अनेक संस्थाओं ने नृजातिशास्त्रीय वस्तुओं का अपना संग्रह तैयार करना शुरू कर दिया। यहां पर इन संग्रहालयों का उल्लेख करना उचित भी है – मद्रास सरकार का संग्रहालय (1851), त्रिवेन्द्रम का प्राकृतिक इतिहास संग्रहालय (1857), नागपुर का केन्द्रीय संग्रहालय (1863), बड़ोदा संग्रहालय व चित्रदीर्घा (1894), और धर्मपुर स्थित लेडी विल्सन संग्रहालय (1928)। स्वाधीनता के बाद के काल में भी नृजातिशास्त्र सम्बन्धी वस्तुओं के अनेक नए संग्रहालय स्थापित किए गये जिनमें से प्रमुख हैं: नेशनल म्यूजियम (1960), अरुणाचल स्थित सेन्ट्रल म्यूजियम (1956), नागालैण्ड म्यूजियम (1964), उड़ीसा स्टेट म्यूजियम (1963), और पंजाब गवर्नमेन्ट म्यूजियम (1959)। देश की स्वाधीनता के बाद संग्रहालयों की दो नयी श्रेणियां भी सामने आईं। विश्वविद्यालयों में मानव विज्ञान के विभागीय संग्रहालय और आदिवासी शोध संस्थानों के संग्रहालय। नेशनल म्यूजियम, इन्डियन म्यूजियम तथा राज्य सरकारों के संग्रहालय जैसे देश के लगभग सभी समन्वित संग्रहालयों

में मानव विज्ञान सम्बन्धी संग्रह एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में विद्यमान है। ये संग्रहालय मानव के भौतिक एवं सांस्कृतिक पक्ष की विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं।

भारतीय संग्रहालयों में मानव-विज्ञान सम्बन्धी संग्रहों की प्रमुख विशेषताओं का लब्बे-लुबाब बताते हुए चौधरी (वही) कहते हैं:

1. भारत में मानव विज्ञान सम्बन्धी संग्रहालय बुनियादी रूप से नृजातीय विज्ञान (एथनोग्राफी) सम्बन्धी है, इनमें मानव के जैविक पक्ष का प्रतिनिधित्व करने की दिशा में बहुत कम प्रयास किया गया है।
2. संग्रह न केवल छोटे हैं बल्कि देश की सांस्कृतिक विविधता के पूरे फैलाव का प्रतिनिधित्व भी नहीं करते। वस्तुओं का विषय क्रम के अनुसार प्रदर्शन भी नहीं किया जाता। उनके शैक्षिक मूल्य का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया गया।
3. नृजातीय संग्रहालयों की संख्या बहुत कम है और उसमें विकास की काफी संभावना है।
4. भारत में मानव विज्ञान के संग्रहालयों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए न केवल उनका विकास और आधुनिकीकरण करने की आवश्यकता है बल्कि ऐसे नये संग्रहालय स्थापित करने की आवश्यकता भी है जो मानव और उसके कार्यों में जैव-सामाजिक पक्षों के बारे में स्पष्ट जानकारी प्रदान कर सके।

भारतीय संग्रहालयों में मानव विज्ञान का समुचित प्रभाव न होने के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि संग्रहालयों के क्षेत्र में मानव विज्ञान की सम्भावनाओं को कम आंका जाता है। इस अज्ञान के लिए कुछ सीमा तक मानवशास्त्री भी जिम्मेदार हैं। हमने ज्ञान की इस शाखा का पूरा-पूरा लाभ उठाने की सम्भावनाओं पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है, जबकि यह यथेष्ट शैक्षिक मूल्य का संग्रहालय विषय है। सुप्रसिद्ध संग्रहालय शास्त्री ग्रेस मोर्ले (1967) की यह बात पूर्णतया सही है कि "भारत में संग्रहालयों से सम्बन्धित विषयों में मानव विज्ञान पर सबसे अधिक ध्यान देने की जरूरत है। बहुत कम देश है जो भारत की तुलना में आदिवासियों, लोक कला और लोक कलाकृतियों तथा उन सब मामलों में जो प्रचीन परम्परागत समुदायों से सम्बद्ध हैं और युगों से एकांत में विकसित और संरक्षित हुये हैं,

अधिक सम्पन्न और समृद्ध हैं। उनके लुप्त हो जाने या अपर्याप्त आलेखों के साथ बने रहने में न केवल भारत की वरन् सम्पूर्ण विश्व की हानि है।" मानव विज्ञान के आदर्श संग्रहालय में नृजाति विज्ञान, शारीरिक मानवशास्त्र और प्रागैतिहासिक पुरातत्व के साथ ही मानव विज्ञान की सभी शाखाओं-प्रशाखाओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिए।

संग्रहालय-विज्ञान की वर्तमान धारणा के संदर्भ में मानव विज्ञान सम्बन्धी संग्रहालय को ऐसी गतिहीन संस्था नहीं समझा जाता जो सांस्कृतिक अवशेषों के 'कब्रिस्तान' जैसा काम करती है। इस श्रेणी के संग्रहालयों के काम करने का दायरा ऐसा है कि वे समाज के असाक्षर और अर्द्धसाक्षर तबकों में दृश्य-शिक्षा फैलाने के काम में सक्रिय भूमिका भी अदा कर सकते हैं और साथ ही उच्च शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में भी काफी योगदान कर सकते हैं।

व्यावहारिक क्षेत्र में मानव विज्ञान के संग्रहालयों का लाभप्रद उपयोग किया जा सकता है। नृजातिशास्त्र संग्रहालय एकता पैदा कर सकते हैं। बहुत से लोग या तो दूसरों की जीवन शैली से अपरिचित हैं अथवा अपनी जीवन शैली को दूसरों की तुलना में बेहतर समझते हैं। हमारे देश में आबादियों के अनगिनत समूह भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और परिवेश में रहते हुए जीवन के परस्पर विरोधी तौर-तरीकों को साथ जी रहे हैं। मानव विज्ञान संग्रहालय ही शायद वह स्थान है जहां ये विभिन्न समूह-पिछड़े आदिवासी, ग्रामीण और शहरी लोग स्थान पा सकते हैं। इस प्रकार की प्रदर्शनी संग्रहालय के दर्शकों की न केवल ज्ञान में वृद्धि कर सकती है वरन् वह उनमें अपने अन्य देशवासियों के प्रति सम्मान और सहिष्णुता की भावना पैदा करने में सहयोगी सिद्ध हो सकती है। भारतीय संस्कृति के बारे में अक्सर कहा जाता है और उसे उबाऊ हद तक दोहराया भी जाता है कि वह एक ऐसी समन्वित संस्कृति है कि उनमें सांस्कृतिक जीवन के सभी अंग मौजेक के टुकड़ों की तरह ठीक जुड़ जाते हैं। लेकिन आम भारतीयों के लिए उसकी सही तस्वीर की कल्पना कर सकना आसान नहीं है। मानव-विज्ञान संग्रहालयों में जातीय और सांस्कृतिक विविधताओं को सही ढंग से प्रदर्शित करके हम ऊपर से दिखने वाले सांस्कृतिक भिन्नता के वातावरण में एकता के तत्वों को उजागर कर सकते हैं। ऐसे संग्रहालयों में जाना अपने आप में ही ज्ञान की वृद्धि का साधन है।

थोड़े से विशिष्टीकरण और उद्देश्यों में विस्तार के साथ अनेक देशों के नृजातिशास्त्र सम्बन्धी संग्रहालय स्थापित किये गये हैं जैसे 'नव-संग्रहालय'। इन संग्रहालयों की एक असाधारण मिसाल पेरिस का 'म्यूज देल' होमे है। एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया ने अभी हाल में एक महत्वाकांक्षी परियोजना तैयार की है। इस परियोजना का उद्देश्य एक केन्द्रीय संग्रहालय (मानव संग्रहालय) तथा मानव विज्ञान के क्षेत्रीय संग्रहालय स्थापित करना है। मध्य प्रदेश में भोपाल और जगदलपुर में ऐसे संग्रहालय स्थापित किये जा चुके हैं। समन्वित संग्रहालयों में से बहुतों में मानव विज्ञान-संग्रहालय मानव-शास्त्रियों की देख-रेख में विकसित किये जा रहे हैं जिनमें मानव विज्ञान के सर्वांगीण खण्डों का विकास किया जा चुका अथवा किया जा रहा है। स्पष्ट है कि देश के संग्रहालयों की दुनिया में मानव विज्ञान को पुनः जीवन प्रदान किया जा रहा है।

मानव विज्ञान के संग्रहों से युक्त देश के कुछ प्रमुख संग्रहालयों के नाम निम्नलिखित हैं:

1. बड़ौदा म्यूजियम ऐन्ड गैलरी, बड़ौदा
   1894 में स्थापित, नृजातिशास्त्र सम्बन्धी छोटे खण्ड के साथ समन्वित संग्रहालय
2. भूरी सिंह म्यूजियम, चम्बा, (हिमाचल प्रदेश)
   1908 में स्थापित, नृशास्त्र विषयक खंड के साथ समन्वित क्षेत्रीय संग्रहालय
3. सेन्ट्रल म्यूजियम, शिलांग
   1956 में स्थापित, अरुणाचल के आदिवासियों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली वस्तुओं का सर्वथा नृशास्त्र विषयक संग्रह
4. सेन्ट्रल म्यूजियम, नागपुर
   1863 में स्थापित, नृशास्त्र विषयक एक छोटे से खण्ड के साथ समन्वित संग्रहालय
5. सेन्ट्रल म्यूजियम, जयपुर
   1876 में स्थापित, छोटे नृशास्त्रीय संग्रह के साथ समन्वित संग्रहालय
6. इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता
   1861 में स्थापित, इसका मानव विज्ञान खण्ड पूर्णतः सम्पन्न है
7. जूनागढ़ म्यूजियम, जूनागढ़ (गुजरात)

1901 में स्थापित, छोटा नृशास्त्रीय खण्ड

8. कच्छ म्यूजियम, कच्छ (गुजरात)
   1887 में स्थापित इसमें कच्छ और उसके आस-पास की कला और उद्योग की वस्तुओं का संग्रह है।
9. लेडी विल्सन म्यूजियम, धर्मपुर (गुजरात)
   1928 में स्थापित, एक छोटे नृशास्त्र सम्बन्धी संग्रह सहित समन्वित संग्रहालय
10. मद्रास गवर्नमेन्ट म्यूजियम, मद्रास
   1851 में स्थापित, बड़ा समन्वित राजकीय संग्रहालय जिसमें एक काफी बड़ा नृशास्त्र खण्ड और साथ ही पाषाणकालीन औजारों का संग्रह है
11. महंत घासीदास मेमोरियल म्यूजियम, रायपुर
   1875 में स्थापित, छोटे नृशास्त्रीय संग्रह सहित, मुख्यत: एक क्षेत्रीय समन्वित संग्रहालय
12. मणिपुर स्टेट म्यूजियम, इम्फाल
   1969 में स्थापित, क्षेत्रीय समन्वित संग्रहालय जिसमें एक अच्छा नृशास्त्रीय संग्रह है
13. म्यूजियम ऑव कल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता
   1955 में स्थापित, नृशास्त्रीय संग्रहालय
14. म्यूजियम ऑव ट्राइबल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, रांची
   1954 में स्थापित, मुख्यत: नृशास्त्रीय संग्रहालय
15. म्यूजियम ऑव ट्राइबल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, छिन्दवाड़ा (मध्य प्रदेश)
   1954 में स्थापित, मुख्यत: नृशास्त्रीय संग्रहालय
16. मैसूर गवर्नमेन्ट म्यूजियम, बंगलौर
   1866 में स्थापित, एक छोटे नृशास्त्र खण्ड के साथ समन्वित संग्रहालय
17. नागालैण्ड स्टेट म्यूजियम, कोहिमा
   1964 में स्थापित, पूर्णत: नृशास्त्र संग्रहालय
18. नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली
   इसमें मानव विज्ञान का खण्ड 1960 में स्थापित हुआ

19. नेशनल हिस्ट्री म्यूजियम, त्रिवेन्द्रम
    1857 में स्थापित, नृशास्त्रीय वस्तुओं के छोटे संग्रह के साथ समन्वित संग्रहालय
20. उड़ीसा स्टेट म्यूजियम, भुवनेश्वर
    समन्वित क्षेत्रीय संग्रहालय, मानव विज्ञान सम्बन्धी खण्ड की स्थापना 1963 में हुई
21. सरदार वल्लभभाई पटेल म्यूजियम, सूरत
    इसे पहले 'विन्चेस्टर म्यूजियम' के नाम से पुकारा जाता था। 1890 में इसकी स्थापना हुई तथा इसमें नृशास्त्र सम्बन्धी चीजों का एक छोटा संग्रह है
22. श्री गिरधारी भाई चिल्ड्रन्स म्यूजियम, अमरेली (गुजरात)
    1955 में स्थापित, इसमें एक छोटा नृशास्त्रीय खण्ड है
23. श्री प्रताप सिंह म्यूज़ियम, श्रीनगर (कश्मीर)
    1898 में स्थापित, कला, पुरातत्व और नृशास्त्र सम्बन्धी समन्वित क्षेत्रीय संग्रहालय
24. पंजाब गवर्नमेन्ट म्यूजियम, पटियाला
    1947 में स्थापित, एक समन्वित क्षेत्रीय संग्रहालय जिसमें एक छोटा नृशास्त्रीय खंड भी है
25. स्टेट म्यूजियम, लखनऊ
    1863 में स्थापित, एक समन्वित क्षेत्रीय संग्रहालय जिसमें एक छोटा नृशास्त्रीय खण्ड भी है
26. डी॰ एन॰ मजूमदार म्यूजियम, लखनऊ

एथनोग्राफिक ऐन्ड फोक कल्चर सोसाइटी के तत्वावधान में 1977 में स्थापित, विशुद्धतः नृशास्त्रीय संग्रहालय जिसमें अवध के क्षेत्र और उसकी संस्कृति की प्रधानता है।

◆◆◆

खण्ड तीन

भारतीय जनसंख्या: एक बहुरंगी प्रारूप

(India Population : A Colourful Mosaic)

9

भारत की जनसंख्या में प्रजातीय तत्व

भारत की जनसंख्या में प्रजातीय तत्वों की अलग-अलग पहचान व उनका सही-सही वर्णन प्रस्तुत करना बड़ा जटिल काम है। कई कारणों से भारत सदा से बाहर से आने वालों के लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है। आने वालों में कम ही वापस गये। इस प्रकार समय-समय पर विभिन्न प्रजातीय तत्वों के लोगों का आगमन होता रहा और यहाँ के स्थानीय प्रजातीय तत्व व संस्कृतियाँ प्रभावित होती गईं और एक दिलचस्प तथा सुन्दर मिश्रण होता गया। दुर्भाग्यवश पुरातात्विक साक्ष्यों के नाम पर हमें अधिकतर पाषाण उपकरण ही मिलते रहे हैं और इस उपमहाद्वीप से जीवाश्मों के अवशेष (फोसिल रिमेन्ज) नहीं के बराबर मिले हैं जिनसे यहाँ का प्रजातीय इतिहास काफी हद तक मालूम हो सकता है। यह तो प्रागैतिहासिक काल की बात थी। ऐतिहासिक युगों के कंकाल अवशेष भी इतने कम हैं कि उनके आधार पर कोई विश्वसनीय परिणाम नहीं निकाले जा सकते। फिर भी पिछले सौ वर्षों में समय-समय पर उत्सुक व जिज्ञासु विद्वान इस दिशा में कुछ न कुछ करते ही रहे हैं।

रिज्ले वह विद्वान थे जिन्होंने सबसे पहले वैज्ञानिक आधार पर भारत का प्रजातीय वर्गीकरण करने का प्रयास किया। भारतीय सिविल सर्विस के अधिकारी रिज्ले ने 1980 में शरीर मापन प्रणालियों के आधार पर यह अध्ययन किया। तत्कालीन भारत सरकार ने उन्हें 1901 में होने वाली जनगणना का अध्यक्ष नियुक्त किया। इस जनगणना की रिपोर्ट तथा 1915 में प्रकाशित उनकी मार्गदर्शक पुस्तक 'दी पीपुल्स आफ इंडिया' में उन्होंने अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारतीय जनसंख्या को सात प्रजातीय वर्गों में विभाजित किया जो इस प्रकार हैं:

(i) तुर्क-ईरानी टाइप: इसमें उन्होंने बलूचिस्तान और सीमांत प्रान्त के लोगों को रखा।

(ii) भारत-आर्य टाइप: इसमें उन्होंने पंजाबियों, राजपूतों, जाटों व कश्मीरी खत्रियों को शामिल किया।

(iii) सीथो-द्रविड़ टाइप: इस वर्ग के मुख्य उदाहरण मराठा ब्राह्मण व कूर्गी लोग हैं।

(iv) आर्य-द्रविड़ टाइप: इसके मुख्य उदाहरण उत्तर प्रदेश, राजस्थान व बिहार के लोग हैं।

(v) मंगोल-द्रविड़ टाइप: बंगाली ब्राह्मण व कायस्थ को इस वर्ग का प्रतिनिधि माना गया।

(vi) मंगोल टाइप: हिमालय क्षेत्र में असम, नेपाल व बर्मा के लोग इस वर्ग में सम्मिलित किये गये।

(vii) द्रविड़ टाइप : इस वर्ग के लोगों में वर्तमान तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश के दक्षिणी क्षेत्र व छोटानागपुर के रहने वाले शामिल किये गये।

रिज्ले के वर्गीकरण की सबसे बड़ी कमी यह है कि उनकी बहुत-सी बातें पूर्वानुमानों और मनमाने निष्कर्षों पर आधारित हैं जिनका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं है।

रिज्ले के बाद इस दिशा में किया गया दूसरा महत्वपूर्ण कार्य हैडन का माना जा सकता है। इन्होंने समूचे भारतवर्ष को तीन मुख्य भौगोलिक क्षेत्रों में बाँटा जिनमें, उनके अनुसार, भारतीय जनसंख्या के सभी प्रजातीय समूह शामिल हैं। ये तीन भौगोलिक क्षेत्र इस प्रकार हैं-

(i) हिमालय

(ii) हिन्दोस्तान का उत्तरी मैदान

(iii) दक्खिन (डेक्कन)

हैडन का प्रजातीय वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों, रीति-रिवाजों, भाषा और प्रचलित लोक कथाओं पर आधारित है। इन 'साक्षियों' की सहायता से उन्होंने प्रजातीय तत्वों का विश्लेषण किया है। हैडन के वर्गीकरण का अब केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है।

बी.एस. गुहा ने इन सबसे अलग वैज्ञानिक आधारों का उपयोग करते हुए भारत का प्रजातीय वर्गीकरण प्रस्तुत किया। यह वर्गीकरण 1931 की जनगणना में किये गये मानवमितीय सर्वेक्षण पर आधारित है। यह पहला अवसर था

जबकि विकसित मानवमितीय प्रविधियों के आधार पर प्रजातीय अध्ययन का कार्य किया गया। इस सर्वेक्षण के वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होने के कारण अब तक का यह सबसे प्रमाणित व मान्य वर्गीकरण माना जाता है और भारतीय जनसंख्या के अध्ययन में इसी का उपयोग किया जाता है। उनका प्रजातीय वर्गीकरण इस प्रकार है-

(1) निग्रिटो
(2) प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड
(3) मंगोलॉयड
    (अ) पैलियो-मंगोलॉयड
        (i) लम्बे सिर वाले
        (ii) चौड़े सिर वाले
    (ब) तिब्बती-मंगोलॉयड
(4) मेडीटिरेनियन
    (अ) पैलियो-मेडीटिरेनियन
    (ब) मेडीटिरेनियन
    (स) ओरियन्टल प्रकार
(5) पश्चिमी ब्रेकिसिफल
    (अ) अल्पीनॉयड
    (ब) डिनारिक
    (स) आर्मीनॉयड
(6) नार्डिक

गुहा के सर्वेक्षण के परिणामों में उनका सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष है कि भारत में चौड़े सिर वाला (पृथु कपाल) प्रजातीय तत्व अधिक अंशों में पाया जाता है। गुहा से पहले सामान्य धारणा ऐसी नहीं थी। लगभग सभी विद्वानों ने गुहा के निष्कर्षों को अधिकांशतः सहमति प्रदान किया है। उनके इस अध्ययन के बाद कोई अन्य ऐसा अध्ययन इतने वैज्ञानिक आधार पर सम्पूर्ण भारत के स्तर पर नहीं हुआ। इसलिये यह निष्कर्ष आमतौर पर अभी भी मान्य है। जिन दो निष्कर्षों पर गुहा की सबसे अधिक आलोचना हुई है वे हैं: निग्रिटो तत्व का महत्व और उनकी धारणा कि भारत के सभी प्रजातीय समूहों की उत्पत्ति विदेशी है।

भारतीय जनसंख्या में विद्यमान प्रजातीय तत्वों का गहन विश्लेषण करने

पर तीन सबसे महत्वपूर्ण व प्रमुख प्रजातीय वर्गों की चर्चा की जा सकती है। ये हैं: नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड तथा मंगोलॉयड। आमतौर पर यह विचार है कि मंगोलॉयड तत्व के लोग सबसे बाद में आये।

वस्तुत: मतभेद प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड व नीग्रिटो के बीच में है। गुहा और उनसे पहले डी क्वाटरफेगस ने 1877 में यह मत व्यक्त किया था कि नीग्रिटो प्रजातीय तत्व के लोग भारत के प्राचीनतम निवासी हैं। उन्होंने कहा कि एक निमग्न प्रजाति सबसे पहले शायद मलेशिया की ओर से भारत में आई थी; श्रीलंका के वेड्डा तथा दक्षिण भारत के कदार, इरूला, कुरुम्बा आदि में नीग्रिटो प्रजातीय तत्व की विद्यमानता नजर आती है।

मोहनजोदड़ो से मिले कंकालों में प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड जैसी विशेषतायें पाई गई हैं। बहुत से विद्वानों का यह मत है कि समस्त भारत में आस्ट्रेलॉयड या प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड के लक्षण विद्यमान हैं। यदि भारतीय जनसंख्या में कभी भी नीग्रिटो प्रजाति का सम्पूर्ण समावेश हुआ होता तो उत्तरी भारत के लोगों में भी पर्याप्त मात्रा में नीग्रिटो विशेषतायें नजर आनी चाहिये थीं। सीरमीय अध्ययनों (सीरोलॉजीकल, रक्त सम्बन्धी) से पता चलता है कि जहाँ तक उनके रक्त समूहों का प्रश्न है, भारत की आदिम जनजातियों में नीग्रो विशेषतायें न के बराबर पायी जाती हैं। भारत की आदिम जनजातियों में बी रक्त समूह की प्रधानता बिल्कुल नहीं है जैसा कि नीग्रो में देखने को मिलता है। आस्ट्रेलॉयड समूहों में ए रक्त समूह की प्रधानता पाई जाती है; भारत की आदिम जनजातियों में ए रक्त समूह बहुत पाया जाता है। एक दिलचस्प बात यह है कि भील तथा मुण्डा जैसी जनजातियों में नीग्रिटो की तरह बी रक्त समूह तो बहुत नजर आता है लेकिन दूसरे शारीरिक लक्षणों में ये नीग्रिटो से कोई विशेष मेल नहीं खाते। केवल सीरमीय तथ्यों के आधार पर कोई पक्का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, वह भी ऐसी परिस्थिति में जबकि सीरमीय अध्ययन भी बहुत नहीं हुए हैं। इस दिशा में अभी काफी शोध की आवश्यकता है। वर्तमान ज्ञान के आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि शायद भारत के प्राचीनतम निवासी प्रोटो-आस्ट्रेलॉयड ही थे जिनमें बीच में कभी अफ्रीकी या नीग्रिटो रक्त का मिश्रण भी भारत के किन्हीं भागों में हुआ था। अपर्याप्त ज्ञान के कारण इस निष्कर्ष को भी अन्तिम नहीं माना जाना चाहिए। फिर भी तब तक कोई दूसरे साक्ष्य अपने को सही साबित न कर लें तक तक यह ही मान्य रहेगा। ◆◆◆

10

भारत में भाषाई तत्वों का वितरण

सारे विश्व में भारत अपनी आश्चर्यजनक भाषाई विभिन्नता के कारण भाषाविदों के लिये एक अलग व महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत में रहने वाले इतनी भाषाएं व बोलियाँ इसलिये बोलते हैं कि यह उपमहाद्वीप एक लम्बे समय से विविध प्रजातीय समूहों की मंजिल रहा है। कोई भी भाषाई समूह अपने भीतर बहुत-सी सामाजिक महत्व की विशेषतायें समेटे रहता है और इनमें एक प्रमुख विशेषता है - किसी एक भाषा या बोली बोलने वालों के बीच सामाजिक एकता की भावना। समान भाषा भावनात्मक एकता को भी प्रोत्साहित करती है। अलग-अलग भाषाएं व बोलियाँ मुख्यत: विभिन्न जनसमुदायों के भौगोलिक अलगाव की परिस्थितियों में रहने के कारण अस्तित्व में आती हैं और विकसित होती हैं। इस प्रकार क्षेत्रीय पहचान को समझने में भी भाषा व बोली का बड़ा महत्व है।

भारत की भाषाई विविधता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यहाँ लगभग दो सौ स्वतंत्र भाषायें बोली जाती हैं। इनमें से करीब आधी भाषाओं के बोलने वाले दस हजार से कम लोग हैं और केवल 23 भाषाओं के बोलने वाले भारत की जनसंख्या का लगभग 97% हैं। इनमें से 16 भाषाएं (अंग्रेजी को शामिल करके) स्वतंत्र भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में रखी गई हैं।

भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को चार भाषा परिवारों में बांटा जा सकता है-

(i) आस्ट्री (निषद)
(ii) द्रविड़ (द्रविण)
(iii) तिब्बती-चीनी (किरात)
(iv) भारत-योरपीय (आर्य)

इन चारों भाषा परिवारों के अन्तर्गत आने वाली भाषाओं के बोलने वालों

की संख्या में बड़ी विविधता है। आर्य भाषायें बोलने वाले 73%, द्रविड़ भाषायें वाले 20%, आस्ट्री वाले 1.8% और तिब्बती-चीनी भाषा भाषी 0.85% के करीब हैं।

आस्ट्री भाषा परिवार में मुख्यतया मध्य भारत की जनजातीय पट्टी की भाषायें व बोलियाँ आती हैं। संथाल, मुण्डा, हो, कड़ाकु आदि इसी समूह के भाषी माने जाते हैं। तिब्बती-चीनी भाषाई परिवार की भाषाओं व बोलियों वाले आमतौर पर उत्तरी-पूर्वी भारत की जनजातीय जनसंख्या है। द्रविड़ भाषाओं में मुख्य हैं-तेलगु, तमिल, कन्नड़, मलयालम, गोंडी आदि। सबसे अधिक संख्या में बोली जाने वाली भाषायें व बोलियाँ भारत-आर्य भाषा परिवार की हैं। इसमें एक ओर पंजाबी व सिंधी भाषायें हैं तो दूसरी ओर मराठी व कोंकणी, राजस्थानी, गुजराती, मारवाड़ी, मेवाती, हिन्दी-उर्दू, छत्तीसगढ़, बंगाली, मैथिली, कुमाउँ व गढ़वाली जैसी भाषायें व बोलियाँ शामिल हैं।

इतनी भाषाओं व बोलियों की उपस्थिति से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक हो सकता है कि यह महान विविधता राष्ट्रीय एकता के लिए विघटनकारी होकर खतरा पैदा करती है। इस भाषाई विविधता में एक उभयनिष्ठ व सामान्य शब्दावली के विकास की दिशा में भी उन्नति होती रही है। संस्कृत, फारसी (परशियन) तथा अंग्रेजी भाषायें देश में समय-समय पर राज्य व शासकीय भाषा रही है। संस्कृत ने एक ओर भारतीय-आर्य भाषा परिवार की भाषाओं के बीच डोर का काम किया है तो दूसरी ओर भारतीय-आर्य भाषा परिवार तथा द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाओं के बीच पुल का काम किया है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में फारसी ने बहुत सी भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया जिनमें मराठी, कन्नड़, तेलगु, तमिल तथा बंगाली प्रमुख हैं। अंग्रेजी की भूमिका आधुनिक काल में महत्वपूर्ण रही है। पिछले कुछ दशकों में हिन्दी-उर्दू ने देश की भाषाई एकता में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। शायद इसीलिये महात्मा गाँधी 'हिन्दोस्तानी' भाषा को प्रोत्साहित व विकसित करने के पक्षधर थे जिसमें सभी भाषाओं मुख्यतया हिन्दी व उर्दू के शब्दों का जोर हो। इस सिलसिले में हमें हिन्दी-उर्दू (हिन्दोस्तानी) भाषा की फिल्मों की भूमिका व महत्व को नहीं भूलना चाहिये। बंबई का तथाकथित मुख्यधारा सिनेमा (मेनस्ट्रीम सिनेमा) गुणात्मक तौर पर बड़ा प्रशंसनीय न सही लेकिन देश की भाषाई एकता व एक

अखिल भारतीय शब्दावली के विकास में उसका योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। देश के कोने-कोने में हिन्दी-उर्दू फिल्मों की लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि उसमें बोले जाने वाले संवाद व गीतों की भाषा कुछ न कुछ सबकी समझ में आ रही है और लोगों का मनोरंजन हो रहा है। कुछ समय पहले तक अपेक्षाकृत भौगोलिक अलगाव में रहने वाली जनजातियों की बोलियों पर भी पड़ोसी समुदायों की बोलियों का प्रभाव यह बताता है कि देश में भाषाई एकता की ओर सफर तेजी से जारी है।

◆◆◆

11

भारत का जनसांख्यिकीय परिदृश्य

जनसंख्या की दृष्टि से भारत चीन के बाद विश्व का दूसरा सबसे बड़ा देश है। जनसंख्या सम्बन्धी सुनिश्चित नीति अपनाने वाले विश्व के प्रथम देशों में हालांकि भारत भी था फिर भी इस मामले में उसके अब तक के समस्त प्रयासों को असफल ही कहा जायेगा। 1991 में भारत की आबादी विश्व के विकासशील देशों की कुल आबादी का 19.1 प्रतिशत थी। आज वह सम्पूर्ण विश्व की आबादी के 15.6 प्रतिशत तक पहुँच चुकी है जबकि उसका भू-क्षेत्र विश्व के कुल भू-क्षेत्र का मात्र 2.5 प्रतिशत है। आबादी सम्बन्धी किसी भी प्रकीर्ण संग्रह-ग्रंथ में जनसंख्या का वर्धन सबसे महत्वपूर्ण होता है। गत वर्षों में भारत की जनसख्या में हुई वृद्धि की स्पष्ट जानकारी हमें निम्नलिखित तालिका से मिलती है:

जनगणना का वर्ष	आबादी (करोड़ में)	औसत वार्षिक वृद्धिदर (प्रतिशत में)
1901	23.83	0.30
1911	25.20	0.50
1921	25.12	-0.03
1931	27.89	1.06
1941	31.85	1.34
1951	36.10	1.26
1961	43.91	1.98
1971	54.82	2.20
1981	68.52	2.25
1991	84.63	2.14

देश में पहली औपचारिक जनगणना 1881 में हुई थी। उसके बाद से अब तक प्रत्येक दस वर्ष बाद जनगणना हुई है। जनगणना के कार्य में हर

बार उच्चकोटि की निपुणता और भारी मात्रा में जनशक्ति का उपयोग होता है। देश की जनसंख्या का खाका प्रस्तुत करना देश के जनगणना कमिश्नर और रजिस्ट्रार जनरल का दायित्व है। 1991 की जनगणना के अनुसार उस अवधि में भारत की कुल आबादी 85 करोड़ थी। यह 1981 की जनगणना की तुलना में 24 प्रतिशत वृद्धि की सूचक है। जनसंख्या के विशेषज्ञों के अनुसार आबादी में इस तीव्र वृद्धि का कारण मृत्यु में हुई तीव्र गिरावट है। 1981 की जनगणना के अनुसार देश की प्रत्येक हजार की आबादी पर जन्म-दर 33.3 और मृत्यु-दर 12.5 थी जबकि इसी अवधि में बाद के आंकड़े प्रति हजार की आबादी पर 30.0 और 10.0 हैं। इस प्रकार जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों में गिरावट आई है। किन्तु पिछले वर्षों में जितने विशाल पैमाने पर आबादी बढ़ी है उसे देखते हुए यह गिरावट पर्याप्त नहीं है। नीचे दी गयी तालिका जन्म और मृत्यु की दरों पर प्रकाश डालने के साथ ही देश की आबादी की समस्या को समझने में हमारी सहायता भी करती है:

वर्ष	1000 व्यक्तियों में जन्म की दर	1000 व्यक्तियों में मृत्यु की दर
1901	–	
1911	49.2	42.6
1921	48.1	47.2
1931	46.4	36.3
1941	45.2	31.2
1951	39.91	27.4
1961	40.9	22.8
1971	41.1	18.9
1981	33.3	12.5
1991	30.0	10.0

भारत की आबादी की सघनता पर विचार करते समय हमारे सामने कई महत्वपूर्ण बातें आती हैं। आबादी की सघनता का तात्पर्य प्रति वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में रहने वाली जनसंख्या से है। 1947 में देश के विभाजन के फलस्वरूप हमारे यहां आबादी की सघनता 1901 के 77 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर से बढ़कर 1991 में 267 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर हो गयी। इस प्रकार

आबादी की सघनता में 3.5 गुणा वृद्धि हुई। देश में हुई प्रत्येक जनगणना के बाद आबादी में जो सघनता आई है उसे निम्नलिखित तालिका में दर्शाया गया है:

जनगणना का वर्ष	**प्रतिवर्ग किलोमीटर क्षेत्र में जनसंख्या की सघनता**
1901	77
1911	82
1921	81
1931	90
1941	103
1951	117
1961	142
1971	177
1981	216
1991	267

ऊपर दी गयी तालिका से स्पष्ट है कि वृद्धि की दर बाद के दशकों में तीव्र रही है। फिर भी, अनेक तत्वों के आधार पर वह वृद्धि-दर अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग हुई है। (1) सबसे कम सघनता अरुणाचल प्रदेश में है जहाँ एक वर्ग किलामीटर क्षेत्र में केवल 10 व्यक्तियों का अनुपात है। आबादी की कम सघनता वाले अन्य राज्य हैं- मिजोरम, अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह, सिक्किम, जम्मू-कश्मीर, मेघालय, नागालैण्ड, मणिपुर और हिमाचल प्रदेश। असम और त्रिपुरा को छोड़कर सभी पूर्वोत्तर राज्यों में आबादी की सघनता कम है। वही हाल हिमाचल प्रदेश और जम्मू-कश्मीर जैसे पहाड़ी राज्यों का है। (2) दिल्ली, चण्डीगढ़ और पाण्डिचेरी में आबादी की सघनता सबसे ज्यादा है। (3) जिन स्थानों में आबादी की सघनता राष्ट्रीयता औसत से तीन गुणा अधिक है, वे हैं दमन और दीव, जहाँ दो गुणा या उससे ज्यादा है वे हैं, केरल और पश्चिम बंगाल। (4) जिन राज्यों में आबादी की सघनता राष्ट्रीय औसत से ऊपर है, वे हैं- असम, बिहार, गोआ, हरियाणा, पंजाब, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और दादरा एवं नागर हवेली। (5) राष्ट्रीयता औसत से कम सघनता वाले राज्य हैं- आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, महाराष्ट्र और त्रिपुरा।

भारत में स्त्री-पुरुषों का परस्पर अनुपात (लैंगिक अनुपात) बहस और चर्चा का विषय रहा है। यह अनुपात एक लम्बे अरसे से पुरुषों के पक्ष में है। 1901 में पुरुषों का अनुपात 1029 था जो बढ़कर 1991 में 1076 हो गया। इसका अर्थ है 1901 में 1000 व्यक्तियों में 30 स्त्रियाँ कम थीं। अब 1991 की जनसंख्या के अनुसार एक हजार व्यक्तियों में 71 स्त्रियां कम हैं। इस स्थिति के लिए अनेक कारण बताये जा सकते हैं। जैसे, शैशव में लड़कियों की मृत्यु दर में अधिकता, इसके बाद भी हमारे समाज में लड़कियों के प्रति उपेक्षा और उदासीनता बरती जाती है जो अक्सर उनकी मौत का कारण बनती है, फिर बच्चे जनते समय भी अक्सर स्त्रियों की मृत्यु हो जाती है, लड़की पैदा होने पर कहीं-कहीं उनकी हत्या भी कर दी जाती है और उनकी भ्रूण-हत्या की बातें भी सामने आई हैं। इन सबके अलावा कभी-कभी माता-पिता लड़की के जन्म की सूचना भी दर्ज नही कराते।

जनगणना का वर्ष	लैंगिक अनुपात प्रति हजार स्त्रियों पर पुरुष
1951	1057
1961	1063
1971	1075
1981	1069
1991	1076

स्त्री-पुरुषों की संख्या में पायी जाने वाली असमानता से अंतर्ग्रस्त समस्याओं में जिस तथ्य की सबसे कम चर्चा या व्याख्या की गयी है वह स्त्रियों के विरुद्ध किये जाने वाले भेदभाव और लड़कियों की शैशव में होने वाली मृत्यु की दरों में होने वाली उत्तरोत्तर कमी से सम्बन्धित है। एक सम्भावित कारण यह भी है कि बहुत-सी दम्पत्तियां जिनके एक या दो लड़के हो चुकते हैं और आगे लड़कियों का पैदा होना पसन्द न होने के कारण संतान पैदा करना बन्द कर सकते हैं अर्थात् विभिन्न तरीकों से परिवार नियोजन कर लेते हैं। एकमात्र राज्य केरल ऐसा है जहाँ की आबादी में स्त्रियों का अनुपात अधिक है। ऐसा इसलिए भी हो सकता है कि वहाँ के पुरुष बड़ी संख्या में रोजगार की तलाश में राज्य के बाहर चले जाते हैं।

आबादी से जुड़ा दूसरा महत्वपूर्ण विषय साक्षरता की दर है। ''पोस्टकार्ड

लिख और पढ़ सकने वाली'' साक्षरता की परिभाषा के अनुरूप भारत में 1991 की जनगणना के अनुसार 52.11 प्रतिशत साक्षरता है। पुरुषों में साक्षरता की दर 60.86 प्रतिशत है जबकि स्त्रियों में यह केवल 39.42 प्रतिशत है। स्त्री-पुरुषों के बीच साक्षरता सम्बन्धी यह खाई बहुत ही स्पष्ट है। यह देश के आर्थिक रूप से पिछड़ेपन का कारण भी है। यह सही है कि आजादी के बाद देश में साक्षरता की दर बढ़ी है किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस अवधि में निरक्षरों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। केरल देश का पहला राज्य है जहाँ लगभग शत-प्रतिशत लोग साक्षर हैं। किन्तु सभी साक्षर व्यक्ति स्कूलों के जरिये शिक्षा पाये हुए नहीं होते। हिन्दी भाषी राज्य साक्षरता के मामले में उतने प्रगतिशील नहीं हैं। वहाँ की स्त्रियों में विशेष रूप से साक्षरता की कमी है। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और राजस्थान की स्त्रियों में साक्षरता की दर क्रमशः 28%, 26%, 23% और 21% हैं।

इसलिए बच्चों में साक्षरता और शिक्षा के प्रचार-प्रसार कार्य को अधिक गम्भीरता से अपनाना होगा। विभिन्न प्रकार के अध्ययनों से पता चला है कि यदि बच्चों को परिवार की उदरपूर्ति के लिये रोजी-रोटी पैदा करने के काम में लगाया जाता रहा तो मुफ्त शिक्षा देने की व्यवस्था कोई खास परिणामकारी नहीं सिद्ध होगी। बच्चों से मजदूरी कराने के मनोविज्ञान पर विजय पानी ही होगी। स्पष्ट है कि माता-पिता की गरीबी ही देश में शिक्षा की कमी और बीच में पढ़ाई छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की बड़ी संख्या का मूल कारण है। गौरतलब बात यह है कि जहाँ जन कल्याण के लिए ईसाइयों ने काम किया है वहाँ साक्षरता की दर में वृद्धि नजर आती है। इसके उदाहरण के लिए मिजोरम, मेघालय, नागालैण्ड और बिहार के कुछ हिस्सों को देखा जा सकता है।

अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ

भारत की कुल आबादी के लगभग 15 प्रतिशत लोग अनुसूचित जातियों के हैं। यह आबादी लगभग एक हजार जातियों में बंटी हुई है जिनमें लगभग एक जैसी या मिलती-जुलती जातियाँ भी शामिल हैं। अनुसूचित जातियों में प्रमुख हैं : चमार (जिनकी संख्या कुल अनुसूचित जातियों की एक चौथाई है), भंगी, आदि द्रविण, पासी, मडिग, दुःसाध, माली, परियन, कोली, या

कोरी, माहर, आदि कर्नाटक, नामशूद्र आदि। प्रत्येक राज्य के पास उसके अपने यहां की अनुसूचित जातियों की सूची है। नीचे दी गयी तालिका में बताया गया है कि किस राज्य में कितनी अनुसूचित जातियां हैं:

राज्य	**अनुसूचित जातियों की संख्या**
कर्नाटक	95
उड़ीसा	88
राजस्थान	76
तमिलनाडु	74
मध्य प्रदेश	60
महाराष्ट्र	60
उत्तर प्रदेश	60
पश्चिम बंगाल	60
आन्ध्र प्रदेश	60

अनुसूचित जातियों की आबादी का जनसंख्या सम्बन्धी अध्ययन करने पर अनेक महत्वपूर्ण एवं दिलचस्प तथ्य सामने आते हैं। अनुसूचित जातियों की आबादी का लगभग आधा हिन्दी भाषी राज्यों में रहता है, उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में 235 लाख, बिहार में 100 लाख, मध्य प्रदेश में 73 लाख, राजस्थान में 58 लाख और हरियाणा में 25 लाख। दक्षिण में अनुसूचित जातियों की आबादी मुख्यतः तमिलनाडु (88 लाख) और आन्ध्र प्रदेश (77 लाख) में केन्द्रित है। पूर्व में उनकी आबादी पश्चिम बंगाल (120 लाख) में केन्द्रित है। दिलचस्प बात यह है कि कुल आबादी में अनुसूचित जातियों के लोगों का सर्वाधिक अनुपात (27 प्रतिशत) पंजाब में है, इसके बाद हिमाचल प्रदेश (25 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (22 प्रतिशत), उत्तर प्रदेश (21 प्रतिशत) और हरियाणा (19 प्रतिशत) का स्थान है। अनुसूचित जातियों की ज्यादातर आबादी (84 प्रतिशत) ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है और वे लोग खेतिहर मजदूर, बटाईदार (Share-cropper), छोटे किसान और कारीगर के रूप में जीविका अर्जित करते हैं।

जहाँ तक जनजातियों का सम्बन्ध है उनकी संख्या देश की कुल आबादी का लगभग 9 प्रतिशत है। उनकी गणना देश के दुर्बलतम वर्गों में की जाती है। उनकी भाषा और बोलियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं और वे

देश के सभी प्रकार के भू-जलवायु क्षेत्रों में रहते हैं। जनजातियों की आबादी का 55 प्रतिशत हिस्सा देश की पूर्वी और केन्द्रीय जनजाति पट्‌टी में केन्द्रित है जिसमें पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश का कुछ हिस्सा शामिल है; उनकी लगभग 28 प्रतिशत आबादी गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, दादरा-नगर हवेली और गोआ, दमन एवं दीव की पश्चिमी जनजाति पट्‌टी में रहती है। अनुसूचित जनजातियों की 6 प्रतिशत आबादी दक्षिण के आन्ध्र प्रदेश, केरल और तमिलनाडु के कुछ हिस्सों में पाई जाती है, हिमाचल प्रदेश में 0.83 प्रतिशत और लक्षद्वीप, अण्डमान व निकोबार द्वीप समूह में 0.10 प्रतिशत जनजातियों के लोग हैं। देश में चार राज्य और दो केन्द्र शासित प्रदेश ऐसे हैं जहाँ कि 70 प्रतिशत से अधिक आबादी अनुसूचित जनजातियों के वर्ग में आती है, जैसे-मेघालय (80.58 प्रतिशत), नागालैण्ड (83.99 प्रतिशत), अरुणाचल प्रदेश (69.82 प्रतिशत), मिजोरम (93.55 प्रतिशत), दादरा एवं नगर हवेली (76.82 प्रतिशत) और लक्षद्वीप (93.82 प्रतिशत)। पांच राज्य ऐसे भी हैं जहां की 20 प्रतिशत से अधिक आबादी जनजातियों की है जैसे, मध्य प्रदेश (22.97 प्रतिशत), मणिपुर (27.30 प्रतिशत), उड़ीसा (22.43 प्रतिशत), सिक्किम (23.22 प्रतिशत) और त्रिपुरा (28.44 प्रतिशत)।

प्रमुख जनजातियों में भीलों की संख्या (60 लाख) सबसे ज्यादा है। भीलों के बाद आते हैं गोंड (लगभग 50 लाख) और ओराँव (लगभग 20 लाख)। जनजातियों में ग्रेट अण्डमान जाति के अब केवल 30 प्राणी शेष हैं, इनकी बस्तियां तेजी से उजड़ चुकी हैं। अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह की सेन्टेनलीज, जर्वा और ओंगे जनजाति के लोगों की संख्या 200 से ज्यादा नहीं है। देश के सम्पूर्ण भू-क्षेत्र के लगभग 15 प्रतिशत भाग पर जनजातियों की आबादी है लेकिन देश की 70 प्रतिशत वन और खनिज सम्पदा भी इन्हीं क्षेत्रों में है। कई जनजातियों में स्त्रियां एक से अधिक पति रखती हैं जैसे नीलगिरी की जनजातियां जबकि मेघालय की खासी नामक जनजाति में मातृकुल प्रधान माना जाता है। 70 प्रतिशत जनजातियाँ आज भी ऐसी हैं जिनके लोग खाद्य संग्राहक-आखेटक हैं। ये लोग मुख्यत: आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु और केरल में हैं। परिवर्ती खेती करने वाली जनजातियां मुख्यत: उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों में रहती हैं। वैसे लगभग 70 प्रतिशत जनजातियों के लोग

परम्परागत अर्थात् हल द्वारा खेती करते हैं। कुछ जनजातियों के लोग आज भी शिल्प और दस्तकारी द्वारा जीविका अर्जित करते हैं। अनुसूचित जनजातियों के बीच साक्षरता लगभग 19 प्रतिशत है। फिर भी इस मामले में अंतर्राज्यीय भिन्नता बहुत ज्यादा है- आन्ध्र प्रदेश में 8 प्रतिशत से लेकर मिजोरम में 60 प्रतिशत तक।

धार्मिक संघटन

भारतीय समाज सदैव से बहुधर्मी और बहुजातीय रहा है। इस महान देश में विश्व के सभी धर्मों के अनुयायी रहे हैं; उदाहरणार्थ-हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, जूरस्ट्री (पारसी) और यहूदी। देश में हिन्दुओं का समाज बहुमत में है, कुल आबादी का लगभग 83 प्रतिशत। उनके बाद मुसलमान (लगभग 12 प्रतिशत) आते हैं। पारसी और यहूदी बहुत कम संख्या में हैं। बड़ी संख्या वाले समुदायों के लोग अर्थात् हिन्दू, मुसलमान और ईसाई देश के लगभग सभी क्षेत्रों में निवास करते हैं और स्थानीय भाषाएं व बोलियां बोलते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों की आबादी में 84.5 प्रतिशत लोग हिन्दू हैं। शहरी क्षेत्रों में वे 76.5 प्रतिशत हैं जबकि मुसलमान गाँवों में 9.8 प्रतिशत और शहरों में 16.3 प्रतिशत हैं। हिन्दुओं की कुल आबादी का 78 प्रतिशत हिस्सा देहातों में और 22 प्रतिशत हिस्सा शहरों में बसता है जबकि 34 प्रतिशत मुसलमान देहातों में और 66 प्रतिशत शहरों में बसे हुए हैं। इस प्रकार शहरी क्षेत्रों में मुसलमान आबादी अधिक केन्द्रित है। जनसंख्या में वृद्धि पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि मुसलमानों में (जम्मू और कश्मीर को छोड़कर) जनसंख्या में वृद्धि की दर थोड़ी ऊँची है। इसका एक कारण तो उनकी शहरी जिन्दगी हो सकती है और दूसरा कारण उनकी गरीबी और आर्थिक पिछड़ापन हो सकता है। जनसंख्या के ज्यादातर विद्वानों का विचार है कि शहरों में रहने के कारण मुसलमानों की मृत्यु दर कम है। हिन्दुओं में आबादी की वृद्धि की दर सापेक्षतया कम रही है क्योंकि ज्यादातर देहाती इलाकों में रहने के कारण उनमें मृत्यु की दर ऊँची रही है।

पिछले दिनों में बहुत से जनांकिकीविदों (Demographers) ने अपने वैज्ञानिक तर्कों व प्रमाणों से उन निराधार कल्पनाओं और पूर्वाग्रहों को गलत साबित कर दिया है जो धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सोच के कारण आमतौर से

प्रचलित हो गयी थीं। समाज में महिलाओं के स्तर का अध्ययन करने के लिए गठित राष्ट्रीय आयोग ने अपनी रिपोर्ट में यह जानकारी दी है कि बहुपत्नी प्रथा का अनुगमन करने वाली जातियों में पहला स्थान बौद्धों का है और उनके बाद जैनियों, हिन्दुओं, जनजातियों और मुसलमानों का स्थान आता है। इसका समर्थन हाल में प्रकाशित ''एन्थ्रोपोलॉजिक्ल एटलस ऑव इंडिया'' (1994) में किया गया है जो भारत की आबादी पर अब तक का सर्वाधिक प्रामाणिक सर्वेक्षण है। इसमें अनेक उद्यमी सामाजिक वैज्ञानिकों के अपने विस्तृत क्षेत्रीय सर्वेक्षण के आधार पर यह बताया गया है कि भारत के 1825 बहुपत्नीविवाही समुदायों में 1247 समुदाय हिन्दुओं में, 372 समुदाय मुसलमानों में तथा बाकी दूसरे धर्मावलंबियों में पाये जाते हैं।

अनुपात की दृष्टि से लक्षद्वीप तथा जम्मू एवं कश्मीर में मुसलमानों का बहुमत है, नागालैण्ड और मेघालय में ईसाइयों का बहुमत है। पंजाब में सिख ज्यादा हैं और अरुणाचल प्रदेश में बौद्ध ज्यादा हैं। 60 प्रतिशत ईसाई आन्ध्र प्रदेश, केरल और तमिलनाडु में रहते हैं जबकि सिखों की कुल जनसंख्या का 71 प्रतिशत पंजाब में रहता है। इसके अलावा चण्डीगढ़ की 25 प्रतिशत, दिल्ली की 7 प्रतिशत और हरियाणा की 5 प्रतिशत आबादी सिखों की है।

यह भी बताया गया है कि धार्मिक रूप से अल्पमत वाले समुदायों में बहुमत वाले समुदायों की तुलना में शिक्षा और साक्षरता अधिक है। पारसी, जैन, यहूदी और ईसाई समुदाय इसके प्रमाण हैं। मुसलमानों में उसका एक महत्वपूर्ण समुदाय अर्थात् शिया समुदाय का उदाहरण भी दिया जा सकता है। उनमें साक्षरता की दर उतनी ही ऊँची है जितनी पारसी और ईसाई समुदाय में है। इस स्थिति की सबसे ज्यादा और तर्कसंगत व्याख्या है कि वह केवल संख्या के आधार पर देश और समाज को प्रभावित या उससे सुविधाएं प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिये यह आवश्यक है कि वह देश-समाज में अपना समुचित स्थान पाने के लिए श्रेष्ठता और विशिष्टता हासिल करे। स्वयं अपने योगदान से ही वे अपना प्रभाव जमा सकते हैं अथवा सम्मान प्राप्त कर सकते हैं।

जनसंख्या सम्बन्धी नीति का समालोचनात्मक मूल्यांकन

जनसंख्या सम्बन्धी नीति का समालोचनात्मक मूल्यांकन करने के पहले हमें उसकी राष्ट्रीय नीति की पृष्ठभूमि से अवगत होना चाहिए। पहली

पंचवर्षीय योजना (1951-56) के निर्माण के वर्षों में योजना आयोग ने यह स्वीकार किया कि नियोजन का कार्य न केवल आबादी के नियंत्रण के लिए वरन् देश के स्वास्थ्य अर्थात् माताओं और बच्चों के स्वास्थ्य के हित में हैं। हालांकि परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को तुरन्त शुरू कर दिया गया किन्तु चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन उस समय सामने आया जब सरकार ने ''समयबद्ध'' और ''पूर्व निर्धारित लक्ष्यों'' की पूर्ति के कार्यक्रमों का सहारा लिया और यह निर्णय किया कि अगले दस या बारह वर्षों के भीतर जन्मदर को 39 प्रति हजार आबादी से 25 प्रति हजार आबादी तक घटा दिया जायेगा। योजना आयोग ने योजना के बढ़ते हुए परिव्यय को तो महत्व दिया लेकिन सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन और प्रयासों की प्रकृति को महसूस नहीं किया।

बाद के दस-पन्द्रह वर्षों में बुनियादी शोध एवं क्षेत्रीय सर्वेक्षण सम्बन्धी जोरदार कार्रवाइयां की गयीं जिनमें अनेक विदेशी विशेषज्ञों एवं एजेन्सियों से काम लिया गया। पिछले अनुभवों और प्राप्त की गई नई जानकारियों के आधार पर एक व्यापक ''नेशनल पापुलेशन पॉलिसी'' (एन.पी.पी.) अर्थात् ''राष्ट्रीय जनसंख्या नीति'' बनायी गई और तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री द्वारा 16 अप्रैल, 1976 को संसद के समक्ष पेश की गयी (राष्ट्रीय जनसंख्या नीति सम्बन्धी वक्तव्य इस पुस्तक के परिशिष्ट खण्ड में देखी जा सकती है)। इस नीति में आर्थिक आजादी और सामाजिक कायाकल्प की ओर भारत की प्रगति के लिए जनन क्षमता के नियंत्रण की निर्णायक भूमिका पर बल देने के साथ ही नीति सम्बन्धी वक्तव्य में कहा गया कि सरकार ने कई बुनियादी कदम उठाने का निर्णय किया है जिनके जरिये, जैसी कि आशा की गयी है, हम अपना निर्धारित नियोजित लक्ष्य पूरा कर सकेंगे अर्थात् छठी योजना के अन्त तक हम देश की जन्म दर को अनुमानित 35 प्रति हजार से घटा सकेंगे। इन कार्रवाइयों में जो बातें शामिल की गई हैं, वे हैं – विशेष रूप से परिवार नियोजन की मद में राज्यों की योजनाओं को दी जाने वाली 8 प्रतिशत की केन्द्रीय सहायता को निश्चित करना, भावी पचीस वर्षों तक 1971 की जनगणना आबादी के आधार पर केन्द्रीय एवं राज्य विधान सभाओं में प्रतिनिधित्व को स्थिर कर देना, विवाह की न्यूनतम आयु लड़कियों के लिए 18 वर्ष तक और लड़कों के लिए 21 वर्ष तक बढ़ा देना,

नसबन्दी कराने या बन्ध्याकरण कराने वालों को वेतन या उजरत की क्षति के रूप में नकद मुआवजे की व्यवस्था और बच्चों को पुष्टकर भोजन एवं मिडल (कक्षा आठ) तक लड़कियों की शिक्षा को अत्यधिक प्राथमिकता प्रदान करना। इनमें से ज्यादातर कार्रवाइयां सापेक्षत: आसानी से की गयीं किन्तु नसबन्दी और बन्ध्याकरण के कार्यक्रम में अत्यधिक आक्रामक ढंग और दबाव का इस्तेमाल किया गया। भारतीय समाज इस प्रकार की कठोरता के लिए तैयार न था। 1977 में ''इमरजेन्सी'' के पश्चात सत्ता पलटने पर देश में एक तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया और विचाल की स्थिति देखी गयी।

नयी सरकार ने भी आबादी के नियंत्रण की आवश्यकता और उसके महत्व पर बल दिया। उसने अप्रैल 1977 में अपना नीति सम्बन्धी वक्तव्य जारी किया जिसमें सरकार द्वारा अपनी परिवार नियोजन सम्बन्धी युक्ति का अनावरण किया गया। जून 1977 में सरकार द्वारा आबादी सम्बन्धी एक अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत वक्तव्य में परिवार नियोजन को सम्पूर्ण कल्याण कार्यक्रम का अविछिन्न अंग घोषित किया गया लेकिन उसमें इस बात पर भी बल दिया गया कि संतति-निग्रह (birth control) का काम व्यक्ति की स्वेच्छा पर भी निर्भर होगा (इस वक्तव्य को पुस्तक के अंत में दिये गये परिशिष्ट में देखा जा सकता है)। उल्लेखनीय बात यह है कि 1976 के राष्ट्रीय आबादी नीति सम्बन्धी व्यक्तव्य की भांति यह बात भी वक्तव्य देने तक ही सीमित रही, इसे विधेयक या अधिनियम नहीं बनाया गया। अधिनियम का दरजा केवल विवाह की न्यूनतम आयु को मिल सका-लड़कों के लिए वह 21 वर्ष तक और लड़कियों के लिए 18 वर्ष तक कर दी गयी। संतति निग्रह की कार्रवाइयों की सफलता पर असंतोष प्रकट करते हुए योजना आयोग ने 1979 में जनसंख्या सम्बन्धी नीति के बारे में एक कार्यकारी समिति नियुक्त किया। इस कार्यकारी समिति ने शुद्ध जनन-दर के मौजूदा 1.67 के स्तर को सम्पूर्ण देश के लिए वर्ष 1996 तक और सन् 2001 तक सभी राज्यों में घटाकर एक तक ले आने के लक्ष्य को अपनाने की संस्तुति की। उसने दीर्घावधि के इस लक्ष्य की निम्नलिखित रूप से व्याख्या की:

1. औसत पैमाने का परिवार 4.3 बच्चों के घटकर 2.3 बच्चों का हो जायेगा।
2. प्रतिहजार आबादी पर जन्मदर 1978 में 33 के स्तर की तुलना में घटकर 21 हो जायेगी।

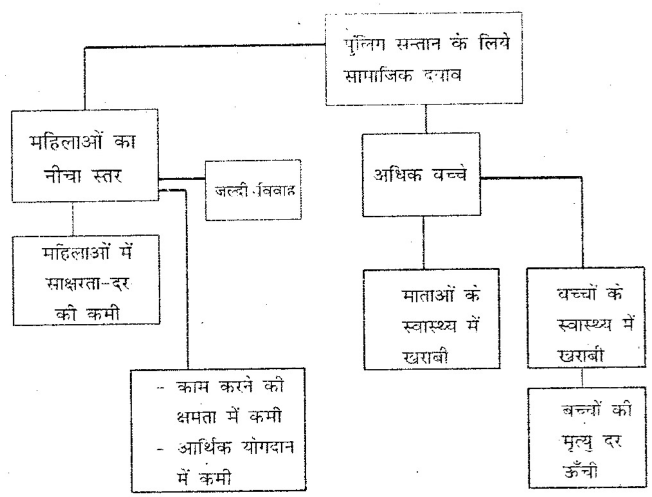
3. मृत्यु-दर प्रति हजार की आबादी पर 1978 में 14 के स्तर से घटकर 9 हो जायेगी और शिशु मृत्यु-दर भी 129 से घटकर 60 या उससे कम हो जायेगी।
4. 1979-80 में जनन क्षमता वाली केवल 22 प्रतिशत दम्पत्तियाँ परिवार नियोजन से संरक्षित थीं, जबकि इस कार्रवाई से लगभग 60 प्रतिशत दम्पत्तियां संरक्षित हो जायेंगी।
5. शताब्दी बदलने के समय तक भारत की आबादी 90 करोड़ के आसपास हो जायेगी और सन् 2050 तक वह 1 अरब 20 करोड़ तक पहुँचकर स्थिर हो जायेगी।

1991 की जनगणना से प्राप्त सामग्री तथा जनसंख्या सम्बन्धी अन्य अध्ययनों से स्पष्ट है कि ऊपर बताये गये लक्ष्य काम के मौजूदा सामाजिक-आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक ढांचे के रहते प्राप्त नहीं किये जा सकते। इनसे चिंतित होकर परिवार कल्याण विभाग ने परिवार कल्याण कार्यक्रम को आवश्यक प्रोत्साहन देने के लिए एक कार्य-योजना बनाई है।

गैर-सरकारी विशषज्ञों और एजेन्सियों ने इस बारे में यह विचार व्यक्त किया है कि इस कार्य-योजना में भी 1976 की जनसंख्या नीति की तुलना में कोई खास नई या बड़ी बात नहीं अपनाई गयी है, इसमें किसी नूतन-पद्धति को स्थापित करने की गुंजाइश भी बड़ी सीमित है। ''विनाश के भविष्य वक्ताओं'' की टिप्पणियों के शोर में जो चीज नीचे दब गयी है वह है वह उपलब्धि या सफलता जो आबादी के नियंत्रण के क्षेत्र में केरल, तमिलनाडु, गोआ और मिजोरम जैसे राज्यों ने प्राप्त की है। इस दिशा में उनकी कामयाबी की तुलना विश्व के किसी भी राष्ट्र से की जा सकती है। इनके अतिरिक्त पंजाब, महाराष्ट्र और कर्नाटक को भी इस क्षेत्र में औसत दरजे की कामयाबी हासिल हुई है। किन्तु देश के चार सबसे बड़े राज्यों में आबादी के नियंत्रण का कार्य बड़ा ही शोचनीय रहा है। ये राज्य हैं - उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और राजस्थान। जन्म-दर पर नियंत्रण पाने में इन राज्यों की असफलता बहुत ही सनसनीखेज और ध्वनिकारी रही है। प्रासंगिक रूप से इन चारों राज्यों की आबादी कुल मिलाकर पूरे देश की आबादी के 40 प्रतिशत से अधिक है और इन चारों राज्यों में परिवार नियोजन की सफलता या असफलता

राष्ट्रीय स्तर पर आबादी को नियंत्रण में रखने के किसी भी राष्ट्रीय प्रयास को प्रभावित कर सकती है।

आबादी सम्बन्धी अपनी नीति की असफलता के अनेक मूल्यांकनों के आधार पर बनाये गये निम्नलिखित प्रतिकृति द्वारा असफलता या आंशिक सफलता का सारांश प्रस्तुत किया जा सकता है।



स्वास्थ्य- स्त्रियों की सामाजिक स्थिति - जनसंख्या वृद्धि सम्बन्धः एक सरलीकृत मॉडल (सौजन्य स-''द इनएवीटेबिल बिलियन प्लस में किरण कार्निक, 1993)

भारत की जनसंख्या सम्बन्धी नीति के जीर्ण-शीर्ण रूप की असफलता का विवेचन करते हुए वी.ए. पाई पनन्डिकर (1993) ने कहा है कि भारत की आबादी नीति को अनिवार्यतः केवल जनन क्षमता को घटाने की दृष्टि से बनाया गया है जिससे आबादी को जल्दी से जल्दी स्थिर किया जा सके। इसलिए, जनन-पक्ष पर ज्यादा जोर दिया गया है। फलस्वरूप जनन-क्षमता के नियंत्रण पर अपेक्षाकृत अधिक निवेश, अधिक परिवार नियोजन केन्द्र, गर्भनिरोधक प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहन और, जैसा कि इमरजेन्सी के दौरान हुआ था, अनिवार्य सन्तति निरोधी कदम उठाने पड़ सकते हैं। अपने स्वयं के गुण-धर्म और प्रकृति के कारण भारत की आबादी नीति को असफल होना ही था।

स्वयं उसका कार्यकलाप ही उसकी असफलता की पुष्टि करता है। मानवीय इतिहास साक्षी है कि जनन-क्षमता केवल परिवार-नियोजन के कार्यक्रमों और उसकी योजनाओं से कम नहीं होती। वह अपेक्षाकृत बड़ी ऐतिहासिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के प्रत्युत्तर में कम होती है। जन्म-दर घटाने वाले दो प्रमुख तत्व हैं: (1) समाज का संरचनात्मक कार्यकलाप अर्थात् जब खेतिहर समाज को औद्योगिक और उत्तर-औद्योगिक समाज में बदला जाता है, और (2) सामाजिक विकास, बुनियादी रूप से शिक्षा, विशेषतया स्त्रियों की प्रारम्भिक शिक्षा। यह बात परिवार नियोजन के कार्यक्रमों के महत्व को कम करने के लिये नहीं कही गयी है बल्कि जनन-क्षमता को कम करने वाले तत्वों पर बल देने के लिए कही गयी है।

एक अन्य जनसंख्या-विद् आशीश बोस ने ऐसे तीन कराणों पर प्रकाश डाला है जो भारतीय परिवार नियोजन कार्यक्रमों की असफलता के लिए जिम्मेदार हैं:

1. हम अपने यहाँ निरक्षरता को जल्द से जल्द समाप्त करने में असफल रहे।
2. ऊँचे दरजे के भ्रष्टाचार के कारण हम जनता की बुनियादी जरूरतें पूरी करने में असफल रहे।
3. देश में बड़े पैमाने पर निरक्षरता होने के कारण हम जनता के साथ सही ढंग से संवाद स्थापित करने के मामले में असफल हुए हैं।

इसीलिए, एक दीर्घावधि नीति के अंतर्गत ऊपर दी गयी तीनों समस्याओं को एक साथ हल करना जरूरी है। जैसा कि किरन कार्निक ने सही संकेत दिया है कि सम्बन्धित विषयों के सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए हमारी वही नीति उचित और प्रभावकारी हो सकती है जो निम्नलिखित बातों पर बल दे:

क. माताओं और बच्चों का स्वास्थ्य,
ख. स्त्रियों को समाज में अच्छा स्थान और स्त्री-पुरुष की समानता,
ग. शिक्षा, विशेष रूप से स्त्री समाज में साक्षरता,
घ. लड़कियों का अपेक्षाकृत अधिक आयु में विवाह,
ड़. कम संतानें और संतानों के बीच काफी कालांतर हो,
च. अवसानेतर गभ-रोधक तरीकों (non-terminal contraceptive methods) का इस्तेमाल।

निष्कर्ष के रूप में आशीश बोस का उद्धरण देना ठीक होगा जिन्होंने जोरदार शब्दों में कहा है कि छोटे परिवार के आदर्श और गर्भरोधक कार्रवाइयों को भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की विचारणीय कार्यसूची का विषय माना जाना चाहिए। इसे स्वास्थ्य कार्यक्रम का हिस्सा जरूर बनाना चाहिए। साथ ही, स्वास्थ्य कार्यक्रम को ऐसे सम्पूर्ण विकास कार्यक्रम का हिस्सा होना जरूरी है जिसमें पौष्टिक आहार, महिलाओं की फिक्र, स्कूली-पढ़ाई, साक्षरता, शिक्षा और सबसे महत्वपूर्ण बात, रोजगार एवं आमदनी होने और उसके बढ़ते रहने की बातें भी शामिल हों। आबादी के नियंत्रण को एक अलग खाने में रखने से काम नहीं चलेगा- यह तो विकास के खाने का ही एक हिस्सा है। विकास से बड़ा व प्रभावशाली गर्भनिरोधक कोई नहीं है।

◆◆◆

खण्ड चार

भारतीय सामाजिक व्यवस्था

(Indian Social System)

12

भारतीय समाज के अध्ययन के विभिन्न उपागम

(Approaches to the Study of Indian Society)

भारतीय समाज की जटिलताओं के विश्लेषण व अध्ययन के लिए समय-समय पर विभिन्न उपागमों को विकसित किया गया है। भारत विद्या (Indological) उपागम से लेकर हाशिये के समाज (Subaltern) उपागम तक अनेक उपागमों का प्रयोग इस कार्य के लिए किया गया है। कुछ महत्वपूर्ण उपागमों में निम्नलिखित को शामिल किया जा सकता है जिनमें से कुछ हद तक परस्पर व्यापन (Overlapping) भी देखी जाती है।

1. भारत विद्या उपागम (Indological Approach)
2. संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम (Structural Functionalist Approach)
3. ऐतिहासिक उपागम (Historical Approach)
4. सांस्कृतिक उपागम (Culturological Approach)
5. मार्क्सवादी उपागम (Marxist Approach)
6. हाशिये के समाज सम्बंधी उपागम (Subaltern Approach)

भारत विद्या उपागम (Indological Approach)

भारतीय समाज के अध्ययन में काफी लोकप्रिय रहा है, जिसके द्वारा अनेक विद्वानों ने भारतीय समाज को समझने का प्रयास किया है। भारत विद्या (Indology) भारतीय उप महाद्वीप के इतिहास, संस्कृति, भाषाओं आदि का अकादमिक अध्ययन है जिसके अन्तर्गत भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका व नेपाल को आधुनिक राज्यों के रूप में भी रखकर अध्ययन किया गया है क्योंकि इन सभी को दक्षिण एशियाई सभ्यता या 'भारतीय सभ्यता'

के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार इंडोलॉजी को भारतीय समाज व संस्कृति के व्यवस्थित अध्ययन के रूप में समझा जाता है। इस उपागम को विकसित करने के पीछे यह औचित्य रहा है कि भारतीय सभ्यता अपने आप में इतनी विलक्षण (Unique) रही है कि उसको पाश्चात्य समाजशास्त्र (Western Sociology) के फ्रेमवर्क में नहीं फिट किया जा सकता और भारतीय समाज को भारतीय सभ्यता की ही अवधारणाओं व सिद्धांतों के फ्रेमवर्क में रखकर ही समझा जा सकता है।

इस उपागम की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह उपागम अनुभाविक परिदृश्य (Empirical/Field View) के बजाय पुस्तकीय परिदृश्य (Textual/Book View) पर आश्रित है। ऐसी सूरत में यह भारतीय समाज व संस्कृति की जड़, रुढ़िबद्ध व अपरिवर्तनीय (stereotyped) छवि व व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यह उपागम इंडोलॉजी से बहुत अधिक प्रभावित है यद्यपि यह पूर्णरूपेण इंडोलॉजी नहीं है। अधिकांश भारत विद्याविद् (Indologists) **इंडोलॉजिकल रिसर्च सेण्टर पुणे,** लखनऊ व सर विलियम जोंस द्वारा स्थापित **एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल** जैसे भारत विद्या परम्पराओं (Indological Traditions) के उत्पाद या प्रक्षित रहे हैं। महत्वपूर्ण है कि भारतीय समाजशास्त्र के संस्थापक यथा- जी.एस. धुर्ये, बी.के. सरकार, राधाकमल मुखर्जी, के.एम. कपाड़िया, पी.एच. प्रभु व इरावती कर्वे जैस विद्वान भारत विद्या उपागम से बहुत प्रभावित थे। जी.एस. धुर्ये पुणे के भंडारकर इंस्टीट्यूट के शोधकर्ताओं से बहुत प्रभावित थे। वह संस्कृत भाषा के भी विद्वान थे और उन्होंने भारतीय समाज व संस्कृति को समझने के लिए संस्कृत के मूल पाठों को बहुत इस्तेमाल किया। भारत में जाति, जनजाति, भारतीय मुसलमान, भारतीय ज्ञान व मूल्य व्यवस्था की उनकी समझ काफी विवादित मानी जाती है जिसे दूसरे अनेक विद्वानों ने चुनौती दी है। उनके आलोचकों का मानना है कि वह आधुनिक भारत के उदय को समझने में असफल रहे और उसमें इस्लाम व अंग्रेजी प्रशासन के योगदान की अनदेखी की गई। इसके अतिरिक्त उनका दृष्टिकोण उस भारत को महिमामंडित करता हुआ लगता है जो असमानता व शोषण से भरा हुआ था। इस प्रकार हम पाते हैं कि दूसरे उपागम इंडोलॉजिकल उपागम के 'पुस्तकीय परिदृश्य' की प्रतिक्रिया स्वरूप विकसित हुए।

संरचनात्मक-प्रकार्यवादी उपागम (Structural Functionalist Approach)

शायद भारतीय समाज को समझने के सभी उपागमों से अधिक लोकप्रिय है। महत्वपूर्ण बात है कि यह उपागम Normative Structure की तुलना में Emprical Structure को कहीं अधिक महत्व देता है। ए.आर. रेडक्लिफ-ब्राउन से प्रेरित यह उपागम व्यवस्थित व कठोर परिशुद्धतायुक्त क्षेत्रकार्य (rigorious field work) को प्रोत्साहित करता है।

संरचनात्मक-प्रकार्यवादी उपागम के अनुयायी 'सत्य' को तुरन्त सत्य मानकर नहीं चलते। उनका मानना है कि उनके इस दृष्टिकोण के पीछे यह तर्क है कि समाजिक घटनाएं सामाजिक सन्दर्भ में ही घटित होती हैं और उसे समझने के लिए अनुभाविक अवलोकन (empirical observation) की आवश्कयता पड़ती है न कि पुस्तकीय परिदृश्य की, जिसका इस्तेमाल इंडोलॉजिकल उपागम करता रहा है। इस प्रकार शोधकर्ता को स्वयं अपने क्षेत्र में जाकर तथ्य संकलन करना चाहिए। उपलब्ध साहित्य के आधार पर अतीत के महिमामंडन की यहां पर कोई गुजाइश नहीं है। एक संरचनात्मक-प्रकार्यवादी के लिए सामाजिक संरचना एक अनुभाविक यथार्थ (empirical reality) है जिसको किसी भी समय बिन्दु पर देखा जा सकता है। रेडिक्लिफ ब्राउन का मत था कि संस्कृति के किसी वैज्ञानिक अध्ययन को सामाजिक संरचना के आयाम के रूप में समझा जाना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक संरचना ही इस उपागम की केन्द्रीय अवधारणा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एम.एन. श्रीनिवास के नेतृत्व में यह उपागम बहुत लोकप्रिय हुआ। इसका सबसे अधिक इस्तेमाल ग्रामीण समुदायों, जाति संरचना, परिवार संरचना, बंधुत्व संरचना, धार्मिक संरचना व राजनीतिक संरचना के अध्ययन व विश्लेषण में किया गया।

श्रीनिवास ने न केवल स्वयं बल्कि अपने सहयोगियों व विद्यार्थियों को भी भारतीय समाज के अध्ययन में इस उपागम को लागू करने के लिए प्रेरित किया। उनकी प्रसिद्ध कृतियों जैसे- 'रिलीजन एण्ड सोसाइटी अमंग द कूर्ग', 'रायपुरा विलेज', 'सोशल चेंज इन मार्डन इण्डिया' और दूसरे अध्ययनों में भी इस उपागम का इस्तेमाल किया गया। एस. सी. दुबे की 'इंडियन विलेज' भी इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इन सभी और अन्य भी

क्षेत्रकार्य आधारित उपागम का इस्तेमाल भारतीय समाज को समझने में किया गया। यद्यपि इस उपागम का आधार अनुभाविक अध्ययन है और यही इसकी शक्ति भी है लेकिन कुछ आलोचकों का विचार है कि इसकी सबसे बड़ी कमजोरी सांस्कृतिक व ऐतिहासिक आयामों की अनेदखी करना है।

ऐतिहासिक उपागम (Historical Approach)

ऐतिहासिक उपागम (Historical approach) भी भारतीय समाज के अध्ययन में महत्वपूर्ण माना गया है। इस उपागम की अनन्यता या विलक्षणता (uniqueness) इस बात में निहित है कि यह सामाजिक घटना (social phenomenon) की समकालिक संरचना (synchronic structure) के बजाय विकास के ऐतिहासिक प्रक्रिया (historical process of development) को अधिक महत्व देता है। मार्क्सवादियों व वेबर के अनुयाइयों की तरह यह सामाजिक विकास की प्रक्रिया के द्वारा समाज को समझना चाहता है। यह उद्योगीकरण, नगरीकरण, जनतंत्रीकरण, आधुनिकीकरण आदि की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करता है। इस प्रकार यह उपागम विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं को ऐतिहासिक ढांचे (historical framework) में समझने का प्रयास करता है। यद्वपि जी.एस. धुर्ये व राधाकमल मुखर्जी जैसे विद्वानों ने भी ऐतिहासिक उपागमों का इस्तेमाल किया लेकिन उनके अध्ययन अपनी विशिष्टता के कारण इंडोलॉजिक उपागम में रखे जाते हैं।

सांस्कृतिक उपागम (Culturological Approach)

पूर्व वर्णित उपागमों की तुलना में सापेक्षिक तौर पर लघुतम या गौण माना जाता है। इसको गैर-मानकीकृत (non-standardised) भी समझा जाता है क्योंकि इसमें दृष्टिकोणों की विविधता भी है। फिर भी इन सभी दृष्टिकोणों में जो बात समान है वह यह है कि सामाजिक संबंधों और सामाजिक संरचनाओं की तुलना में अध्ययन विषय के तौर पर केन्द्र में न रखकर संस्कृति की प्राथमिकता पर बल देता है। यह व्यक्ति को सांस्कृतिक सत्ता या हस्ती (cultural being) के रूप में देखता है। यह उपागम मूल रूप से विशुद्ध सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों के प्रभाव में विकसित हुआ न कि समाजशास्त्रियों के। संस्कृति पर इतना बल देना कभी-कभी यह आभास देता है जैसे कि यह इंडोलॉजिकल उपागम जैसा हो लेकिन अनुभाविक परिदृश्य

को प्राथमिकता देना और क्षेत्र कार्य के द्वारा तथ्यों को जानना इसको इंडोलॉजिकल उपगाम से बिल्कुल अलग करता है। इसके अलावा सांस्कृतिक विश्लेषण की पद्धति और संस्कृति के सिद्धांत इस उपागम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किलीफिर्डगीर्रट्ज, मिकिम मैरियत, डेविड शनाईडर, मिल्टन सिंगर जैसे महत्वपूर्ण मानवशास्त्रियों की कृतियां इस बात की साक्षी हैं।

भारतीय समाज के अध्ययन के विभिन्न उपागमों ने हमारे समझने-सोचने पर इतना प्रभाव नहीं डाला है जितना मार्क्सवादी उपागम ने। इसका उद्‌भव ऐतिहासिक उपागम से हुआ था जिसका प्रयोग ऐतिहासिक समाजशास्त्र में होता था। मार्क्सवादी उपागम सामाजिक यथार्थ को समझने में उत्पादन के साधन व श्रम विभाजन के प्रौद्योगिकी-आर्थिक पक्ष की समझ पर बल देता है जो उत्पादन के उपकरण व उत्पादन के सामाजिक संबंधों का परिचालन करता है जिसे हम संपत्ति के संबंधों के रूप में भी समझ सकते हैं। मार्क्सवादी उपगाम समाज के विश्लेषण में संपत्ति संरचना (property structure) को केन्द्र में रखता है।

यह उपागम ऐतिहासिक निरंतरता में अल्पविराम एवं एक सामाजिक-आर्थिक संगठन से दूसरे में संक्रमण के मध्य उद्‌विकासीय व क्रांतिकारी द्वन्द्वात्मकता के परिवर्तनों की पहचान भी करता है।

भारतीय समाज के मार्क्सवादी विश्लेषण के क्षेत्र में डी.डी. कोशम्बी, ए. आर. देसाई व डी.पी. मुखर्जी प्रमुख प्रतिपादक रहे हैं। भारतीय समाज को समझने के लिए देसाई ने एक एतिहासिक-समाजशास्त्रीय मॉडल को विकसित करने का प्रयास किया। एक मार्क्सवादी विद्वान के रूप में उनका मानना था कि भारतीय समाज की बुनियाद उन उत्पादन प्रणलियों पर है जो विभिन्न कालों- उपनिवेष पूर्व (pre-colonial), उपनिवेषिक काल (colonial period) तथा उपनिवेषिक काल के बाद (post-colonial period) में विकसित होती रही हैं। ग्रामीण भारत के सामाजिक-आर्थिक व सांस्कृतिक संरचना के अध्ययन व विश्लेषण व उनमें होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या उनके बीजगर्भित योगदान के रूप में देखी जा सकती है जिसने हमें नयी दृष्टि प्रदान की। उनकी कृति 'सोशल बैंकग्राउड आफ इण्डियन नेशनलिज्म', 'रूरल सोशियोलॉजी इन इण्डिया' व 'रूरल इण्डिया इन ट्रांजीशन' भारतीय

समाज में अनमोल योगदान के रूप में देखे जाते हैं।

हाशिये के समाजों का उपागम (Subaltern Approach)

भारतीय समाज के अध्ययन के विभिन्न उपागमों में हाशिये के समाजों का उपागम (subaltern approach) सबसे नया है। इसको मार्क्सवादोत्तर (post-marxist) आंदोलन के रूप में भी देखा जाता है क्योंकि इसके प्रतिपादकों ने मार्क्सवादी सिद्धांत के साथ विभिन्न दूसरे प्रभावों का भी प्रयोग किया है। इतिहास लेखन का सबाल्टर्न सम्प्रदाय (subaltern school of historiography) का उद्‌भव 1980 के दशक के दक्षिण एशियाई समाजों, विशेषकर भारतीय समाज के अध्ययन के लिए हुआ। मार्क्सवादी चिन्तक एन्टोनियो ग्राम्सी के विचारों से प्रभावित, सबाल्टर्न की अवधारणा का प्रयोग समाज के हाशिये पर रहने वाले लोगों के लिए किया गया। इस उपागम के विकसित करने के पीछे यह धारणा थी कि मार्क्सवादी विद्वान भारत के इतिहास में जाति व धर्म की विचारधारा को महत्वपूर्ण कारकों के रूप में स्वीकार करने में झिझकते थे। इस प्रकार सबाल्टर्न विद्वानों के अनुसार मार्क्सवादी उत्पीड़ित वर्गों के, जो धार्मिक समाजिक प्रथाओं में डूबे हुए थे, जीवन्त अनुभवों को समझने के लिए महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को संकलित करने व इस्तेमाल करने में अक्षम थे।

रंजीत गुहा, पार्था चटर्जी, ज्ञान प्रकाश, शैल मायाराम व शाहिद अमीन जैसे अग्रणी विद्वानों ने इस उपागम के अन्तर्गत महत्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत की हैं। वर्तमान में सबाल्टर्न की अवधारणा का इस्तेमाल इतिहास, साहित्य, मानव विज्ञान व समाजशास्त्र जैसे अनुशासनों में नियमित रूप से हो रहा है तथा उसको प्रमुख तौर से उपनिवेषोत्तर सिद्धांत (post-colonial theory) के परिप्रेक्ष्य में इस्तेमाल किया जा रहा है। यद्यपि सबाल्र्टन अध्ययन का उद्‌भव भारत में 1980 के दशक में हुआ था लेकिन अब यह अपनी उपस्थिति पूरे संसार में दर्ज कर चुका है। भारत के संदर्भ में इसका इस्तेमाल सभी उत्पीड़ित, वँचित व हाशिये पर रह रहे समाजों के जीवन के प्रलेखन में किया जा रहा है जिसमें किसान, कामगार, दलित व आदिवासी जैसे वर्ग शामिल हैं, जिनकी आवाज इतिहास में कभी नहीं सुनी गयी।

◆◆◆

13

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आधार

पुरुषार्थ, आश्रम, ऋण, कर्म, पुनर्जन्म आदि

भारत में, संसार के तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक विचारधाराओं- हिन्दुत्व, इस्लाम और क्रिश्चियनिटी (ईसाई धर्म), के अनुसरण करने वाले लोग रहते हैं। इनके अतिरिक्त इस उपमहाद्वीप में दूसरे मुख्य धर्मों, जैसे जूडाइज्म (यहूदीवाद), जोरथिस्ट्रिनिज्म (पारसीवाद) के अनुसरण करने वाले लोग इन लोगों के साथ रहते हैं जो लोकप्रिय हिन्दुत्व की मुख्य धारा से बाहर उसकी शाखाओं के रूप में निकले, जैसे-बौद्ध धर्म, जैन धर्म और सिख धर्म। पिछले पांच हजार वर्षों के दौरान भारतीय उपमहाद्वीप ने इन धर्मों के एवं अन्य बहुत से दार्शनिक सम्प्रदायों के अद्वितीय संश्लेषण का प्रमाण प्रस्तुत किया। समकालीन भारतीय समाज और इसका सामाजिक संगठन पारस्परिक सहअस्तित्व के क्षेत्र में अनोखे प्रयोग का परिणाम है। इस पर भी जब हम पारम्परिक अर्थों में भारतीय सामाजिक व्यवस्था की बात करते हैं तो हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में ये अभिन्न धारणायें हैं जो अब भी करोड़ों हिन्दू जनसंख्या की विचारधारा और कार्य पर प्रभुत्व कायम किये हुये हैं।

यूरोप के लोगों ने धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और दार्शनिक विश्वास, जो हिन्दुओं की जीवनचर्या (जीने का ढंग) की सम्पूर्णता का निर्माण करते हैं, को हिन्दुत्व (Hinduism) नाम दिया। हिन्दू स्वयं अपनी धार्मिक परम्पराओं को "अलौकिक (दैवीय) कानून" (सनातन धर्म) कहकर पुकारते हैं। हिन्दू (भारतीय) सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, कर्म, ऋण, पुनर्जन्म, संयुक्त परिवार और जाति

व्यवस्था हैं।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ जीवन के चार उद्देश्य-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को निर्दिष्ट करते हैं। धरती पर दीर्घकाल तक जीवन बिताने की इच्छा व्यक्ति की तात्कालिक कामना होती है, किन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष (जीवात्मा की मुक्ति) है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त इन दो लक्ष्यों के बीच वांछित सामन्जस्य (संगति) की व्याख्या करता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त भारतीय नीतिशास्त्रीय व्यवस्था का आधारभूत सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। ये ''सम्पूर्ण मनुष्य'' का परिज्ञान कराते हैं। इन चारों पुरुषार्थों (पुरुषार्थ चतुष्टय) में धर्म मनुष्य की सभी क्रियाओं का केन्द्र है। धर्म की व्युत्पत्ति धृ से हुयी है जिसका अर्थ होता है- धारण करना, पालन करना। वी.पी.काणे अपने ''धर्मशास्त्र के इतिहास'' में बड़े सुबोध ढंग से धर्म की व्याख्या करते हैं।

1. मनुष्य का मनुष्य के रूप में अधिकार एवं कर्त्तव्य
2. उसके कर्त्तव्य और आर्य समुदाय के सदस्य के रूप में सुविधायें
3. सामाजिक समूह या ''जाति'' के एक सदस्य के रूप में उसके अधिकार विशेष कर्त्तव्य और कार्य प्रक्रिया-वर्णधर्म
4. प्रत्येक व्यक्ति का, अपने जीवन का आश्रम बदलने में, यथा विद्यार्थी जीवन से गृहस्थ जीवन आदि में पदार्पण करने पर, उसके अधिकार एवं ऋण।

धर्म प्रकृति में केन्द्राभिमुखी शक्ति की भाँति है, जो सभी चीजों को केन्द्र में प्रतिष्ठित करता है। धर्म मनुष्य, समाज और ब्रह्माण्ड में केन्द्राभिमुखी शक्ति है। यह धर्म ही है जो हमें अपनी कामनाओं की उचित सन्तुष्टि के योग्य बनाती है। धर्म एक नियमन (नियन्त्रक) सिद्धान्त है जो अर्थ और काम के आनन्दोपभोग को नियन्त्रित करता है। क्या धर्म लक्ष्य प्राप्त करने का साधन है या यह स्वयं में एक लक्ष्य है? भारतीय धर्मशास्त्रों में दोनों प्रकार के विचार विद्यमान हैं। वह विचारधारा जो यह कहती है कि धर्म स्वयं में एक लक्ष्य है कान्ट के इस सिद्धान्त से मेल खाती है कि जो शुभ या श्रेयस है वह अपने आप में सद्भावना और सदाशयता लिये हुये होता है तथा स्वर्ग के तारों की तरह कीर्तिमान रहता है, भले ही वह स्वयं कुछ करने योग्य न हो। यदि धर्म स्वयं में लक्ष्य होगा, तब भारतीय संस्कृति में

मूल्यों का सिद्धान्त चतुर्विमीय न होकर त्रिविमीय होगा। "किन्तु यह विचारधारा कि धर्म लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक साधन स्वरूप है, कि धर्म एक "यन्त्रीय (कारक) मूल्य है, रुचिकर है," (एन.ए.निकम, 1973) यह भी सभी नैतिक कार्यों का एक कानून (विधान) भी है।

अर्थ सांसारिक समृद्धि यथा धन या शक्ति प्राप्ति के लिए सभी संसाधनों को निर्दिष्ट करता है। इसका अर्थ होता है, आर्थिक क्रियाकलापों का अधिकृत और ईमानदार व्यवसाय, इस प्रकार सभी आर्थिक क्रियाकलाप इन्हीं चीजों के प्रति अभिमुख होते हैं- (1) धन की प्राप्ति, (2) अपरिग्रह, और (3) अस्तेय (चोरी न करना)। यद्यपि अर्थ सुरक्षा और जीवन के लौकिक पक्ष को ही निर्दिष्ट करता है किन्तु उसी के साथ-साथ असंचय और त्याग की समानान्तर धारा भी संचरण करती है। धन का संचय किसी लक्ष्य का साधन है न कि स्वयं में एक लक्ष्य है। यह उस सीमा तक आवश्यक है जिस तक व्यक्ति धर्म से जुड़े हुए अन्य सामाजिक दायित्वों का निर्वाह कर सके। व्यक्ति को भौतिक चीजों के प्रति अनुपयुक्त आसक्ति से अपने को बचाना चाहिए।

काम मनुष्य में विद्यमान उन सभी इच्छाओं को निर्दिष्ट करता है, जिनमें कि इन्द्रियों की संतुष्टि, जिसमें यौन सन्तुष्टि भी शामिल है, के द्वारा आनन्द प्राप्त करने का उपक्रम होता है। काम में व्यक्ति की सभी अन्त:प्रेरणायें, नैसर्गिक वृत्तियाँ, इच्छायें शामिल रहती हैं। यद्यपि लोकप्रिय अभिधान के दृष्टिकोण से केवल दैहिक आवश्यकता पर ही अनुपयुक्त बल डाला जाता है इसमें निश्चित ही ऐन्द्रिय संयम रखने बजाय मनुष्य ऐन्द्रिय आनन्द में सदा डूबे रहने के लिए जी-जान से प्रयास करता है। इस प्रकार दैहिक (शारीरिक) आवश्यकता और मानसिक आवश्यकता के बीच का सही सन्तुलन प्रभावित (आक्रान्त) होता है। पुरुषार्थ के अनिवार्य तत्वों में से एक काम को भी शामिल करना इसके महत्व का प्रतीक है। इसलिए भारतीय जीवन में आजीवन-प्रेम की प्रशंसा की गयी है। जैसा कि राघवन कहते हैं - "वृहत् सन्दर्भों में काम वह स्रोत उपलब्ध कराता है, जिससे सभी क्रियाकलाप प्रतिक्षेपित होते (फूट निकलते) हैं। यह नवीनीकरण के लिए, कुछ रचने के लिए, ऊर्जा की आपूर्ति करता है। यह रस उत्पन्न करता है, जिनसे स्थापत्य, चित्रकला, संगीत और कविता का जन्म होता है। इस प्रकार मनुष्य की यौन

आवश्यकताओं की तृप्ति, जो कि कुल (परिवार, वंश) को बनाये रखने के लिए जरूरी है, के अलावा काम सौन्दर्यगत विकास के लिए मनुष्य की अनुभूतियों को प्रतिस्थापित करने की उसकी अभिलाषा भी पूरी करता है।

मोक्ष मुक्ति है जीवन और मृत्यु के अनन्त चक्र से। इसका यह भी आशय होता है-आत्मा का परम आनंदस्वरूप परमात्मा में विलय। मोक्ष की अवस्था आत्मानुभूति या अपने अस्तित्व (आत्म तत्व) का साक्षात्कार करवाती है। जैसा कि एन.ए. निकम (1973) ठीक ही संकेत देते हैं कि यद्यपि उपनिषदों में मोक्ष को परिभाषित करने के लिए बहुत-सी उपमायें दी गयी हैं, जैसे-नदियों के सागर में मिलने की उपमा, अस्तित्व (जीवात्मा) का आखिरकार (अन्तिमरूपेण) अपने स्रोत (परमात्मा) में लौट आने की उपमा आदि। मोक्ष अनुभूति की वह अवस्था है, जिसमें कि ज्ञाता (जीवात्मा) श्रेय (परम ज्ञान) से एक हो जाता है-ब्रह्मविद ब्रह्मेव भवति (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है) जिसका अर्थ है कि ज्ञाता इस बात से सुपरिचित हो जाता है कि अपनी वास्तविक प्रकृति में वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार साक्षात्कार की गयी अनुभूतियों का सुनिश्चितीकरण हो जाता है। अहम ब्रह्मास्मि, आत्म साक्षात्कार में मैं ब्रह्म हूँ। यह मस्तिष्क की एक अवस्था है, सांसारिक अस्तित्व प्रत्येक को पूर्णत: नकारना इसका मतलब नहीं होता है। यह अवस्था प्रत्येक को नहीं उपलब्ध हो सकती है। एक सच्चा संन्यासी ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि पुरुषार्थ मूल्यगत व्यवस्थायें (Value themes) हैं, ये जीवन के लक्ष्यों की श्रेणीबद्ध व्यवस्था हैं, जो सभी सामाजिक श्रेणियों के सभी व्यक्तियों के द्वारा अनुपालनीय हैं। धर्म, अर्थ और काम तीन मुख्य संचालक शक्तियां हैं या ऐसी आवश्यकतायें हैं, जिसके चारों तरफ मनुष्य की सम्पूर्ण जीवनचर्या संचरित होती हैं। व्यक्ति और सामाजिक जीवन का प्रबन्धन और संचालन इन्हीं तीनों के सन्दर्भ में परिकल्पित और सूत्रबद्ध किया गया है, इस सन्दर्भ के साथ कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। लूइ ड्यूमो (1960) ने समाज में मनुष्य की इस कार्यप्रणाली के त्रिक्‌वाद (Triology) की अच्छी व्याख्या की है। इस समीक्ष्य त्रिक्‌वाद में तीन मूल्य हैं-धर्म, अर्थ और काम। धर्म कर्त्तव्य के लिए प्रेरित करता है और मनुष्य को नैतिक सार्वभौमवाद की तरफ ले जाता है जबकि अर्थ वह

लाभ है जो हमें, राजनीतिक तक विस्तृत आर्थिक सिद्धान्तों में विवेकपूर्ण कार्य के लिए प्रेरित करता है। काम जीवन के आनन्द को निर्दिष्ट करता है। मनु कहते हैं कि जीवन का प्रबन्धन एवं संचालन इन तीनों त्रिवर्गों (आवश्यकताओं के वर्ग) के पारस्परिक सामन्जस्यपूर्ण संचालन के सन्दर्भ में परिकल्पित एवं सूत्रबद्ध किया जाना चाहिए।

आश्रम

आश्रमों की योजना में पुरुषार्थ के सिद्धान्त को ठोस अभिव्यक्ति मिली है। आदर्शपूर्ण ढंग से एक हिन्दू का जीवन चार सोपानों में विभाज्य होता है। सम्पूर्ण जीवनावधि के चार चरणीय विभाजन को आश्रम व्यवस्था कहा गया है। यह जीवन के चरणों (सोपानों) एवं उसके मूल्यगत दायित्वों की तरफ संकेत करता है। ये चार चरण निम्नलिखित हैं –

1. ब्रह्मचर्य आश्रम
2. गृहस्थ आश्रम
3. वानप्रस्थ आश्रम
4. संन्यास आश्रम

प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य आश्रम है, जिसमें एक विद्यार्थी या सीखने वाले (अभ्यासी) का जीवन होता है। यह आश्रम विद्यार्जन का चरण (सोपान) संस्थापति करता है। इस आश्रम में ब्रह्मचारी बालक को गुरु के द्वारा शिक्षा दी जाती है जिससे कि वह इतना योग्य बन जाये कि बाद के आश्रमों में अपने दायित्व का निर्वाह कर सके। ब्रह्मचारी व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पवित्रता, दया, संयम, आत्मानुशासन एवं अर्थ तथा काम में अलिप्तता का जीवन बिताये। उसका मूल उद्देश्य धर्म की आपूर्ति के साथ-साथ होना चाहिए।

ब्रह्मचर्य आश्रम-आरम्भिक उत्सव (Initiation Ceremony) उपनयन संस्कार (पवित्र धागा उत्सव) से आरम्भ होता है। इस योजना में विवाह तक पूर्ण ब्रह्मचर्य (ऐन्द्रिय संयम) निर्धारित किया जाता है।

जब गुरु यह सत्यापित कर देता है कि बालक अब पूर्णरूपेण विकास को प्राप्त होकर "मनुष्य" बन चुका है और दूसरे आश्रम (सोपान) में प्रविष्ट हो सकता है तब ब्रह्मचारी अपने माता-पिता के घर लौट आता है। इस आश्रम को अत्यन्त जटिल एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि

धर्म, अर्थ और काम के आधारभूत त्रिकवाद् का क्रियान्वयन इसी आश्रम में होना होता है। मनु का अभिमत है कि वह आश्रम आनन्द एवं आशीष दोनों से परिपूर्ण होता है। शेष सभी तीनों आश्रम इसी से सम्पूर्णता प्राप्त करते हैं। एक गृहस्थ के कर्त्तव्यों में निम्नलिखित चीजें मानी जाती हैं- जनन (सन्तानोत्पत्ति), धन की प्राप्ति, परिवार का भरण-पोषण, परिवार को शिक्षित करना, समाज के अन्य सदस्यों की सहायता करना, निःस्वार्थ भाव से कार्य करना, त्याग-बलिदान करना, अपने मित्रों के प्रति दया व सहानुभूति और धर्म के द्वारा खींची गयी रेखा (सीमा) के अन्दर अभिलाषाओं की तृप्ति करना। इन चीजों के अतिरिक्त गृहस्थ से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह अपने सभी ऋणों को वापस करे। यह विश्वास किया जाता है कि प्रत्येक हिन्दू जन्म से ही कुछ ऋण लेकर पैदा होता है, जैसे देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण आदि। उसे इन सभी ऋणों को भिन्न-भिन्न संसाधनों (माध्यमों) द्वारा चुकाना होता है जैसे वेदाध्ययन, कुछ निर्धारित अनुष्ठान एवं यज्ञ आदि के द्वारा।

तीसरा चरण है--अंतिमरूपेण निवृत्ति के लिए तैयारी, यह वानप्रस्थ आश्रम है। इस आश्रम में गृहस्थ अपने सभी कर्त्तव्य से छुटकारा पा चुका होता है और वह अपना समय धार्मिक कार्यों में लगाता है। उसके परिवार से उसका सम्बन्ध क्षीण पड़ जाता है। वानप्रस्थी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने घर के निकटस्थ जंगल में, ईश्वर-साधना में अपना जीवन गुजारे और जीवन-निर्वाह के लिए उसकी आवश्यकतायें न्यूनतम हों। पत्नी भी पति के साथ जा सकती है किन्तु दोनों के बीच यौन सम्बन्ध पूर्णतया निषिद्ध है। यहाँ महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वानप्रस्थी संसार से पूरी तरह तटस्थ (निरपेक्ष) नहीं हुआ रहता है।

अन्त में व्यक्ति के लिए संन्यास आश्रम व्यादेशित होता है, जिसमें कि सामाजिक जीवन से पूर्णतया अनासक्ति हो जाती है। इस प्रकार संन्यास आश्रम में व्यक्ति समाज का सदस्य नहीं रह जाता है। वह अपने को विशुद्धतया व्यक्तिगत लक्ष्य के लिए केन्द्रित कर लेता है। संन्यासी के रूप में परिवर्तित व्यक्ति को सत्य की उपासना करनी होती है। लोगों को उपदेश (ज्ञान) देना होता है और दुःख तथा कष्ट सहने का अभ्यस्त हो जाना पड़ता है। कौटिल्य ने उन लोगों को दण्ड देने की सलाह दी जो अपने परिवार एवं

समाज के लिए अपने दायित्वों का निर्वहन किये बिना संन्यास धारण करने का प्रयास करते हैं। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि गीता यह नहीं कहती है कि मोक्ष के लिए संन्यास आवश्यक है। गीता कहती है कि चूंकि कर्मयोगी भी एक प्रकार का संन्यासी है इसलिए उसे औपचारिक रूप से संन्यास ग्रहण करने की जरूरत नहीं है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि पुरुषार्थ और आश्रम जीवन के नियामक या नियंत्रक हैं। समाजशास्त्रीय-मानवशास्त्रीय शब्दावली में वर्ण, गुण, पुरुषार्थ और आश्रम के चार श्रेणीबद्ध संगठनों को भूमिका संस्थाकरण (Role Institutionalization), कृपोपहार निधि (Charismatic endowment), लक्ष्य दिक्सूचक (Goal Orientation), तथा जीवन के चरण व मूल्यगत दायित्वों (Life stage and their value obligations) के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था के ये सभी तत्व यह बताते हैं कि हिन्दू सामाजिक संगठन की संस्थापना भौतिक भी है और आध्यात्मिक भी।

इसे इस भांति संगठित किया गया है कि मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह भौतिक (सांसारिक) जीवन से आध्यात्मिक जीवन की तरफ अग्रसर हो। दूसरा यह महत्वपूर्ण तथ्य ध्यातव्य है कि वर्ण-आश्रम व्यवस्था हिन्दू सामाजिक जीवन के केवल पाठ्य विषयक (शाब्दिक) अवधारणा को ही प्रस्तुत करती है जो कि कभी भी यथार्थ में पूर्णरूपेण व्यवहार्य नहीं रहा। इन मूल्यों में से अधिकांश सैद्धान्तिक सम्प्रेरक अवधारणायें थीं। निर्धारित मूल्यों एवं दायित्वों में समरूपता की आशा से नियमों में बहुत लचीलापन भी था। दायित्व देश, काल, श्रम और गुण के सापेक्ष थे। इस प्रकार हिन्दुत्व औपचारिक अर्थों में धर्म या धार्मिक व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक जीवनचर्या ढंग है।

ऋण

ऋण की अवधारणा भी हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का बहुत महत्वपूर्ण घटक है। एक स्वस्थ समाजिक व्यवस्था के लिए प्रत्येक व्यक्ति का इस प्रकार समाजीकृत होना आवश्यक है कि वह केवल अपने हित के लिए ही कर्त्तव्यों का निर्वाह न कर, बल्कि अपने परिवार, सगे-सम्बन्धियों और विशद रूप में पूरे समाज के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह अपने नैतिक दायित्व

के अन्तर्गत समझे। ये सभी प्रकार के नैतिक दायित्व एक प्रकार के ऋण हैं। प्रत्येक हिन्दू कुछ निश्चित ऋणों के साथ पैदा होता है जिन्हें उसे अपने मोक्ष के लिए अपने जीवन-काल में ही चुकाना होता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत धारणा यह है कि समाज के सदस्य अपने उत्तरदायित्वों और नैतिक बाध्यताओं की विशाल पंक्ति को समझें। निम्नलिखित विभिन्न प्रकार के ऋण होते हैं जिन्हें व्यक्ति को अपने जीवन-काल में चुकाना होता है।

1. **देव ऋण**- यह वह ऋण होता है जो व्यक्ति पर देवताओं और देवियों का होता है। इस ऋण को वेदों का अध्ययन, दान करके, यज्ञ के द्वारा एवं अन्य विभिन्न तरीकों से श्रद्धा-भक्ति के द्वारा चुकाया जा सकता है।
2. **ऋषि ऋण**- प्रत्येक व्यक्ति पर ऋषियों और गुरुओं का ऋण सदा रहता है जिनसे कि वह ज्ञान प्राप्त करता है और इस प्रकार अपने मस्तिष्क एवं चित्त के अन्धकार को दूर करता है। व्यक्ति गुरु दक्षिणा देकर और अध्ययन तथा विभिन्न शास्त्रों में भरे ज्ञान को समाज में वितरित करके इस ऋण को अदा कर सकता है।
3. **पितृ ऋण**- व्यक्ति अपने माता-पिता से अपने अस्तित्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह ऋण सन्तानोत्पत्ति के द्वारा चुकाया जा सकता है तथा बच्चों को एक अच्छा मनुष्य एवं समाज के लिए एक उपयोगी सदस्य के रूप में निर्मित करके एवं पूर्वजों के लिए पिण्डदान करके इस ऋण से छुटकारा पाया जा सकता है।
4. **अतिथि ऋण**- मनुष्य निर्जन प्रान्त में नहीं रहता है। वह समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच लगातार अन्त:क्रियायें करता है। लोग एक दूसरे के यहाँ जाते हैं और सामाजिक सम्बन्धों को मज़बूत करते हैं। इसलिए शायद अतिथि की समानता देवताओं से की गयी है जिसकी सेवा (आदर-सत्कार) हिन्दू समाजिक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण तत्व है। इस प्रकार अतिथि की यथासम्भव अच्छी सेवा करके एवं उसके प्रति आदर-सम्मान दिखाकर अतिथि ऋण से मुक्त हुआ जा सकता है।

कर्म

कर्म की अवधारणा हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रमाण चिह्नों में से एक है। यह व्यक्ति के कार्यों की कुशलता में विश्वास निर्दिष्ट करता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणायें कर्म और संसार के मत (सिद्धान्त) से सम्बद्ध है। संसार शब्द उस क्षेत्र या स्थान के लिए प्रयोग किया जाता है जहां जन्म व पुनर्जन्म का चक्र कर्म करने के लिए चलता रहता है जब तक कि व्यक्ति मोक्ष नहीं प्राप्त कर लेता है।

कर्म एक कार्य है और कार्य का परिणाम है। यह उन सामाजिक मूल्यों में से एक है जो व्यक्ति के कार्य के लिए उस पर दायित्व डालता है। कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति के अपने कार्यो के लिए उसके नैतिक दायित्व निरूपित करता है। उसके कार्य उसे कुछ सुनिश्चित परिणामों तक ले जाते हैं इसलिए उसे कर्म करते समय सचेत रहना चाहिए। इस सिद्धान्त की परिकल्पना यह है कि व्यक्ति की वर्तमान स्थिति उसके अतीत (पूर्व) के जीवन का परिणाम है। इस प्रकार यह सिद्धान्त पुनर्जन्म के सिद्धान्त से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध है।

उपनिषदों में जब ''कर्म का सिद्धान्त'' प्रतिपादित किया गया तब से आज तक कर्म के सिद्धान्त की व्याख्याओं का लम्बा इतिहास है। इधर हाल के वर्षों में समकालीन चिन्तकों ने भी इस सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न ढंग से पुनर्परीक्षित एवं पुनर्व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है। एन.ए. निकम, अपनी सुबोधगम्य व्याख्या में ''कारणात्मक'' (प्रेरणार्थक) प्रभावोत्पादकता की चर्चा करते हैं। अर्थ-क्रिया-कारयित्वे अर्थात् अच्छे कार्य तात्कालिक ढंग से अच्छे प्रभाव पैदा करते हैं जबकि बुरे कार्य तत्काल बुरे प्रभाव पैदा करते हैं। प्राकृतिक विज्ञान कहता है कि मनुष्य प्राकृतिक विकास का उत्पाद है, जबकि कर्म-सिद्धान्त मनुष्य को अपने स्वयं के विकास की महत्तर साहसिक खोज के चेतना-आवेश को धारण करने के लिए कहता है। उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना का विकास भौतिक-जीव वैज्ञानिक विकास की संरचना और कार्य प्रणाली की मान्यता जिसने कि पुरानी स्थापनाओं का स्थान ग्रहण कर लिया है, से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अतीत (भूत) जो कुछ भी रहा हो, किन्तु भविष्य नवीन है और यदि हम वर्तमान पर ध्यान केन्द्रित करें तो भविष्य को अपनी चिन्ता खुद करने के लिए छोड़ा जा सकता है। दूसरी व्याख्या में यह मिलता है कि व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा एक अस्तित्व से दूसरे अस्तित्व की तरफ ले जाया जाता है। व्यक्तिगत जीवन एक शृंखला में से केवल एक विशिष्ट अवधि का होता है। इस शृंखला को

देहान्तरण चक्र (Transformation Cycle) कहा जा सकता है। इस सदी के प्रख्यात दार्शनिक एस. राधाकृष्णन का कहना है कि जीवन और व्यवहार में कोई भी सिद्धान्त इतना मूल्यवान नहीं है जितना कि कर्म-सिद्धान्त। कर्म सिद्धान्त भविष्य के लिए आशा प्रदान करता है और भूत से वश्यता कर देता है।

भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं कि कर्म सर्वव्यापी और शाश्वत है और यह किसी के लिए भी सम्भव नहीं है कि वह प्रतिक्षण कुछ कर्म न करे। कर्म के सम्बन्ध में पांच कारक प्रमुख होते हैं: 1. अधिष्ठान-- आधार या केन्द्र जहां से कर्म करना होता है; 2. कर्त्ता या कार्य करने वाला; 3. कर्म या कर्त्ता का साधन विनियोग; 4. चेष्टा या कोशिश एवं 5. दैव या भाग्य। अन्तिम कारक अर्थात् भाग्य मानव शक्ति की अपेक्षाकृत दूसरी ही शक्तियों की शक्ति है। राधाकृष्णन महान् महाकाव्य भगवद्गीता के अपने अनुवाद में कर्म करने के ढंग का अत्यधिक महत्व देते हुए कहते हैं- ''तुम केवल कर्म करने के अधिकारी हो, कभी भी उसके परिणाम के संबंध में चिंतन करने के अधिकारी नहीं हो। कर्म-फल को अपना उद्देश्य न बनने दो और न ही अकर्म में किसी प्रकार की आसक्ति हो। भाग्यवाद (दैववाद) में कभी-कभी कर्म सिद्धांत को भाग्य और आस्था के रूप में गलत ढंग से निरूपित किया जाता है। जो इस प्रकार की भाग्यवादी व्याख्या स्वीकार करते हैं वे कर्म सिद्धांत पर टिप्पणी करते हैं कि यह सिद्धान्त व्यक्ति की नैतिक प्रगति को रोकता है। इस प्रकार इसमें असामाजिक तात्पर्य (विवशा) निहित है। वे यह टिप्पणी करते हैं कि यह सिद्धान्त किसी व्यक्ति की वर्तमान दुर्दशा के सन्दर्भ में सामाजिक शक्तियों के प्रभाव पर ध्यान नहीं देता है। परिणामत: यह दृष्टिकोण दूसरे लोगों के कष्टों के प्रति निरपेक्ष रहने के लिए प्रेरित करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का कष्ट चाहे स्वयं का हो या दूसरे का, उसके पूर्व जीवन के कर्मों का परिणाम माना जाता है। किन्तु दूसरे बहुत से आधुनिक व्याख्याकार (समीक्षक) इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कर्म-सिद्धान्त भाग्यवाद की पूर्व संकल्पना (शर्त) है बल्कि भाग्यवाद के विपरीत कर्म-सिद्धान्त पुरुषार्थ की उपासना करता है और व्यक्ति में नैतिक संज्ञान (संवेदना) जागृत करता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को वर्तमान जीवन में उसी प्रकार अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित करता है जिस प्रकार भविष्य

के जीवन में।

पुनर्जन्म

कर्म की अवधारणा पूर्णतया पुनर्जन्म में विश्वास के आधार पर ही विकसित और संचरित है तथा पुनर्जन्म स्वर्ग, नर्क और मोक्ष के विश्वास से सम्बद्ध है। पुनर्जन्म या आत्मा के देहान्तरण की अवधारणा इस विश्वास पर आधारित है कि आत्मा व अमर अविनाशी है। यह ब्रह्म का अंश है और नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी वह यथावत बनी रहती है। मोक्ष घटित होने पर वह पुनः परमात्मा के साथ एक हो जाती है। पृथ्वी पर पुनर्जन्म में विश्वास की धारणा का उल्लेख सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में पाया गया, जबकि पुनरावतरण व पुनर्मृत्यु को एक अभिशप्त बुराई के रूप में माना गया। इसने उन व्यक्तियों पर एक दुःस्वप्न थोप दिया, जो यज्ञ नहीं कर पाये। ''पुनरावतरण में विश्वास का कर्म-सिद्धान्त से सम्बन्ध उत्तरवैदिक विकास है। सांख्य परम्परा में शिष्य के लिए योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष, जीवन चक्र से अन्तिमरूपेण मुक्ति की प्राप्ति माना गया है'' (आर.एन. सक्सेना)। इस अन्तिम लक्ष्य के दो सोपानों का स्पष्टरूपेण उल्लेख हुआ है जिनके अनुसार-शिष्य इस संसार में बने रहने की इच्छा रखता है या नहीं। प्रथम सोपान पर वह सविकल्प समाधि प्राप्त करके सन्तुष्ट रहता है। जबकि दूसरे सोपान पर वह जीवन चक्र से निर्विकल्प समाधि, अन्तिमरूपेण आत्मा की मुक्ति के द्वारा सदा के लिए छुटकारा पा जाता है।

इसलिए यह साक्ष्य है कि मोक्ष का यह अर्थ नहीं होता है कि पुरुष संसार के अस्तित्व का पूर्णतया निषेध कर रहा है। मस्तिष्क की इस अवस्था में पहुंचने के पहले साधक जिस सोपान पर आरूढ़ रहता है वह निश्चित ही वास्तविक महत्व का है क्योंकि इस स्थिति में वह संसार के कल्याण की भी बात सोचता है और उसका क्रियान्वयन भी करता है। मोक्ष प्राप्ति प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं है। केवल सच्चा संन्यासी (साधक) ही मोक्ष पद पर दावा कर सकता है। लोकप्रिय शब्दावली में पुनर्जन्म कर्म के अनुसार ही होता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त यह आश्वासन देता है कि जो धर्म के साथ समरूप जीवन बिताते हैं, जिनके कार्य धर्म द्वारा शासित होते हैं, उन्हें बेहतर और समृद्ध जीवन की आशा करनी चाहिए। इस प्रकार यह सिद्धान्त व्यक्ति पर एक अंकुश रखता है और उसके आचरण को इस दिशा में टालने

(निर्दिष्ट करने) की कोशिश करता है जिससे उसके स्वयं का, सगे-सम्बन्धियों का और वृहत् समाज का कल्याण होता है।

संयुक्त परिवार

रक्त संबंधों पर आधारित परिवार, जो तीन या इससे अधिक पीढ़ियों तक फैला होता है, विस्तृत परिवार कहलाता है और यह संयुक्त परिवार से संरचनात्मक दृष्टि से थोड़ा भिन्न रूप ग्रहण कर लेता है जब कुछ निश्चित सांस्कृतिक प्रतिमानों के कारण यह एक नैगमिक समूह (Corporate group) में परिणत हो जाता है। संयुक्त परिवार ऊर्ध्वाधर और क्षैतिजीय दोनों प्रकार के विस्तार प्रदर्शित करता है और केवल ऊर्ध्वमुखी रूप से विस्तृत परिवार की अपेक्षा आकार में बड़ा होता है। संयुक्त परिवार की प्रमुख लाक्षणिक विशेषता संपत्ति की अविभाज्यता और इसमें सबकी सामान्य सहभागिता है। संपत्ति परिवार से संबद्ध होती है। परिवार के सदस्यों पर इसकी देखभाल करने तथा इससे होनेवाले लाभों में साझेदारी करने अर्थात् लाभांश का आपस में समुचित वितरण करने का दायित्व होता है। चूंकि इस दायित्व के निर्वहन के लिए उचित प्रबंधन आवश्यक होता है और इस दृष्टि से किसी व्यक्ति को उत्तरदायी होना पड़ता है। परंपरागत रूप से सबसे बुजुर्ग व्यक्ति को यह जिम्मेदारी लेनी पड़ती है और संपत्ति की देखभाल करने के साथ-साथ यह देखना पड़ता है कि इसके लाभों से कोई वंचित न रहे। संयुक्त परिवार के प्रबंधक या 'कर्त्ता' के रूप में वह सत्ता का केंद्रबिंदु भी होता है और परिवार के अन्य सदस्यों का सम्मान एवं विश्वास प्राप्त करता है। यह भारतीय हिन्दू परिवारों की प्रमुख लाक्षणिक प्रणाली है जिसने एक ऐसा जीवन दर्शन विकसित किया है जिसके अंतर्गत पारिवारिक हितों के लिए व्यक्तिगत हितों का त्याग व दमन करने की सीख दी जाती है। संयुक्त परिवार में कभी-कभी दूर के सगे-संबंधियों को भी शामिल किया जा सकता है। सभी सदस्यों की कार्यक्षमता और कार्यकुशलता एक जैसी नहीं हो सकती है। अतः यदाकदा अधिक सक्रिय एवं लाभदायी सेवाएं प्रदान करनेवाले सदस्यों के बीच कलह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रबंधक की भूमिका इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाती है। क्षमता और कौशल के अनुसार कार्य के वितरण तथा आवश्यकताओं के अनुसार लाभों के वितरण के नियम ने संयुक्त परिवार को शारीरिक रूप से विकलांग या असमर्थ,

मानसिक रूप से असामान्य या लंबी बीमारियों से ग्रस्त सदस्यों के लिए सामाजिक बीमा (इंश्योरेंस) का एक स्रोत बना दिया है। इस प्रकार किसी व्यक्ति की विकलांगता या धनोपार्जन करने में असमर्थता के कारण उसकी पत्नी और बच्चों को कष्ट और तंगी की स्थिति का सामना नहीं करना पड़ता है। संयुक्त परिवार में सबकी रसोई एक ही साथ होती है और परिवार के सभी सदस्यों के लिए एक सामान्य वैधानिक संहिता होती है। यह परिवार प्रणाली भारतीय अर्थव्यवस्था की कृषक पृष्ठभूमि के पूर्णतः अनुरूप रही है और इसमें पुरुष सदस्यों को अनेक विशेषाधिकार तथा सुविधाएं प्राप्त हैं जबकि महिलाओं को अपेक्षाकृत कम सम्मान व स्वतंत्रता मिली है।

भारत में ब्रिटिश शासन के आविर्भाव के साथ कुछ निश्चित परिवर्तन हुए हैं जिन्होंने इस संस्था पर दूरगामी प्रभाव डाला है। इनमें सबसे पहला और महत्वपूर्ण परिवर्तन पश्चिमी शिक्षा के संदर्भ में दृष्टिगोचर हुआ है जिसने एक ऐसी मूल्य व्यवस्था को जन्म दिया है जिसके अंतर्गत व्यक्तिवाद सभी व्यवहारों या आचरणों का आधारभूत प्रयोजन या निर्धारक-नियामक तत्व रहा है और इसने शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं को कई अवसर प्रदान करने के साथ-साथ संपत्ति आदि की दृष्टि से उनके अधिकारों की संभावना को मूर्त किया है। इससे इस संस्था के प्रचलित जीवन दर्शन को गहरा आघात पहुंचा जिसने इसे लंबे समय तक जीवित रखा है। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे उद्योग-धंधों की स्थापना करनी भी आरंभ कर दी जो उनके आर्थिक हित के अनुरूप थे। इन औद्योगिक केंद्रों के इर्दगिर्द अनेक नगरीय केंद्रों का निर्माण हुआ। फलतः ग्रामीण संयुक्त परिवारों से बड़ी संख्या में लोगों का पलायन हुआ जो इन अवसरों से लाभान्वित होना चाहते थे। इस प्रकार औद्योगीकरण और नगरीकरण ने संयुक्त परिवार के ढांचे को अंदर से तोड़ दिया जिस कारण यह परिवार प्रणाली यदि पूरी तरह टूटी और छिन्नभिन्न नहीं भी हुई है तो कम-से-कम टूटने के कगार पर अवश्य पहुंच गई है।

कास्ट

जाति पद के लिए अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त शब्द 'कास्ट' पुर्तगाली भाषा के शब्द 'कास्टा' का व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है-नस्ल, वंशावली या शुद्ध 'स्टॉक'। यह शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'कास्टस' से आया है जिसका आशय है-स्वच्छ, पवित्र या धार्मिक। इस पद का सृजन भारत और इसके

आसपास व्याप्त हिंदू धर्माधारित पारंपरिक सामाजिक संगठन प्रणाली को इंगित करने के लिए किया गया है। इस प्रकार 'जाति' (Caste) पद भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण की मूलभूत संकल्पना या अवधारणा या विचारधारा को इंगित करता है। ऐसा माना जाता है कि इसकी उत्पत्ति ईसा से पूर्व दूसरे या प्रथम सहस्राब्दी में हुई और लगभग 500 ई. तक इसका प्रयोग व्यापक रूप से आरंभ हो चुका था।

सार रूप में देखें तो जाति 'सामाजिक स्तरीकरण' का एक रूप है जिसके अंतर्गत क्रमबद्ध ढंग से व्यवस्थित या श्रेणीबद्ध, बंद, अंतर्विवाह पर आधारित संस्तरों की एक प्रणाली आती है जिनकी सदस्यता पूर्वनिर्धारित होती है और जिनके मध्य संपर्क सीमित होते हैं तथा गतिशीलता सैद्धांतिक दृष्टि से असंभव होती है। यद्यपि विभिन्न जातियों से संबद्ध लोग जिन व्यवसायों अथवा पेशों को अपनाते हैं या जिन्हें अपनाने की छूट उन्हें होती है, वे उनके बीच परस्पर आर्थिक असमानताओं को दर्शाते हैं, जातीय स्तरीकरण वस्तुत: गैर-आर्थिक मानदंडों द्वारा निर्धारित होता है। हिंदू बहुल भारत में अपने सबसे शुद्ध रूप में जाति की अवधारणा मूलत: धार्मिक है: विभिन्न जातियों के सदस्यों और उनकी गतिविधियों के संदर्भ में जिस सीमा तक 'सांस्कारिक या आनुष्ठानिक शुद्धता' (ritualpurity) पूर्वनिर्धारित होती है, उसके अनुसार ही उन जातियों को श्रेणीबद्ध किया जाता है। कास्ट की अवधारणा को दो मॉडलों द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। ये मॉडल हैं-'वर्ण' मॉडल और 'जाति' मॉडल।

कास्ट का वर्ण मॉडल

कास्ट (वर्ण) की उत्पत्ति का निश्चित समय या स्रोत ज्ञात नहीं है। जाति व्यवस्था से संबंधित कई सिद्धान्त प्रचलित हैं, 'दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त' जाति व्यवस्था को दैवी उत्पत्ति की व्याख्या करता है। इसमें एक निश्चित सीमा तक धार्मिकता का समावेश है और इसलिए यह माना जाता है कि यह मनुष्यों द्वारा नहीं बल्कि दैवी शक्ति द्वारा निर्धारित-निर्मित व्यवस्था है। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' श्लोक में यह कहा गया है कि चार वर्णों की उत्पत्ति पुरुष (ब्रह्मा) के आत्मोत्सर्ग के परिणामस्वरूप हुई है जिसका प्रयोजन यह था कि एक-उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था अस्तित्व में आ सके। तदनंतर ब्राह्मण महापुरुष के मुख से, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से,

पैदा करती है अन्यथा उनका एकरस अस्तित्व नीरस और उबाऊ लगता। आगे बढ़ने से पहले बेहतर होगा कि परम्परा व लघु समुदाय (little community) के व्यापक अर्थ समझ लिए जायें।

परम्परा (Tradition): परम्परा की उत्पत्ति एक शब्द 'tradere' से हुई है जिसका अर्थ है संचारित (transmit) करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि परम्परा किसी समुदाय का संचारित मूल्य व व्यवहार है जो पहले से ही मान्य रूप से चलता चला आ रहा है। परम्पराओं का उद्धरण होता है, उनका संदर्भ दिया जाता है, उनका सम्मान होता है और समाजीकरण की प्रक्रिया में समुदाय के सभी सदस्यों को उनका महत्व व सम्मान करना सिखाया जाता है। परम्परायें स्थिर या स्थैतिक नहीं होतीं, यह तालाब के ठहरे हुए पानी के समान नहीं होती। पुरानी परम्परायें लुप्त या समाप्त होती हैं और नई परम्परायें निरन्तर जुड़ती रहती हैं। परम्पराओं में परिवर्तन के लिए बाहरी व अंदरूनी, दोनों प्रकार के कारक उत्तरदायी हो सकते हैं। परम्परा के सही अर्थ व उसकी आत्मा को समझने में हमें उसके शाब्दिक अर्थ संचारण (transmission) से कुछ और आगे जाकर देखना होगा। परम्परा की आत्मा उसके मूल्यों (values) में है। यदि मूल्य का तत्व परम्परा से निकाल दिया जाये तो परम्परा (tradition) और प्रथा (custom) में अन्तर कर पाना कठिन हो जायेगा। बहुत सी प्रथायें मूल्यांकित (valued) न होते हुए भी कभी-कभी जड़त्व (inertia) जैसी नकारात्मक शक्तियों द्वारा कुछ समय तक जारी रह सकती है। इस महत्वपूर्ण बात को कुछ और समझने के लिए 'Encyclopaedia of Social Sciences' में मैक्स राडिन की निम्नलिखित टिप्पणी काफी उपयोगी होगी।

संस्कृति — बौद्धिक विचार
(Mentally held ideas)

समाज — तीन रूपों में प्रेक्षणीय व्यवहार
(Observable behaviour in three forms)

मौखिक व्यवहार

सामाजिक व्यवहार — भौतिक व्यवहार

ही उसे ब्राह्मण या वैश्य या शूद्र की श्रेणी प्राप्त करने में समर्थ बनाता है। इसका आशय यह भी है कि वर्ण व्यवस्था बंद व्यवस्था नहीं थी और अंतर्वर्ण गतिशीलता संभव थी। वैदिक काल में शूद्र अस्पृश्य नहीं थे बल्कि वे केवल विभिन्न कारीगर जातियों के समूह थे।

मनु की कृति उनके काल की सामाजिक स्थिति और वांछित तथा आदर्श सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालती है। यह जीवन के इहलौकिक (secular) और धार्मिक (sacredotal) दोनों पक्षों से संबद्ध है। उन्होंने बहुत स्पष्टता से वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, राज्य धर्म, गृह्य धर्म आदि जैसे विभिन्न कर्तव्यों (धर्मों) को परिभाषित किया है। ब्राह्मणों ने अनेक धर्मशास्त्रों की रचना की जिनका उल्लेख महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय ग्रंथों के रूप में किया जा सकता है। उदाहरण के लिए विवाहों को वर्ण व्यवस्था के अनुसार अनुलोम (जातियों के नैसर्गिक क्रम में) और प्रतिलोम (जातियों के नैसर्गिक क्रम के विरुद्ध) में वर्गीकृत किया जा सकता है। अनुलोम विवाह के अंतर्गत कोई ब्राह्मण पुरुष न केवल एक ब्राह्मण स्त्री से बल्कि एक क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र स्त्री के साथ परिणय सूत्र में बंध सकता है; एक क्षत्रिय पुरुष किसी क्षत्रिय स्त्री के अतिरिक्त वैश्य या शूद्र स्त्री से तथा वैश्य पुरुष वैश्य महिला के अलावा शूद्र महिला से विवाह कर सकता है। यद्यपि अनुलोम विवाह पद्धति द्वारा विजातीय महिला से विवाह की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित नहीं थी पर इसे सामाजिक मान्यता प्राप्त थी और इस प्रकार उत्पन्न संततियों को वैध माना जाता था। किंतु प्रतिलोम विवाह को, जिसके अंतर्गत निम्नतर जाति के किसी पुरुष से उच्च जाति की किसी महिला का विवाह होता था, निषिद्ध और निंदनीय माना जाता था। किंतु अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रचलन में थे। इस कारण कभी-कभी नई या संकर जातियों का उदय हो जाता था जिससे सामाजिक वर्गक्रम व्यवस्था में उथल-पुथल की स्थिति दिखाई देने लगती थी। विवाह के इन दोनों प्रकारों के कारण जातीय गतिशीलता की स्थिति भी उत्पन्न हुई।

कास्ट का जाति मॉडल

एक सुस्पष्ट और निर्लेप आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए एम. एन. श्रीनिवास कहते हैं कि वर्ण मॉडल ने कास्ट की असंगत और विकृत छवि प्रस्तुत की है। वर्ण मॉडल भारतीय सामाजिक स्तरीकरण का एक आदर्श

वैश्य उसकी जंघाओं से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। वर्ण के प्रजातीय सिद्धान्त के स्पष्ट प्रजातीय निहितार्थ हैं। चूंकि 'वर्ण' पद का अर्थ त्वचा का रंग होता है जो प्रजातीय वर्गीकरण का एक महत्वपूर्ण मानदंड है। यह वर्गीकरण योजना लोगों की सामाजिक पृष्ठभूमियों के अनुसार उनके पारस्परिक अलगाव या पृथक्करण को इंगित करती है। एच.एच. रिस्ले जैसे कई विद्वान इस सिद्धांत से सहमत हैं। पर जीवाश्म आदि से संबंधित वैज्ञानिक आंकड़ों या साक्ष्यों की अनुपस्थिति में प्रजातीय सिद्धान्त दोषपूर्ण प्रतीत होता है तथा इसके अनेक क्षेत्रों के बारे में कोई स्पष्ट जानकारी सामने नहीं आ पाई है किन्तु एक अन्य दृष्टिकोण, जिसे वर्ण की उत्पत्ति का गुण सिद्धान्त कहा जाता है, मानवशास्त्रीय दृष्टि से अधिक प्रासंगिक है। यह इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में तीन आधारभूत गुण पाए जाते हैं, ये गुण हैं-सत्व गुण, रजगुण और तमगुण। सत्वगुण शुद्धता, सांसारिक वस्तुओं के प्रति निर्मोह की अवस्था और ज्ञानप्राप्ति के लक्ष्य के प्रति गहरी निष्ठा को परिलक्षित करता है; रजगुण समाज के अधिक व्यापक हितों के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना, कर्तव्यपरायण, न्यायशीलता और अचलअजेय सत्यनिष्ठा का परिचायक है; तमगुण सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह व आसक्ति और जैविक आवश्यकताओं की निरंतर पूर्ति करने की पाशविक प्रवृत्ति का द्योतक है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये गुण प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान हैं पर इनमें से एक सबसे प्रधान गुण होता है और इसलिए किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण संकेतक है। अत: सत्व गुण की व्यक्तित्व में प्रधानता उसे ब्राह्मण, रजगुण की प्रधानता क्षत्रिय तथा तम गुण की प्रधानता वैश्य बनने की पात्रता देती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन लोगों में केवल तम गुण या तामसिक गुण होता है, वे शूद्र होते हैं। तदनुसार प्राचीन काल में एक ब्राह्मण का कार्य ज्ञान प्राप्त करना और उपदेश देना, क्षत्रिय का कार्य प्रशासन कार्य तथा भूमि की रक्षा, वैश्य का कार्य कृषि, व्यापार और वाणिज्य तथा शूद्र का कार्य उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। वर्गक्रम व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और इसके बाद क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के स्थान थे। ज्ञातव्य है कि इन समूहों की प्रस्थितियां जन्मगत या स्वयंभू नहीं होती। जैसाकि विष्णु पुराण में कहा गया है, प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है और केवल उसका कर्म

से होता है और इसलिए किसी जाति को अपनी प्रस्थिति को अक्षुण्ण रखने के लिए निम्नतर जातियों के साथ न्यूनतम संभव संपर्क रखना चाहिए, इस प्रकार अलगाव के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं, जैसे-निम्न या निकृष्ट जातियों के साथ वैवाहिक संबंधों की संभावना को समाप्त करने के लिए अंतर्विवाह का नियम, सहभोजिता संबंधी व्यवहारों के संदर्भ में कठोर प्रतिबंध, जातीय विधानों या नियमों की अवेहलना करने वाले लोगों को जातिच्युत करना आदि उनके क्रियाकलापों से शेष समुदाय के प्रदूषित होने का खतरा उत्पन्न होता है, और अस्पृश्यता की प्रघटना जो 'पवित्र' और 'प्रदूषित' जातीय समूहों के बीच भौतिक संपर्क को समाप्त कर देती है। यदि इन तीन मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण करें तो जाति व्यवस्था के निम्नलिखित संलक्षण सामने आते हैं:

(1) **आंतरिक प्रकृति या अंतःप्रकृति** : जाति की सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। कोई व्यक्ति उसी जाति के सदस्य के रूप में मरता है जिसके सदस्य के रूप में उसका जन्म होता है। उसकी जाति ही उसकी सामाजिक प्रस्थिति को निर्धारित करती है। जाति प्रस्थिति केवल पूर्वनिर्धारित या पूर्वारोपित या प्रदत्त प्रस्थिति (ascribed status) होती है।

(2) **अंतर्विवाह** : अंतर्विवाह का कठोर विधान जाति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। प्रत्येक जाति या उपजाति समूह के अंदर विवाह की अनुमति प्रदान करती है। यह व्यवस्था इतनी कठोर रही है कि परंपरागत रूप से अंतर्जातीय विवाह निषिद्ध थे। आज भी अंतर्विवाह की प्रथा बहुत कठोरता से पालन होता है।

(3) **श्रेणीक्रम व्यवस्था** : भिन्न-भिन्न जातियों के लिए निर्धारित अलग-अलग प्रतिस्थितियों के कारण श्रेणीक्रम व्यवस्था या वर्गानुक्रम व्यवस्था पर आधारित सामाजिक संरचना अस्तित्व में आई है। किसी गांव या ग्राम समूह या क्षेत्र में एक निश्चित वर्गानुक्रम व्यवस्था होती है जिसमें प्रत्येक जाति का स्थान अच्छी तरह परिभाषित होता है। किंतु वर्ण क्रम के विपरीत जाति व्यवस्था अपनी प्रकृति में स्थानीय या क्षेत्रीय होती है। इसका अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में किसी खास जाति का स्थान अलग-अलग हो सकता है पर वर्णक्रम पूरे भारत में निश्चित होता है। इस प्रकार जातिक्रम

रूप था। यह किसी वास्तविक व्यावहारिक मॉडल की अपेक्षा सामाजिक स्तरीकरण का अधिक आदर्श या वांछित रूप था। सटीक ढंग से कहें तो यह भारतीय अथवा हिंदू समाज का एक स्थूल तथा व्यापक श्रेणीकरण था। आदर्श रूप में इसका एक सुनिश्चित वर्गक्रम था जिसमें ब्राह्मण सबसे ऊपर और शूद्र सबसे नीचे थे जबकि अस्पृश्य जनसमूह इस वर्गक्रम की परिधि से बाहर था। थोड़ी-बहुत गतिशीलता की अनुमति भी थी। पर जाति मॉडल हमेशा एक नृवैज्ञानिक (ethnographic) और आनुभविक (empirical) यथार्थ रहा है। जाति मॉडल की उत्पत्ति वस्तुत: कब हुई यह अब भी सामाजिक इतिहासकारों के बीच वाद-विवाद का विषय है। पर एक चीज लगभग स्पष्ट है और वह यह कि गुप्तकाल तक यह ठोस रूप ले चुका था और जनसाधारण इसके साथ रहने लगा था।

जाति मॉडल के अविर्भाव के साथ यह व्यवस्था बंद या बद्धमूल हो गई। इस तरह जाति अपने निश्चित विधानों के साथ समाज के स्पष्ट अंत:विभाजन (watertight compart mentalization) को निरूपित करने लगा। हिन्दू जाति व्यवस्था की आकारिकी (morphology) या संरचानत्मक स्वरूप का वर्णन तीन प्रमुख संलक्षणों के आधार पर किया जा सकता है (बोगल, 1908) और ये सभी शुद्धता के धार्मिक मूल्यों द्वारा गहराई से प्रभावित होते हैं (ड्यूमोंट, 1970)। 'सोशल साइंस एनसाइक्लोपीडिया' में जे.पी. पैरी इस स्थिति को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि (1) जातियों की एक अधिक्रम या सोपानिकी व्यवस्था होती है जो सैद्धांतिक रूप से उनकी शुद्धता की आपेक्षिक सीमा पर आधारित है। सबसे अधिक पवित्र या शुद्ध होने के कारण ब्राह्मणों का स्थान इस श्रेणीक्रम व्यवस्था में सर्वोच्च है और इस प्रकार सिद्धांतत: वे उस जाति से भिन्न और श्रेष्ठ हैं जिसके हाथों में वस्तुत: राजनैतिक-आर्थिक शक्ति की बागडोर होती है, (2) चूंकि शुद्ध या पवित्र जाति अपनी शुद्धता को केवल उसी स्थिति में कायम रख सकती है जब उसके आसपास अपवित्र समझी जाने वाली जातियां विद्यमान होती हैं जिनके नैसर्गिक संसार के क्रियाकलापों में शामिल होने से उत्पन्न प्रदूषण को उसे समाप्त करना पड़ता है, विभिन्न जातियों के बीच श्रम का विभाजन होता है जिसके फलस्वरूप उनके मध्य परस्पर निर्भरता की स्थिति दृष्टिगोचर होती है, (3) प्रदूषण दैहिक संपर्क और स्पर्श

(1) सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक सुरक्षा
(2) अध्यवसायिक क्षमता (occupational efficiency) व कौशल तथा अध्यवसाय संबंधी गोपनीय तथ्यों की सुरक्षा
(3) विवाह के लिए जीवन साथी का चयन
(4) नियंत्रित आचार-व्यवहार
(5) श्रम विभाजन की व्यवस्था

(1) अध्यवसायिक गतिशीलता के अभाव के कारण यह आर्थिक विकास को बाधित करती है।
(2) निम्न जातियों का शोषण व उत्पीड़न
(3) जाति व्यवस्था की अत्यंत शोषणकारी, जड़ीभूत, कठोर तथा उत्पीड़क प्रकृति के कारण ही मुख्य रूप से धर्मांतरण हुआ है।
(4) अस्पृश्यता
(5) राष्ट्रीय एकता के लिए घातक
(6) लोकतंत्र के सारभूत प्रयोजन के लिए नुकसानदेह
(7) इस तरह के वर्गानुक्रम समाज के विभिन्न वर्गों या तबकों के बीच सामाजिक संप्रेषण को बाधित करते हैं।

कर्मकांडीय या सांस्कारिक पक्ष अथवा शुद्ध/अशुद्ध के बीच द्वैधपूर्ण विभेद

(Ritual Aspect or Binary Opposition Between Pure and Impure)

1. पवित्र या शुद्ध और अपवित्र या अशुद्ध के द्वैध को लुई ड्यूमों हिंदू जाति व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत मानते हैं।
2. यह सिद्धान्त जाति व्यवस्था की तीन प्रमुख विशेषताओं में अंतर्भूत है जिनका बोगल ने बहुत व्यवस्थित रूप में विवेचन किया था और बाद में ड्यूमों ने उनकी पुष्टि की थी। बोगल के अनुसार जाति व्यवस्था में अनेक वंशानुगत समूहों की एक शृंखला (सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक जातियां) होती हैं, जिसके संलक्षण हैं: (i) सांस्कारिक प्रस्थिति के अनुसार 'वर्गानुक्रम' या श्रेणीक्रम; (ii) 'पारस्परिक

व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च तथा अस्पृश्यों का स्थान सबसे नीचे होता है किंतु मध्यवर्ती स्तरों पर विद्यमान जातियों को जाति क्रम व्यवस्था में जो स्थान प्राप्त होते हैं, उनमें थोड़ी-बहुत क्षेत्रीय विविधतायें दिखाई दे सकती हैं।

(4) सहभोजिता : साथ-साथ भोजन करने या खाद्य पदार्थ और जल ग्रहण करने की प्रक्रियाओं के लिए विस्तृत विधान है। भोजन संबंधी और सामाजिक संपर्क के संदर्भ में अनेक कठोर अंकुश होते हैं। खाद्य पदार्थों को *पक* और *कच्चे* खाद्यों में विभक्त किया जाता है और किस जाति का व्यक्ति किस जाति के व्यक्ति से भोज्य पदार्थ ग्रहण करता है, इस संबंध में सुनिश्चित नियमों का पालन होता है।

(5) व्यावसायिक पाबंदियां : प्रत्येक जाति का व्यवसाय या अध्यवसाय जन्म से पूर्वनिर्धारित होता है और प्रत्येक जाति अध्यवास को एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में देखती है।

(6) वंचनाएं और विशेषाधिकार : ब्राह्मण और अन्य उच्च (द्विज) जातियों को धार्मिक और सेक्युलर मामलों में अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, जबकि अस्पृश्य जातियों को कई सामाजिक वंचनाओं व अयोग्यताओं का शिकार होना पड़ता है।

(7) जाति परिषद : अपनी जाति के सदस्यों की निष्ठा प्राप्त करने का अधिकार रखनेवाली जाति पंचायत का अस्तित्व भी जाति व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। जाति परिषद विभिन्न प्रकार की वर्जनाओं या निषेधों के उल्लंघन से संबंधित मामलों का निबटारा करती है, अपनी सामाजिक-राजनैतिक सत्ता का प्रयोग करके यह अपने किसी भी सदस्य को जातिच्युत या जाति से बहिष्कृत कर सकती है।

जाति व्यवस्था के गुण और दोष

बहुत लंबे समय से समाज वैज्ञानिक जाति व्यवस्था के सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों या गुणों और दोषों पर बहस करते रहे हैं। जिन बिंदुओं पर सबसे अधिक बहस हुई है, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

गुण

वर्गों का निर्धारण प्रदूषण सम्बन्धी स्थानीय व्याख्याओं के आधार पर किया जाता है। अत: जहाँ एक ओर गंदगी और गोमांस का सेवन लगभग हर जगह किसी विशेष जातीय समूह को अस्पृश्य जाति के रूप में मान्यता दिलाते हैं, इसे फिर भी व्यवहार प्रणाली में कुछ बारीक भेदों के आधार पर किसी अन्य जातीय समूह की अपेक्षा वीरयता दी जा सकती है। यह तथ्य कि प्रदूषण की अवधारणा के कुछ अनुभवजनित नियामकों का निर्धारण स्थानीय व्याख्याओं के आधार पर होता है, यह इंगित करता है कि विशिष्ट प्रघटना के रूप में जातीय श्रेणीक्रम किसी निश्चत स्थानीय क्षेत्र तक सीमित होता है। अत: जाति का श्रेणीक्रम क्षेत्रीय विविधताएं दर्शाता है।

7. जो प्रवृत्ति किसी खास क्षेत्र में जातियों की श्रेणीक्रम व्यवस्था को जन्म देती है प्राय: एक जाति के अंदर पुनरावर्तित हो जाती है और एक ही स्थानीय समुदाय में और अधिक व्यापक प्रादेशिक क्षेत्र में-दोनों परिप्रेक्ष्यों में घटक समूहों के श्रेणीकरण की स्थिति उत्पन्न करती है।

8. प्रदूषण की स्थानीय व्याख्याओं के कारण जतियों के मूल्यांकन और श्रेणीकरण में अनेक क्षेत्रीय भिन्नताएं दिखाई देती हैं। पर किसी खास स्थानीय परिप्रेक्ष्य के अंदर भी लाक्षणिक मानदंडों की बहुलता और परस्पर एक-दूसरे के साथ उनके संबंध के मूल्यांकन की अनिवार्यता किसी निश्चित श्रेणीक्रम व्यवस्था के अंदर सभी जातियों के श्रेणीकरण की प्रक्रिया को कठिन बना देती है।

9. ड्यूमों यह दर्शाने का प्रयत्न करते हैं कि इन संलक्षणों का प्रयोग श्रेष्ठ और हीन जातियों के बीच विभाजनों की एक पूरी शृंखला स्थापित करने के लिए किया जाता है जिनमें से प्रत्येक दूसरे की तुलना में अधिक सटीक होता है। उदाहरण के लिए शाकाहारी जातियों को गैर शाकाहारी जातियों से ऊपर रखा जा सकता है और शाकाहारी जातियों में विधवा के पुनर्विवाह पर रोक लगाने वाली जातियां इसे मान्यता प्रदान करने वाली जातियों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी जाएंगी। इसी प्रकार मांसाहारी जातियों में गोमांस खाने वाली और गोमांस नहीं खाने वाली

विकर्षण या विलगन', जो उनके बीच संपर्क संबंधी नियमों और उनके आपसी अलगाव को इंगित करता है; (iii) श्रम का विभाजन और इसके फलस्वरूप एक-दूसरे पर उनकी निर्भरता।

3. ड्यूमो दर्शाते हैं कि शुद्ध और अशुद्ध का द्वैध इन तीनों संलक्षणों में अंतर्निहित है; सोपानिकीय (hierarchical) प्रणाली में वह इस शर्त के रूप में विद्यमान है कि शुद्ध और अशुद्ध जातियों का परस्पर पृथक्करण होना चाहिए; तथा श्रम विभाजन में वह इसलिए विद्यमान है क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध अध्यवसायों का परस्पर अलगाव होना चाहिए।

4. इस आधार पर जाति व्यवस्था को इसकी समग्रता में देखा जाता है जो प्रतिलोमों (शुद्ध और अशुद्ध) के अधिक्रम सहअस्तित्व पर अनिवार्य रूप से आधारित है। यह जाति के एक ऐसे दृष्टिकोण को निरूपित करता है जिसके अनुसार 'शुद्ध और अशुद्ध' दोनों को इस व्यवस्था में 'उचित स्थान' प्राप्त है और प्रत्येक अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते हुए दूसरे के साथ सहअस्तित्व दर्शाता है।

5. विभिन्न जातियों की शुद्धता और अशुद्धता के आधार पर उन्हें श्रेणीबद्ध करने का एक तरीका यह है कि उनके लाक्षणिक गुणों का अध्ययन किया जाए और तदनुसार एक-दूसरे के साथ उनके संबंध को दर्शाते हुए क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाए। पवित्रता या शुद्धता से सम्बोधित विशेषताएं हैं- यज्ञोपवीत पहनना, गाय के प्रति श्रद्धा का भाव, शाकाहारी भोजन, मादक पदार्थों और मद्य आदि के सेवन से दूर रहना तथा विधवा विवाह पर रोक। अपवित्रता या प्रदूषण मानवीय अपशिष्ट पदार्थों, मृत्यु, गाय के प्रति श्रद्धा भाव में कमी और मांस-मदिरा के सेवन से सम्बन्धित हैं। इन्हें अपवित्रता के कुछ प्रमुख घटकों के रूप में मान्यता दी गई है।

6. ऊपर शुद्धता और अशुद्धता या प्रदूषण की जिन लाक्षणिक विशेषताओं की चर्चा की गई है, उनका उपयोग जातीय श्रेणी क्रम के दो ध्रुवों-ब्राह्मण और अस्पृश्य जातियों की पहचान करने में किया जा सकता है। किन्तु ब्राह्मणों और अस्पृश्यों में सर्वोच्च और निम्नतम

भोजन ग्रहण करती है उसे अन्य जातियों की तुलना में अधिक व्यापक स्तर पर कर्मकांडीय सम्मान (ritual honour) का हकदार माना जा सकता है। इसी सिद्धांत का अनुपालन करते हुए एक जाति स्वयं दूसरी जातियों को जो रीतिगत सेवाएं (ritual services) प्रदान करती है, उसकी अपेक्षा अधिक सेवाएं ग्रहण करती है उसकी श्रेणी तुलनात्मक रूप से ऊंची होती है; यह निम्नतर होती है यदि यह जिस सीमा तक रीतिगत सेवाएं प्राप्त करती हैं उनकी अपेक्षा अधिक सेवाएं प्रदान करती है या ऐसी सेवाएं निम्न जातियों को प्रदान करती है।

समसामयिक सामाजिक मानवशास्त्रियों की दृष्टि में जाति व्यवस्था

1940 के दशक के उत्तरार्द्ध से अनेक ब्रिटिश और अमेरिकी समाजशास्त्रियों ने भारतीय जाति व्यवस्था के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण या उपागम की सभी प्रमुख विशेषताओं पर समसामयिक सामाजिक मानवशास्त्र का गहरा प्रभाव है। भारतीय परिदृश्य की सुधी प्रेक्षक पाउलिन कोलेंडा (1984) ने एक गहन विश्लेषण द्वारा इस नए उपागम की महत्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार इसकी पहली महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जो इस उपागम को अपनाते हैं, वे किसी गांव में रहकर और प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा जाति व्यवस्था के बारे में जानकारियां एकत्र करते हैं, उनके अनुसार :

1. एक संस्था या व्यवस्था के रूप में जाति केवल एक सीमित क्षेत्र के अंदर, एक गांव या कुछ परस्पर संबद्ध गांवों में ही चलती है।
2. किसी गांव या स्थानीय जनसमूह में परस्पर एक-दूसरे से भिन्न जातियों की एक शृंखला होती है जिनके सदस्य संख्या में बहुत कम से बहुत अधिक तक हो सकते हैं।
3. किसी प्रमुख जाति या परिवार या परिवार समूह को इतनी राजनैतिक-आर्थिक शक्ति प्राप्त होती है कि वह अपने स्थानीय संदर्भ में अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। प्रभुत्व कृष्य भूमि पर एकाधिकार मूलक नियंत्रण और भौतिक बल में अंतर्भूत होती है।
4. प्रत्येक जाति के सदस्यों को किसी-न-किसी व्यवसाय में विशेष

जातियों के बीच विभाजन रेखा खींची जा सकती है। पुनः गोमांस का सेवन नहीं करने वाली जातियों को केवल बकरे या पक्षियों का मांस खाने वाली और निम्न जातियों के हाथों से पकाये गए तथा मल या कूड़ा-कर्कट खाने वाले सुअरों के मांस का सेवन करने वाली जातियों में विभक्त किया जा सकता है। ड्यूमों का विचार है कि इस तरह के द्वैध, जो आपेक्षिक शुद्धि व अशुद्धि के भेदों को स्थापित करते हैं, पुनः श्रेणीक्रम के सिद्धांत के महत्व को स्पष्टता से रेखांकित करते हैं।

10. साथ ही यह स्पष्ट कर पाना कठिन है कि किसी गांव की एक निश्चत सोपानिकीय प्रणाली लाक्षणिक-गुणात्मक प्रतिमानों या मानंदडों के आधार पर पूर्ण रूप से आश्रित होती है। कुछ संदर्भों में एक शाकाहारी जाति वस्तुतः एक अशाकाहारी जाति की अपेक्षा निम्नतर श्रेणी से संबद्ध हो सकती है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि कैसे प्रदूषण के विभिन्न लाक्षणिक गुण परस्पर जुड़कर मूल्यों की एक सुस्पष्ट श्रेणीक्रम प्रणाली का निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिए क्या आहार संबंधी लाक्षणिक गुण व्यवसाय संबंधी संलक्षणों या गुणों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं? बकरे काटने, हजामत बनाने और पेड़ पर चढ़कर ताड़ी निकालने जैसे अध्यवसायों में किसे निकृष्टतम माना जाएगा?

11. इन कठिनाइयों के कारण मिक्किम मैरियट 'खाद्य पदार्थ और विभिन्न प्रकार की सेवाएं प्रदान करने के तथा ग्रहण करने के रिवाज' के रूप में व्यक्त अंतर्जातीय संबंधों के आधार जाति श्रेणीकरण का एक अत:क्रियात्मक सिद्धांत प्रतिपादित करने के लिए प्रेरित होते हैं। वे खाद्य पदार्थों के हस्तांतरण को रिवाजमूलक या रीतिगत सेवाएं ग्रहण करने की अपेक्षा श्रेणी निर्धारण की दृष्टि से अधिक निर्णायक मानते हैं परंतु दोनों परस्पर संबद्ध हैं क्योंकि भोजन के रूप में अंशतः सेवा भी प्रदान और ग्रहण की जाती है।

12. खाद्य सामग्री का प्रसार श्रेणी का एक महत्वपूर्ण प्रतीक है क्योंकि जो जाति अन्य जातीय समूहों को दिए भोजन की अपेक्षा अधिक शुद्ध

एक ही कुल से संबद्ध होते हैं यद्यपि वे वास्तविक अर्थों में प्राय: समगोत्रीय संबंध दर्शाते हैं (पितृकुल पर आधारित वंश व्यवस्था (Patrilineal descent) पुरुषों की उस वंश व्यवस्था को इंगित करती है जिसके अंतर्गत पुरुष पिता-पुत्र संबंधों के आधार पर परस्पर संबद्ध होते हैं और अतीत में उनकी उत्पत्ति किसी एक पूर्वज से मानी जाती है। मातृकुल पर आधारित वंश व्यवस्था (matrilineal descent) मातृ-शिशु संबंधों पर आधारित होती है और इस प्रकार संबद्ध सभी व्यक्तियों की उत्पत्ति एक सामान्य महिला पूर्वज से मानी जाती है। समगोत्रीय वंश व्यवस्था (cognatic descent) के अंतर्गत पुरुषों या महिलाओं के रूप में परस्पर संबद्ध वे सारे लोग आते हैं, जिनकी उत्पत्ति सामान्य पूर्वजों से मानी जाती है।)

10. प्रत्येक जातीय समूह अपने निजी मुहल्ले में रहने की प्रवृत्ति दर्शाता है। अस्पृश्य या अछूत जनसमुदाय के लोग (जिन्हें अपवित्र माना जाता है) अधिक शुद्ध मानी जानेवाली जाति से अलग-थलग किसी छोटे टोले में अथवा गांव की बाहरी सीमा पर रहते हैं और समाज की मुख्यधारा से कटे होते हैं।

◆◆◆

कुशलता प्राप्त होती है जिसका वह भोजन, उत्पादों या सेवाओं के लिए अन्य जातियों के साथ आदान-प्रदान करते हैं। भूस्वामी शक्तिसंपन्न जाति द्वारा भूमिहीन सेवकों, कारीगरों और भिक्षुक जातियों को अनाज देने की प्रथा विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। भोजन, उत्पादों और सेवाओं का यह विनिमय शुद्धि-अशुद्धि के रिवाज के साथ-साथ एक प्रकार की आर्थिक व्यवस्था से भी संबद्ध है। जजमानी व्यवस्था के नाम से जानी जाने वाली यह व्यवस्था इस प्रकार काम करती है कि सबसे ऊंची जाति शुद्ध बनी रहती है जबकि निचली जातियों को अशुद्धि का सारा बोझ उठाना पड़ता है।

5. किसी स्थानीय जाति व्यवस्था के अंदर जिस सीमा तक अशुद्धि का रिवाज प्रचलित होता है, उसके अनुसार विभिन्न जातियां परस्पर श्रेणीबद्ध होती हैं।
6. इस स्थानीय जाति सोपानिकी (caste hierarchy) में मध्यम और निम्न जातियों द्वारा अपनी-अपनी जातीय श्रेणी में उन्नयन का प्रयत्न किया जाता है और इस दृष्टि से वे विशेषकर अशुद्ध या अपवित्र माने जाने वाले अपने रिवाजों तथा व्यवहारों का परित्याग करके उच्चतर या सवर्ण जातियों के रीति-रिवाजों का अनुसरण करते हैं।
7. राजनैतिक शक्ति प्रभुत्वसंपन्न जाति, परिवार या परिवारों अथवा यदाकदा प्रतिस्पर्धी शक्तिशाली जाति युगल के हाथों में केंद्रित होती है। शक्तिहीन जातियां प्रभुत्वशाली जातीय समूह के अंदर अपने संरक्षकों का समर्थन करने की प्रवृत्ति दर्शाती हैं। इस तरह का समर्थन महत्वपूर्ण हो सकता है यदि प्रभुत्वशाली जातीय परिप्रेक्ष्य में शक्ति के लिए कई गुटों के बीच संघर्ष होता है।
8. विवादों का निबटारा जातीय समूहों के अंदर स्थापित परिषदों या प्रभुत्वशाली जाति अथवा परिवार के एक या अनेक बुजुर्गों द्वारा होता है।
9. जातीय समूह अंतर्विवाह पर आधारित एक अन्वय समूह (descent group) होता है। किसी जातीय समुदाय के स्थानीय संस्करण में प्राय: नातेदारी द्वारा परस्पर संबद्ध लोग आते हैं-जो आदर्श रूप में

178

खण्ड पांच

सभ्यता तथा उसकी सांस्कृतिक प्रक्रिया

(Civilization and its Cultural Process)

बेहतर और अधिक तार्किक-वैज्ञानिक परिभाषा दी वरन् मानवशास्त्र में सभ्यता के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के लिए दूसरों को भी प्रेरित किया। इसी कारण रेडफील्ड को आज मानवशास्त्र में "सभ्यता के विचार का मानवशास्त्रीय संपर्याय" (Civilizational School of Anthropological Thought) का संस्थापक व प्रवर्तक माना जाता है। रेडफील्ड ने मैकिम मैरियट, मिल्टन सिंगर, ऑस्कर लेविस जैसे योग्य शिष्यों व अनुयायियों की सहायता से मानवशास्त्र में सभ्यता के अध्ययन को दृढ़ता के साथ स्थापित कर दिया।

रेडफील्ड व सिंगर (1954) ने दो प्रकार की सभ्यताओं के बीच अन्तर को उजागर किया है। यह हैं मूल (primary) सभ्यता तथा द्वितीयक (secondary) सभ्यता। मूल सभ्यता (primary civilization) ऋजुजननीय (orthogenetic) विकास के द्वारा और द्वितीयक (secondary) सभ्यता विषमोद्रवी (heterogenetic) विकास के द्वारा समझी जा सकती है। मूल सभ्यता अपनी मूल लोक संस्कृति (indigenous folk culture) से विकसित होती है जबकि द्वितीयक सभ्यता मूल व देशी प्रारूपों पर बाहरी सांस्कृतिक प्रभावों का परिणाम होती है। भारतीय व चीनी सभ्यताएं रेडफील्ड व मिल्टन सिंगर की मूल सभ्यता की अवधारणा का उदाहरण हो सकती हैं और इस प्रकार स्टीवर्ड द्वारा अध्यनित प्यूर्टोरिको (दक्षिणी अमेरिका) को द्वितीयक सभ्यता की संज्ञा दी जा सकती है जो स्पेनिश इण्डियन व अफ्रीकी सांस्कृतिक प्रभावों का परिणाम है। इस प्रकार के अंतर से राष्ट्रीय चरित्र (national character) का अध्ययन करने के लिए हमें एक नया उपागम (approach) मिला। ऐसा उपागम सभ्यता को एक प्रक्रिया के रूप में देखने का प्रयास करता है। एम.एन. श्रीनिवास ने सर्वप्रथम इस उपागम का प्रयोग भारतीय समाज में अनुष्ठान/कर्मकाण्ड के क्षेत्र में संस्कृतीकृत व गैर-संस्कृतीकृत तत्वों को समझने में किया था।

रेडफील्ड ने सभ्यता का लोक (folk) तथा नगरीय (urban) पहलुओं व विस्तारों के द्वारा अध्ययन किया। इन्होंने लोक व नगरीय संस्कृतियों का अध्ययन किया और परिणामस्वरूप, इन्होंने लोक-नगरीय अटूटक्रम (folk-urban continuum) की अवधारणा को विकसित किया। बेहतर होगा यदि लोक-नगरीय सातत्य को समझने से पहले लोक समाज (folk society) तथा नगरीय समाज (urban society) की विशेषताओं पर एक नजर डाल लिया जाये।

विशेष प्रारम्भिक टिप्पणी

संस्कृति के अध्ययन में परम्पराओं की भूमिका और महत्व सर्वविदित है। संस्कृति के दो पहलू हो सकते हैं-वर्तमान की वह वास्तविकतायें जिनका सम्बन्ध अभी अतीत से नहीं जुड़ा है; और दूसरा वह पहलू जो अतीत या पीछे से चलता चला आ रहा है। संस्कृति की समग्रता इन दोनों पहलुओं को साथ लिये बिना नहीं बनती। इस प्रकार सस्ंकृति के अध्ययन में परम्परायें एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। चूँकि प्रत्येक सभ्यता परम्पराओं से मिल कर बनी है और परम्परा का अध्ययन मानवशास्त्र में हमेशा से नहीं हुआ है; इसलिए सभ्यता का अध्ययन भी मानवशास्त्र का जाना-माना अध्ययन क्षेत्र नहीं रहा है।

परम्परागत तौर पर मानवशास्त्र का जाना पहचाना क्षेत्र छोटे-छोटे स्थानीय, भौगोलिक तौर पर अलग-थलग पड़े, आदिम, जनजातीय या सरल समुदायों का अध्ययन रहा है। सामाजिक/सांस्कृतिक मानवशास्त्री ऐसे समुदायों का तुलनात्मक अध्ययन करते रहे हैं। किसी भी दूसरे विषय की तुलना में इस विषय का अध्ययन मानवशास्त्रियों ने मानवशास्त्र के जीवन के लगभग डेढ़ सौ वर्षों में सब से अधिक किया है। इस प्रकार के अन्तर-सांस्कृतिक तुलनात्मक अध्ययनों (cross cultural comparisons) के परिणामस्वरूप सामाजिक-सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों ने सांस्कृतिक समानताओं व विविधताओं का एक बड़ा खज़ाना एकत्र कर लिया। लेकिन इसका परिणाम यह निकला कि वे ऐसी सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करने में सक्षम न हो सके जब कोई सामाजिक व्यवस्था जटिलता की ओर अग्रसर होती है या जटिल हो जाती है। उनके पास जटिल समाजों (complex societies) के अध्ययन का न तो कोई अनुभव था और न ही रुचि या शैक्षणिक प्रशिक्षण। इस प्रकार सभ्यताओं का अध्ययन मानवशास्त्रियों के अध्ययन क्षेत्र से परे था।

यह सिलसिला लगभग 1940 के दशक तक चलता रहा। उस समय विश्व मानवशास्त्र के क्षितिज पर रॉबर्ट रेडफील्ड का उदय हुआ। शिकागो के रेडफील्ड को इस बात का श्रेय जाता है कि उन्होंने सामाजिक-सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों को एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने न केवल सभ्यता की

क्रान्ति से साथ जोड़ते हैं। इसी कारणवश ऐसे पूर्व-औद्योगिक नगरीय क्षेत्रों व ग्रामीण कृषकों के बीच काफी समीपता पाई जाती है। वास्तविकता तो यह है कि कृषक समुदाय व पूर्व-औद्योगिक नगरीय समुदाय पूर्व-औद्योगिक सभ्यता का एक अभिन्न अंग रहे हैं। पूर्व-औद्योगिक नगर खाद्यान्नों व कच्चे माल के मामले में कृषक समुदायों पर निर्भर रहे हैं और यही कारण है कि ऐसे नगर हस्तकला उत्पादों के केंद्र रहे हैं। ऐसे नगर महत्वपूर्ण राजनैतिक, धार्मिक व शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति भी करते रहे हैं। जहाँ तक सामाजिक व्यवस्था का सम्बन्ध है ऐसे नगरों पर साक्षर, शिक्षित, अभिजात्य वर्ग (elite class) का ही आधिपत्य रहा है लेकिन यह अभिजात्य वर्ग हमेशा कृषक/लोक समुदायों पर निर्भर रहा है। इस अभिजात्य वर्ग की सांस्कृतिक स्थिति की वैधता पवित्र ग्रन्थों (sacred texts) के "संरक्षक" के नाते बनी रहती है। रेडफील्ड कृषक-नगरीय सम्बन्ध के संदर्भ में कहते हैं कि बाजार (market) व्यापार के केन्द्र के साथ-साथ एक मानसिक अवस्था (state of mind) भी है। यह व्यवहारों व सम्बन्धों का एक जाल बनाती है जो शहर को शहर से, गांव को गांव से और शहरी समुदाय को ग्रामीण/लोक समुदायों से जोड़ती है। भारतीय संदर्भ में जातियां जातिगत सम्बन्धों के ताने-बानों से बुनी शहरी व लोक संस्कृतियों के बीच सेतु का काम भी करती रही हैं। संक्षेप में एक नगरीय समुदाय ऐसा समुदाय है जिसकी जनसंख्या और उसका घनत्व अधिक होता है और जहाँ कृषि-सम्बन्धी कार्यों की प्रधानता न होकर कार्यक्षेत्र में विशिष्टिकरण के माध्यम से उद्योगों, व्यवसायों तथा नौकरियों की प्रधानता होती है। इसका आधार जटिल श्रम-विभाजन होता है और इसका प्रबन्ध स्थानीय निकायों के औपचारिक तंत्र द्वारा किया जाता है।

लोक समुदाय व नगरीय समुदाय के बीच एक और भी प्रकार का समुदाय है जिसे कृषक समुदाय (peasant society) कहा जाता है। रेडीफल्ड ने अपने जाने-माने अध्ययन 'पीजेन्ट सोसाइटी एण्ड कल्चर' (1956) में कृषक संस्कृति की जिन तीन सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन किया है, वे हैं:

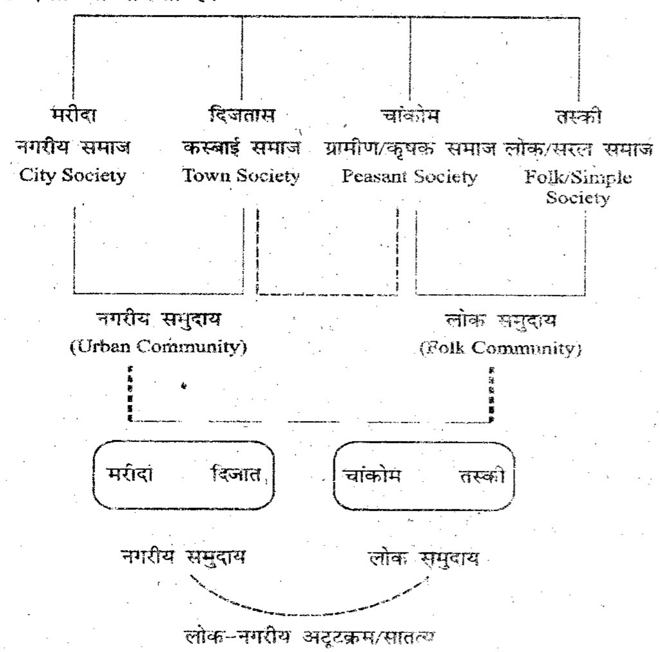
(अ) भूमि के लिये आदर व श्रद्धा भाव
(ब) कृषि को सबसे अच्छा कार्य मानना
(स) मेहनती स्वभाव की प्रधानता

किसी लोक समाज (folk society) को एक छोटे या लघु, सजातीय (homogeneous), प्राक्-साक्षर (non-literate), पृथक (isolated) समाज के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें एकात्मकता की ठोस भावना पायी जाती है। ऐसे समाजों की जीवन पद्धति, रेडफील्ड के शब्दों में, एक ऐसी समनुगत, परिपाटिबद्धता में विदित होती है जिसे हम संस्कृति कहते हैं- "The ways of living are conventionalized into that coherent system which we call a 'culture'. Behaviour is traditional, spontaneous, uncritical, and personal: there is no legislation or habit of experiment and reflection for intellectual ends. Kinship, it's relationship and institutions, is the unit of action. The sacred prevails over the secular; the economy is one of status rather than of the market." लोक समाजों में व्यवहार परम्परागत, स्वतः गैर-आलोचनात्मक, और निजी प्रकृति का होता है। इसमें विधानों की अनुपस्थिति होती है और प्रयोगात्मकता का अभाव पाया जाता है तथा बौद्धिक मंथन की प्रक्रिया की कमी रहती है। नातेदारी व उससे जुड़े सम्बन्ध व सामाजिक संस्थायें ही सामाजिक क्रिया की इकाई होती हैं, पवित्र (धार्मिक) ऐहिक (धर्मनिरपेक्ष) पर हावी रहती है तथा अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर होती है और आदिम समाजों के खाद्य संग्रह-संकलन व आखेट पर आधारित अर्थव्यवस्था से भिन्न होती है। लोक समाजों का सम्पर्क बौद्धिक विचारों व उनके विश्वास के केन्द्रों से रहता है जिसे हम सभ्यता कहते हैं। संक्षेप में एक लोक समाज कोई छोटा, अर्द्धसाक्षर समाज होता है जिसकी सांस्कृतिक परम्परायें एक जैसी होती हैं और धर्म निरपेक्ष या लौकिक न होकर धर्मोन्मुख होता है। ऐसे समाज में अपूर्व एकता एवं सामूहिक समेकता पाई जाती है।

यद्यपि नगरीय (urban) की अवधारणा बहुत दिनों से समाजशास्त्रीय -मानवशास्त्रीय अध्ययनों से स्पष्ट तौर से प्रयुक्त होती रही है लेकिन औद्योगिक (industrial) और पूर्व-औद्योगिक (pre-industrial) नगर के बीच अन्तर को लेकर काफी सम्भ्रांतियां भी रही हैं।

यहाँ हमारा सरोकार मुख्यतः प्राक-औद्योगिक नगर (pre-industrial city) व उस के समुदायों से है। ऐसे समुदाय आम तौर पर उत्पादन के ऐसे स्वरूपों से प्रभावित व प्रेरित नहीं रहे हैं जिनको हम यूरोपीय औद्योगिक

रखते हैं, इसलिए रेडफील्ड ने मरीदा व दिजतास को नगरीय समुदाय (urban community), तथा चंकोम व तस्की को लोक समुदाय (folk community) की संज्ञा दी। इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर रेडफील्ड ने यह निष्कर्ष निकाला कि कोई ज्ञात समाज इन दो छोरों या ध्रुवों जैसे नहीं हैं। बल्कि इन दोनों छोरों की कुछ विशेषतायें रख सकता है या इन दोनों के बीच में रखा जा सकता है और इस तरह इन दोनों सांस्कृतिक छोरों (cultural poles) के बीच एक निरन्तरता या सातत्य पाया जाता है। इसका सीधा अर्थ यह निकाला जा सकता है कि यह बताना असम्भव है कि कहाँ लोक (folk) समाप्त होता है तथा कृषक संस्कृति (peasant culture) शुरू होती है तथा कहां कृषक संस्कृति व कस्बाई संस्कृति के बीच और कस्बाई (town) संस्कृति व नगरीय संस्कृति (urban culture) के बीच विभाजक रेखा खींची जाये। लोक समाज-कृषक समाज, कृषक समाज-कस्बाई समाज व कस्बाई समाज-नगरीय समाज के सांस्कृतिक लक्षणों में कुछ अतिव्याप्ति या कुछ अंश तक परस्पर व्याप्त रहना (overlapping) ही उस सामाजिक-सांस्कृतिक घटना का कारण है जिसे सातत्य या अटूटक्रम (continuum) के रूप में देखा जा सकता है।



कृषकों समाजों में (1) बहुपक्षीय सामाजिक संगठन की मूल इकाई कृषक परिवार होती है, (2) इनकी जीविका का प्रमुख साधन भूमि और कृषि होती है जिन से जीवन की प्रायः सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, (3) जीवनचर्या से सम्बन्धित इन की विशिष्ट परम्परागत संस्कृति होती है, (4) इन पर बाहर के लोगों का आधिपत्य होता है। कृषक समुदाय के लिए कृषि, व्यापार या उद्यम (enterprise) न होकर एक जीवनशैली होती है जो अधिक धन व लाभ के लालच पर भी नहीं छोड़ी जा सकती (कृषक समुदाय पर विस्तारपूर्वक जानकारी व इसके सबसे महत्वूपर्ण अध्ययनकर्त्ताओं रेडफील्ड, इरिक वूल्फ, थ्योड़र शानिन आदि के विचारों के लिए नदीम हसनैन की पुस्तक सामान्य मानवशास्त्र देखी जा सकती है)। इस प्रकार एक कृषक समुदाय को लोक व नगरीय समुदाय के बीच की कड़ी माना जा सकता है।

रेडफील्ड द्वारा प्रतिपादित लोक-नगरीय अटूटक्रम (folk-urban continuum) की अवधारणा को रेडफील्ड के प्रसिद्ध अध्ययन 'फोक कल्चर ऑव युकातान' के माध्यम से समझा जाता है। युकातान, मैक्सिको का एक प्रान्त है जहां अपने क्षेत्रकार्य के दौरान रेडफील्ड ने चार प्रकार के समुदायों का तुलनात्मक अध्ययन किया। मरीदा नामक स्थान के लोग नगरीय समाज (urban society), दिज़तास के लोग कस्बाई समाज (town society), चंकोम के लोग ग्रामीण या कृषक समुदाय (peasant society) और तस्की के लोग लोक या सरल समाज (folk or simple society) का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन चारों समुदायों की संस्कृतियों के बीच एक अटूटता या सातत्य पाया गया। रेडीफल्ड ने मरीदा (नगरीय समाज) को सातत्य के एक छोर या ध्रुव पर रखा तथा तस्की (लोक या सरल समाज) को सातत्य के दूसरे छोर पर। इन चार प्रकार के समाजों के विशिष्ट सांस्कृतिक लक्षणों के अध्ययन के आधार पर पाया गया कि तस्की व मरीदा समाजों के बीच काफी भिन्नता है। परन्तु मरीदा व दिज़तास समाजों में एक ओर तथा चंकोम व तस्की समाजों में दूसरी ओर काफी समानतायें हैं। लेकिन साथ ही दिज़तास व चंकोम में भी समानतायें हैं जैसे बाज़ार, दुकानों व बिचौलियों की उपस्थिति। चूँकि नगरीय समुदाय (city community), कस्बाई समुदाय (town community) के साथ तथा कृषक समुदाय (peasant community) लोक समुदाय (folk community) के साथ सांस्कृतिक लक्षणों में काफी समानता

14

लघु व वृहत् परम्परायें

लघु एवं वृहत् परम्पराओं की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम रेडफील्ड ने किया था। ये धारणाएं उनकी पुस्तक 'पीजेन्ट सोसाइटी एन्ड कल्चर' (1956) में प्रतिपादित की गई थीं और उनका उपयोग उनके द्वारा मैक्सिकी समुदायों के अध्ययन में किया गया था। बुनियादी रूप से इनका इस्तेमाल सुदूर क्षेत्र में होने वाले सामाजिक परिवर्तन के विवेचन में किया गया था किन्तु मिल्टन सिंगर और मिक्किम मैरिअट ने इस वैचारिक फ्रेमवर्क का प्रयोग भारत की सांस्कृतिक स्थिति पर किया जो कि भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन को समझने का एक तरीका माना जा सकता है।

रेडफील्ड की मान्यता है कि प्रत्येक सभ्यता में परम्परायें होती हैं- एक छोर पर 'कुलीनों, अभिजात्य लोगों और चिन्तकों की परम्परायें होती हैं तो दूसरे छोर पर अनपढ़, कृषक समुदायों की। पहले प्रकार की परम्परायें शहरी केंद्रों, उनके मन्दिरों, शिक्षा संस्थाओं आदि से निस्सृत होती हैं और 'वहृत परम्पराएं' कहलाती हैं। इस धारणा को दूसरे दृष्टिकोण से भी समझा जा सकता है। प्रत्येक समाज में 'वृहत समुदाय' भी होते हैं और 'लघु समुदाय' भी। इन दोनों प्रकार के समुदायों की परम्परायें, उनके आचरण, व्यवहार, रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, उत्सव, त्यौहार आदि भी उनकी तरह 'लघु' या 'वृहत' कहे जा सकते हैं। भारतीय समाज में नगरीय हिन्दू समाज वृहत समुदाय है, उसकी संस्कृति और सामाजिक संरचना भी वृहत है। उसकी वृहत परम्पराओं का आदि-स्रोत प्राचीन चिन्तकों और दार्शनिक तथा उनके द्वारा रचित विद्वतापूर्ण कृतियों, महाकाव्यों तथा प्रबन्धों को माना जा सकता है। ऐसी वृहत् परम्परायें न केवल भारत में रहने वाले हिन्दुओं में पायी जाती हैं वरन् उन हिन्दुओं में भी मिलती हैं जो यहाँ से चलकर विश्व के अन्य भागों में बस गये हैं। इस वृहत समुदाय और उसकी वृहत् परम्पराओं के दांयरे में अनेक लघु समुदाय और उनकी लघु परम्परायें भी शामिल हैं। ये लघु समुदाय समाज के ग्रामीण और जनजातीय खण्डों में पाये जाते हैं। इस तरह यह ग्रामीण-शहरी युग्मशाखिता (rural-urban dichotomy) विविधता

ऊपर दिये गए रेखाचित्र में लोक-नगरीय सातत्य के विभिन्न चरण दर्शाये गये हैं जो राबर्ट रेडफील्ड के जाने-माने अध्ययन फोक-कल्चर ऑव युकातान पर आधारित हैं।

रेडफील्ड के अनुसार लोक-नगरीय सातत्य इस बात की भी व्याख्या करता है कि किस प्रकार लोक समुदाय, नगरीय समुदाय के सम्पर्क में आता है और सांस्कृतिक लेनदेन के कारण ये एक दूसरे के सांस्कृतिक लक्षण ग्रहण करते रहते हैं। इन्होंने इस अवधारणा के द्वारा सरल समाजों व जटिल समाजों के बीच सम्बन्धों के संप्रत्यीकरण (conceptualization) को समझने का भी प्रयास किया है। उदाहरण के तौर पर किसी समुदाय को एक पारिस्थितिकीय व्यवस्था (ecological system) या संरचना या जीवन के एक दृष्टिकोण के रूप में देखा जा सकता है। रेडफील्ड की इस अवधारणा के आलोचकों में ऑस्कर लेविस (Oscar Lewis) का नाम प्रमुख है। अन्य बातों के अतिरिक्त इन्होंने यह कहा कि रेडफील्ड की अवधारणा आदर्श प्रारूपों की ओर संकेत करती है जो आवश्यक नहीं है कि जमीनी वास्तविकता भी हो। इसके अतिरिक्त लोक व नगरीय के बीच सम्पर्कों की मात्रा को मापा नहीं जा सकता तथा आवश्यक नहीं कि सांस्कृतिक परिवर्तन लोक-नगरीय प्रगमन के पैमानों से नापा जाये, बल्कि यह घटती-बढ़ती सांस्कृतिक विविधता के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। अपनी सीमित सैद्धान्तिक प्रयोज्यता के बावजूद लोक-नगरीय सातत्य की अवधारणा सांस्कृतिक प्रक्रिया को समझने में बहुत सहायक रही है।

◆◆◆

परम्परा किसी समुदाय का वह संचारित मूल्य व व्यवहार होती है जो कुछ समय से अटूट तरीके से जारी हों। संस्कृति के एक पक्ष की हैसियत से समाज परम्पराओं का पालन करता है। परम्पराएं मौखिक व्यवहार, सामाजिक व्यवहार, तथा भौतिक व्यवहार द्वारा व्यक्त होती हैं।

"Strictly and properly speaking ....a tradition is not a mere observed fact like an existing custom; it is an idea which expresses a value judgement. A certain way of acting is regarded as right; a certain order or arrangement is held desirable. The maintenance of the tradition is the assertion of this judgement. It produces in a nation or in a group an exalted group consciousness and is therefore most effective in creating groups or in reestablishing them".

इस प्रकार हम देखते हैं कि परम्परा, प्रथा की तरह कोई अवलोकित तथ्य नहीं है बल्कि इस के साथ सही या गलत का बोध भी चलता है। किसी परम्परा को इसलिए माना जाता है कि उसके मानने वाले उसे सही मानते हैं। किसी परम्परा का अनुसरण करने वाले समान सांस्कृतिक/सामूहिक चेतना का अनुभव भी करते हैं।

लघु समुदाय (Little Community): लघु समुदाय की संकल्पना रेडफील्ड का एक महत्वपूर्ण योगदान है। उनके अनुसार लघु समुदाय व्यक्तियों का वह छोटा समूह है जिनके साथ-साथ रहने के कारण सामुदायिक जीवन की सारी विशेषतायें पायी जाती हैं। रेडफील्ड के अनुसार लघु समुदाय एक प्रकार की मानवीय समग्रता (human whole) है और यही मानवीय समग्रता सम्पूर्ण इतिहास में मानव जीवन का सबसे प्रमुख व प्रधान स्वरूप रहा है। मानवशास्त्र ने अपने जीवनकाल के सौ से अधिक वर्षों में क्षेत्रकार्य के द्वारा इसी प्रकार के समुदाय का सबसे अधिक अध्ययन किया है। रेडफील्ड ने अपनी पुस्तक 'Little Community' (1955) में लघु समुदाय के कुछ विशिष्ट लक्षणों का वर्णन किया है। उनके अनुसार विशिष्टता लघु (distinctiveness) समुदाय का आधार है।

यह विशिष्टता समान संस्कृति व सामूहिक चेतना में व्यक्त होती है। इस विशिष्टता के कारण एक लघु समुदाय के सदस्यों को यह मालूम होता है

कि कौन-कौन उसके अपने समूह के हैं और कौन बाहरी। जनसंख्या के आधार पर लघु समुदायों का आकर छोटा होता है। यदि किसी लघु समुदाय की जनसंख्या इतनी बढ़ जाये कि उस के सभी सदस्य एक दूसरे को न पहचान सकें और निजी अंत:सम्बन्ध कठिन हो जायें तो वह अपने शास्त्रीय रूप में लघु समुदाय नहीं रहेगा। लघु समुदायों की एक प्रमुख विशेषता उसकी समजातीयता (homogeneity) है। उनके सदस्यों में भाषा, वेशभूषा, खान-पान, जीवन शैली व विश्वदृष्टि (World view) के मामले में बहुत समानता पाई जाती है और चूँकि इनके सदस्यों में सांस्कृतिक अनुसरण करने का मजबूत रूझान होता है, शायद यही कारण है कि एक पीढ़ी का सांस्कृतिक प्रारूप व व्यवहार लगभग अपने से पहले वाली पीढ़ी जैसा ही होता है। इससे सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों की सम्भावना काफी निर्बल रहती है और इसीलिए सांस्कृतिक समजातीयता (cultural homogeneity) बनी रहती है। चूँकि अधिकतर लघु समुदाय सापेक्षिक अलगाव (relative isolation) की हालत में रहते हैं; इसलिए इनकी अर्थव्यवस्था का स्वावलम्बी होना आवश्यक है। बहुत से मानवशास्त्रियों ने रेडफील्ड के इस उपागम का उपयोग लोक व जनजातीय समुदायों के अध्ययन में किया है।

भारतीय संदर्भ में अगणित देवता, पर्व-त्यौहार, कर्मकाण्ड, साहित्य, नृत्य-संगीत आदि जिनका आदि स्रोत मुख्यत: महाभारत, गीता, रामायण, उपनिषद् आदि धार्मिक गौरव ग्रन्थ हैं, वृहत परम्पराओं पर आधारित हैं। लोक-साहित्य, धार्मिक व जादू-टोने के काम, रीति-रिवाज और उनसे सम्बन्धित कर्मकाण्ड जिनके संदर्भ धार्मिक गौरव ग्रन्थों में नहीं मिलते और जो मुँह-जबानी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते हैं, लघु परम्पराओं में गिने जाते हैं। सरस्वती (1975) ने वृहत परम्पराओं को 'शास्त्रीय परम्परायें' कहकर पुकारना पसन्द किया है जो भारतीय संदर्भ में एक उपयुक्त नाम लगता है। समकालीन भारतीय समाज में इस्लामी व ईसाई परम्पराएं वृहत समुदायों की परम्पराओं के दायरे में आती हैं।

सभ्यता या परम्पराओं की संरचना दो धरातलों से विकसित है: ऋजुजननीय (orthogenetic) और विषमोद्रवी (heterogenetic)।

सभ्यता
(परम्पराओं की संरचना)

ऋजुजननीय
(देशी उत्कर्ष)

विषमोद्रवी
(दूसरी संस्कृतियों व सभ्यताओं से सम्पर्क)

परिवर्तन

इस प्रकार यह माना जाता है कि सभी सभ्यतायें संगठन की प्राथमिक या ऋजुजनीय (orthogenetic) अवस्था से शुरू होती हैं और एक अवधि विशेष के बाद न केवल अपने भीतरी विकास के, वरन् दूसरी सभ्यताओं के संपर्क के द्वारा (जो ज्यादा महत्वपूर्ण है और जिसे विषमोद्रवी प्रक्रिया कहते हैं) विविधता को प्राप्त होती हैं। इस परिवर्तन की दिशा अनुमानत: लोक या ग्रामीण अवस्था से शहरों के सांस्कृतिक ढाँचे और सामाजिक संगठन की ओर होती है। आम तौर पर शहर के अभिजात्य लोग अपनी परम्पराओं को 'विश्वास' और लघु परम्पराओं को 'अन्धविश्वास' मानते हैं। रेडफील्ड की एक मान्यता यह भी है कि विश्व के दृष्टिकोण में भारत की लघु परम्परायें बहुदेववादी, जादू-टोने की ओर उन्मुख और अदार्शनिक हैं। वृहत और लघु परम्पराओं के बीच अन्तर के कुछ बिन्दुओं को नीचे दिया गया है:

वृहत परम्परायें	**लघु परम्परायें**
☐ आमतौर से मूल धार्मिक ग्रन्थों में उल्लेखित है	☐ अधिकांशत: मौखिक और केवल विश्वास के रूप में जिनका अनुमान किया जाता है, तर्क बुद्धि के आधार पर नहीं।
☐ बहुत व्यापक परिक्षेत्र, प्रकृति में आमतौर से राष्ट्रव्यापी	☐ अधिकांशत: स्थानीय

❑ शहरी वर्ग के कुछ थोड़े से श्रेष्ठ, विचारशील और सोचने वालों से संबन्धित।	❑ ग्रामीण, निरक्षर कृषक समुदायों के लोगों से सम्बन्धित
❑ आमतौर से संगठित और अलौकिक व धार्मिक पूजा या कर्मकाण्ड बहुत स्पष्ट और संशय मुक्त	❑ असंगठित, अव्यवस्थित और संदिग्ध
❑ शास्त्र व पुस्तकों के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सम्प्रेषित।	❑ मौखिक साहित्य द्वारा जबानी सम्प्रेषित
❑ श्रेष्ठ परम्परा (elite tradition)	❑ लोक परम्परा (folk tradition)

भारत में हमें वृहत परम्पराओं के विकास और उसके बाद उनके शाश्वतीकरण की बहुत दिलचस्प और महत्वपूर्ण मिसालें मिलती हैं। उदाहरणार्थ, रामायण मूलतः ऋषि वाल्मीकि ने संस्कृत में लिखी थी बाद में संत तुलसीदास ने हिन्दी की एक उत्तर-भारतीय बोली में उसकी पुनर्रचना की जो रमते जोगियों, गवैयों और भिक्षुकों द्वारा चारों ओर फैली तथा अन्य भाषाओं और बोलियों में अनूदित की गयी परन्तु हम देखते हैं कि उसके क्षेत्रीय रूपांतर में विशेष रूप से रामलीला के मंचन में, बीच-बीच में तुलसीदास द्वारा लिखित रामायण की भाषा के कुछ अंशों को प्रयोग होता है। वृहत परम्पराओं का लघु परम्पराओं की ओर तथा लघु परम्पराओं का वृहत परम्पराओं की ओर प्रवाह भारतीय सभ्यता की एक जानी-मानी प्रक्रिया है। फिर भी, यह सत्य है कि वृहत से लघु की ओर प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक तेज है।

वृहत से लघु की ओर
(अधिक)

लघु से वृहत की ओर
(कम)

आदान-प्रदान में गहरी असमानता के बावजूद जो तत्व लोक या 'ग्रामीण' कहलाते हैं उनके शहर के श्रेष्ठ व अभिजात्य लोगों की दिलचस्पी महत्वहीन नहीं है। ग्रामीण पोशाकों के ढंग, लोकगीतों और लोकमंच (नौटंकी आदि) की लोकप्रियता, तन्त्र एवं टोने-टोटके के काम, जैसे नवनिर्मित मकानों में

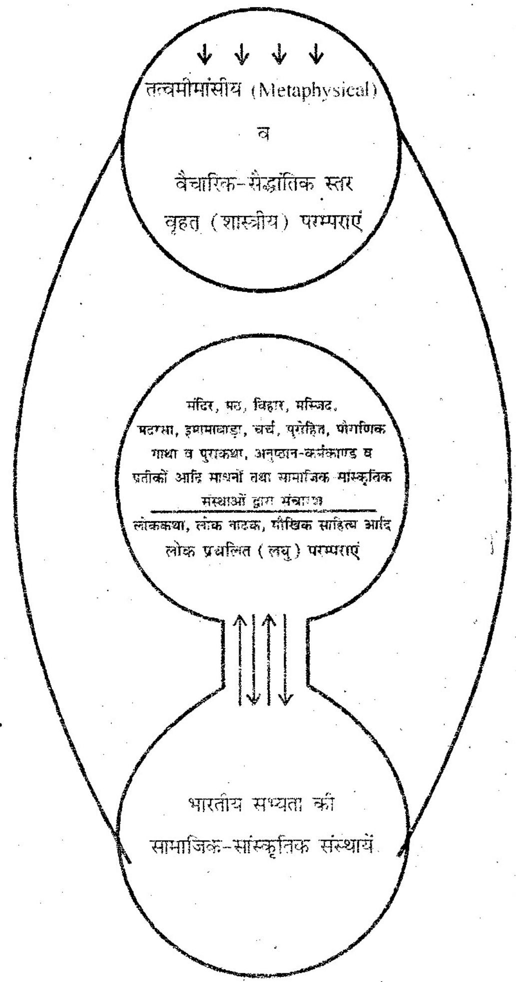
बाहर की ओर भूत बाधा भगाने के लिए उल्टी हांडिया लटकाना जिनके तल में विकराल चित्र बने होते हैं, आदि उदाहरण लघु परम्पराओं की ओर प्रवाह के परिचायक हैं। अनेक आलोचकों ने ये विचार व्यक्त किया है कि वृहत् और लघु परम्पराओं के बीच कोई स्पष्ट सीमा रेखा खींचना कठिन है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वे आपस में इतनी घुली-मिली हैं कि उनमें से किसी का भी अलग से अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं है।

मैण्डेलबॉम भारतीय परम्परा में भागीदारी के स्वभाव के बारे में बोलते हुए बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हैं:

''वृहत् परम्परा अनिवार्यतया एक सुविधाजनक परिकल्पना है। इसके विशुद्ध साहित्यिक रूप में इसका अनुकरण एवं अनुपालन न तो गावों में किया जाता है और न ही शहरी लोगों के द्वारा किया जाता है। ऐसे साहित्य व ग्रन्थ सामग्री का विशाल भण्डार मौजूद है जिससे इस बात की आधिकारिक सूचना देने के लिए कि अमुक विशिष्ट अवधि में या विशिष्ट समूह के बीच अमुक चीजें विद्यमान थीं, तत्व चुने जा सकते हैं''।

मैण्डेलबॉम के विचार के सम्पूरक रूप में एस.सी. दूबे एक महत्वपूर्ण बात उठाते हैं: ''वृहत् परम्परा की इतनी जड़ परिभाषा देना क्या उचित है, ऐसी स्थिति में जबकि रेडफील्ड द्वारा परम्पराओं को सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है?'' दोनों परम्पराओं के बीच परस्पर परिवर्तन की प्रक्रिया सतत चलने वाली और प्रभावशाली होती है। रेडफील्ड के अनुसार ''वृहत् परम्परा सदा परिवर्तनशील, प्रसरणशील, नवीन तत्वग्राही और प्राचीनता का त्याग करने वाली होती है।'' किन्तु तब यह उन पुस्तकों के संदर्भ में कैसे कहा जा सकता है जो सैकड़ों-हजारों वर्ष की अवधि पार कर चुकी हैं? रेडफील्ड वृहत् परम्परा की ऐसी विशिष्ट परिभाषा के सम्बन्ध में स्वयं स्पष्टरूपेण कठिनाई की अनुभूति करते हैं। यही कारण है कि वे इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट कथन नहीं करते कि वृहत् परम्परा को स्थापित करने में किस प्रकार की चीजों को सहायक माना जाना चाहिए। बल्कि वह वृहत् परम्परा के सम्बन्ध में सामान्यीकृत (generalised) एवं अमूर्त अभिकथन (abstract terms) करना अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु यदि कोई इन अवधारणाओं का प्रयोग किसी प्रकार की वैज्ञानिक सत्यता के साथ तथ्यों के विश्लेषण में

करता है तो उसे इन अवधारणाओं का विशद अर्थ जानने की आवश्यकता है और इस अवधारणा की मुख्य कमी यही है।



भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक प्रक्रिया में लघु तथा वृहत् परम्पराएं

एस.सी. दूबे का मत है कि भारत में परम्परा का ढाँचा द्विध्रुवीय न होकर बहुध्रुवीय है। उनकी योजना के अनुसार इसे निम्नलिखित छः वर्गों में बांटा जा सकता है:

1. शास्त्रीय परम्परायें
2. उभरती हुई राष्ट्रीय परम्परायें
3. क्षेत्रीय परम्परायें
4. पाश्चात्य परम्परायें
5. छोटे समूहों की स्थानीय परम्परायें
6. उप-सांस्कृतिक परम्परायें।

योगेन्द्र सिंह की यह टिप्पणी सही है कि परम्परा के अनेक स्तर नि:संदेह सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन की विस्तृत सम्भावनाएं प्रस्तुत करते हैं किन्तु जिस सिद्धान्त पर उनका वर्गीकरण किया गया वह अपने आप में तदर्थ है और परम्पराओं या सांस्कृतिक पैटर्नों में बहु-वर्गीकरण की दिशा में किये गये कुछ अन्य प्रयास भी इसी प्रकार की सीमाओं से युक्त हैं।

एक अन्य पहलू से देखा जाए तो यह भी कहा जा सकता है कि लघु व वृहत परम्पराओं का अध्ययन वास्तव में अनपढ़ जनसाधारण के अमानवीयकरण और उन लोगों के गुणगान व महिमागान को प्रोत्साहित करता है जिनकी पहुँच आसानी से शास्त्रीय परम्पराओं व साहित्य में थी। इस प्रकार समाज के विशेषाधिकृत तथा गैर-विशेषाधिकृत वर्गों के बीच सामाजिक अंत:क्रिया इतनी सरल नहीं है जितनी हम लघु व वृहत परम्पराओं के बीच घटते हुए देखते हैं।

अधिकांशतया विभिन्न प्रकार की परम्पराओं के माध्यम से सांस्कृतिक सातत्य को बनाए रखना भारतीय सभ्यता में सांस्कृतिक प्रक्रिया पर एक अधिकृत छाप है। लाखों हिन्दू जो सूफी-सन्तों की मजारों पर सिर झुकाते हैं और पूजा करते हैं, वे अपने 'हिन्दुत्व' को त्यागते नहीं हैं। मजारों की पूजा से उनके हिन्दुत्व पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार हमारे महान् शास्त्रीय संगीत में बहुत से मुस्लिम संगीतकारों, गायकों व वादकों की विद्यमानता हमारी सभ्यता में सातत्य का एक अच्छा उदाहरण है। इस्लाम की रूढिवादी व्याख्या के अन्तर्गत संगीत अत्यन्त घृणास्पद वस्तु है किन्तु यह

आश्चर्यजनक एवं आह्लादकारी तथ्य है कि शास्त्रीय संगीत के सैंकड़ों अत्यन्त धार्मिक मुसलमान संगीतकार सरस्वती आराधना करते हैं। इसी प्रकार जादू-टोना और दवा के क्षेत्र में भी दोनों समान रूप से विद्यमान हैं। जादूगरी या जादुई-धार्मिक विकास लघु परम्पराओं के भाग हैं, जबकि औपचारिक दवा या औषधिशास्त्र आयुर्वेद या आधुनिक एलोपैथी की भांति पुस्तकीय चीज है और वृहत परम्पराओं में शामिल की जाती है। यहाँ तक कि उच्चस्तरीय आधुनिकीकृत परिवारों में भी जब दवा असफल हो जाती है तो तन्त्र-मन्त्र जादू या धर्म का सहारा लिया जाता है। कुछ लोगों द्वारा विभिन्न समय में विभिन्न स्थितियों से निपटने के लिए इनका वैकल्पिक सहारा भी लिया जाता है। नगरीय जगत की वृहत परम्पराओं ने गांवों की लघु परम्पराओं को स्थानच्युत (समाप्त) नहीं किया है, ''दोनों के बीच की अंतःक्रिया ने एक प्रकार के दिलचस्प संलय व सम्मिश्रण (fusion) को जन्म दिया है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और परम्परागत स्वरूप अनिवार्य रूप से एक-दूसरे से नहीं टकराते हैं'' (सच्चिदानन्द, 1976)।

◆◆◆

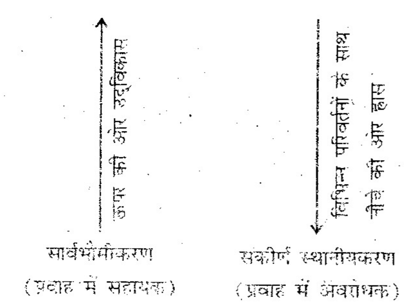
15

सार्वभौमीकरण व संकीर्ण स्थानीयकरण

रेडफील्ड के अनुगामी मैक्किम मैरिअट ने भारत में, विशेष रूप से उत्तर प्रदेश क किशनगढ़ी गांव में, कुछ महत्वपूर्ण अध्ययन किये थे। उन्होंने लघु और वृहत परम्पराओं के बीच परस्पर प्रभावित करने वाली प्रक्रिया को भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उन धारणाओं का इस्तेमाल किया जो रेडफील्ड ने प्रयुक्त की थीं। उन्होंने पाया कि लघु और वृहत परम्पराओं के सांस्कृतिक तत्वों के बीच अन्त:क्रिया निरन्तर चलती रहती है। मैरिअट की पहुंच ऐतिहासिक और सांस्कृतिक है और उन्होंने ग्रामीण समुदायों के ढाँचे का अध्ययन भी इसी दृष्टि से किया है।

रेडफील्ड के अनुसार सार्वभौमीकरण वृहत परम्पराओं की तथा संकीर्ण स्थानीयकरण लघु परम्परा की प्रक्रियाएं मानी जा सकती हैं। सार्वभौमीकरण की धारणा का तात्पर्य है कि जो कुछ सामग्री लघु परम्परा में विद्यमान है उसे आगे ले जाना है-दूसरे शब्दों में वृहत परम्पराओं का अंग बनने के लिए लघु परम्परा की ऊपर की ओर यात्रा। जबकि संकीर्ण स्थानीयकरण का आशय है बड़े परम्परागत तत्वों का विभिन्न परिवर्तनों के साथ जातिगत ह्रास होकर छोटे परम्परागत तत्वों के साथ समन्वित हो जाना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परम्परागत लघु और वृहत तत्वों के बीच अन्योन्याश्रित क्रिया अथवा परस्पर प्रभावित करने की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।



जब वृहत परम्परा के तत्व अपने को चिरस्थायी बनाने के लिए नीचे की ओर जाते हैं और लघु परम्पराओं के तत्वों से मिलते हैं तो वे अपने को संकीर्ण बना लेते हैं। इससे पता चलता है कि सीमित प्रभाव-क्षेत्र के कारण स्थानीय ग्रामीण अथवा लोक परम्पराओं में काफी सांस्कृतिक पुनरूत्थान क्षमता होती है क्योंकि वे स्तम्भित या पूर्णतः लुप्त होने के बजाय वृहत परम्पराओं से जुड़ जाती हैं और उनका स्वरूप और अंतर्तत्व बदल जाता है। घुल-मिल जाने का यह एक रोचक ढंग है।

यह भी कहा जा सकता है कि संकीर्ण स्थानीयकरण में तर्कशक्ति या गहन विचार करने को अधिक महत्व नहीं दिया जाता। इसलिए उसकी तर्कसंगत ढंग से व्याख्या भी नहीं की जा सकती है। ऐसे बहुत से परम्परागत तत्व हैं जो तर्क और ज्ञान की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते, फिर भी वे लगातार पीढ़ी दर पीढ़ी माने जाते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि संकीर्ण स्थानीयकरण की प्रक्रिया के माध्यम से एक छोटे समूह के विचारों, अनुभवों और अकीदों को महत्व दिया जाता है। वृहद परम्परागत, सांस्कृतिक रूपों के घुलने-मिलने या विरूपीकरण के परिणामस्वरूप संकीर्ण स्थानीयकरण में परम्पराओं का मूल स्वरूप बदल जाता है। जहाँ तक इसके संरचना पक्ष का सम्बन्ध है इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि परम्पराएं बनाम संकीर्ण स्थानीयकरण के मामले में संगठन अपेक्षाकृत कम है।

अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए मैरिअट अपने किशनगढ़ी के क्षेत्रकार्य के कुछ उदाहरण पेश करते हैं। 'गोवर्धन' और 'नौरथ पूजा' का हवाला देकर वह दो वृहद परम्पराओं के संकीर्ण स्थानीयकरण की मिसालें पेश करते हैं।

किशनगढ़ी में और उसके चारों ओर की ग्रामीण जनता में गोवर्धन की पूजा की प्रथा बहुत प्रचलित है जिसमें गोबर का टीला बनाकर उसे अनाज की बालियों से सजाया जाता है और फिर पूजा की जाती है। मैरिअट का कहना है कि यह गोवर्धन पूजा वस्तुतः गो-संवर्धन को प्रोत्साहित करने वाले श्री कृष्ण की पूजा का संकीर्ण स्थानीय रूप है। किशनगढ़ी से लगभग 40 किलोमीटर पर गोवर्धन पहाड़ी है। यह पहाड़ी एक पौराणिक कथा से जुड़ी है जिसमें बताया गया है कि भगवान कृष्ण ने इन्द्र के प्रकोप (तेज बारिश) से अपने अनुगामियों को बचाने के लिए गोवर्धन को ऊपर उठा लिया था

और उसके नीचे उन सबको शरण दी थी। इससे यह प्रदर्शित होता है कि एक वृहद परम्परा का पौराणिक आधार लगभग 40 किलोमीटर की यात्रा में ही संकीर्ण स्थानीयकरण की प्रक्रिया में बदल गया और गोवर्धन पूजा की महान परम्परा अनेक तत्वों से जूझती हुई किशनगढ़ी पहुंची तो वह संकीर्ण या स्थानीय हो गयी। यही बात 'नौरात' में देवी पूजा के बारे में कही जा सकती है। नवरात्रि का पर्व देश भर में काफी प्रचलित है। उसमें दशहरे से पहले महादुर्गा, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि नौ दुर्गाओं की पूजा की जाती है, किन्तु थोड़े अन्तर के साथ। यहां नौरात में एक स्थानीय और छोटी देवी की पूजा होती है। इस देवी का कोई उल्लेख हिन्दुओं के किसी भी धर्म ग्रंथ में नहीं है। स्पष्ट है कि यह भी एक वृहत परम्परा के संकीर्ण स्थानीयकरण का उदाहरण है।

सार्वभौमीकरण की धारणा का प्रथम प्रयोग रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर ने किया था। मैरिअट ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए इसका प्रयोग वृहद परम्पराओं और लघु परम्पराओं के बीच की अन्योन्याश्रित क्रिया अर्थात् उनकी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करने की प्रक्रिया तथा उनके परस्पर सम्बन्धों का विश्लेषण करने में वृहद रूप से किया। संस्कृति में फैलने और व्याप्त होने का गुण होता है। जब एक स्थानीय या लघु परम्परा ऊपर उठते हुए (अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक क्षेत्र में विस्तृत होती हुई) वृहद परम्पराओं को प्रभावित करती है और कालान्तर में मान्यता प्राप्त करके वृहद परम्पराओं की धार्मिक पुस्तकों व उनके गौरव ग्रंथों में स्थान पा लेती है तो विस्तार पाने और व्याप्त होने की इस प्रक्रिया में स्थानीय सांस्कृतिक स्वरूप अथवा परम्परागत तत्व को व्यापक मान्यता प्राप्त होती है और इस तरह उसका सार्वभौमीकरण हो जाता है। लघु परम्पराओं का यह बड़ा विस्तार है। किशनगढ़ी में सौरति-देवी की उपासना और सलूनों के पर्व का उदाहरण देकर मैक्किम मैरिअट ने स्थानीय सांस्कृतिक तत्वों के सार्वभौमीकरण को प्रदर्शित किया है। उनके अनुसार देश के बहुत से भागों में मनाये जाने वाले बहुत ही लोकप्रिय त्योहार दीवाली पर लक्ष्मी की पूजा सौरति जैसी देवियों की पूजा की लघु परम्परा का सार्वभौमीकरण मात्र है। दीवाली पर किशनगढ़ी के लोग दीवार पर चावल के आटे से सौरति देवी का चित्र बनाकर अपने स्वास्थ्य व समृद्धि के लिए पूजा करते हैं। इनका कहना है कि इस तरह के उपासना

विधान हिन्दुओं की वृहद परम्पराओं में नहीं जन्मे हैं परन्तु दीवाली पर सौरति की पूजा जैसी लघु परम्पराएँ ऊपर की ओर बढ़ीं, उन्हें मान्यता प्राप्त हुई, और बड़ी परम्पराओं की पुस्तकों या गौरव ग्रन्थों में उन्होंने स्थान पाया और इस प्रकार वे कालांतर में उनका अंग बन गयीं। लक्ष्मी पूजा की भाँति ही रक्षा बंधन का पर्व भी बुनियादी रूप से लघु परम्पराओं में जन्मा है। रक्षा बन्धन के दिन बहनें अपनी सुरक्षा और कल्याण के लिए भाइयों की कलाई पर राखी बाँधती हैं। इसी से मिलता-जुलता किशनगढ़ी का पर्व सलूनों तथा देश के अन्य भागों में प्रचलित लघु परम्पराओं के ऐसे ही अनेक पर्व रक्षा बन्धन पर्व के रूप में सार्वभौमीकृत हुए हैं। किशनगढ़ी में विवाहित स्त्रियाँ सलूनों के दिन अपने अविवाहित भाई-बहनों के मस्तक पर तिलक लगाती हैं। बदले में भाई उन्हें धन या उपहार देते हैं; इसी प्रकार इसी दिन ब्राह्मण पुरोहित अपने यजमानों की कलाई में राखी बांधते हैं और बदले में दक्षिणा आदि प्राप्त करते हैं। मैरिअट का विचार है कि रक्षा बन्धन का पर्व सलूनों जैसे पर्वों के सार्वभौमीकरण का परिणाम है।

सदियों लम्बी अवधि में व्याप्त घटनाओं व विचारधाराओं के विकास की वह प्रक्रिया जो उन्हें एक या दूसरी परम्परा को सौंपती है, जटिल है। इन सांस्कृतिक विचारधाराओं के मूल स्रोतों को खोजने सम्बन्धी असमर्थता के कारण यह विवाद है। सामाजिक इतिहास के साथ-साथ इस क्षेत्र का विशिष्ट ऐतिहासिक ज्ञान ही बहुत से कर्मकाण्डों व विश्वासों के आरम्भिक बिन्दु की सूचना देने में कुछ सहायक सिद्ध हो सकता है किन्तु इससे सभी के मूल स्रोतों का ज्ञान नहीं हो सकेगा और प्राय: यह असम्भव है, विशेषरूप से उस स्थिति में जबकि अर्धशिक्षित या प्राक्साक्षर उपसमूहों के बारे में अध्ययन किया जा रहा हो।

योगेन्द्र सिंह (1977) अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि तुलनात्मक रूप से सार्वभौमीकरण और संकीर्ण स्थानीयकरण की धारणाएं सांस्कृतीकरण में निहित सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के लक्षण भी बताती हैं, विशेषतया सार्वभौमीकरण इस धारणा के अति निकट है। इसके बावजूद मैरिअट का योगदान अपने क्रियाक्षेत्र के मामले में बहुत सीमित है, विशेषतया इसलिये कि वह सांस्कृतिक परिवर्तन की केवल ऋजुजननीय (Orthogenetic) प्रक्रिया पर ही प्रकाश डालता है।

◆◆◆

200

16

भारतीय समाज पर बौद्ध, जैन, इस्लाम व ईसाई मतों का प्रभाव

विश्व समुदाय में भारत का बड़ा अनूठा स्थान है। यह दुनिया के सभी बड़े धर्मों की विचारधाराओं को मानने वालों का घर है; उदाहरणार्थ, हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, जूड़ावादी, इस्लामी और जुरूतुस्ती। इन सभी धार्मिक विचारधाराओं ने किसी न किसी सीमा तक भारतीय समाज को प्रभावित किया है। यह लेख केवल जैन, बौद्ध, इस्लाम और ईसाई विचारधारा के प्रभाव तक सीमित रखा गया है। इस्लाम के प्रभाव की चर्चा किंचित विस्तार से की गई है क्योंकि उसका भारतीय समाज के जीवन पर गहन और विस्तृत प्रभाव पड़ा है।

जैन और बौद्ध धर्म

आमतौर पर विश्वास किया जाता है कि जैन और बौद्ध विचारधाराएं प्राचीन हिन्दुत्व की प्रशाखाएं हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन मत बौद्धों की तुलना में थोड़ा पुराना है क्योंकि जैन मत के प्रवर्तक महावीर समकालीन होते हुए भी गौतम बुद्ध से बड़े थे। महावीर का काल 599-527 ई.पू. माना जाता है जबकि गौतम बुद्ध का काल 560-480 ई.पू. बताया जाता है।

भारतीय समाज पर अपने प्रभाव के किसी भी उल्लेख में जैन मत के नैतिक एवं आचरण सम्बधी आदर्शवाद का केन्द्रीय स्थान होता है। उसने नैतिक गुणों और आचार व्यवहार के जीवन को सुदृढ़ करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया है। जैन मत ने मितोपभोग और जीवन की सहजता-बाह्य एवं आंतरिक-पर विशेष रूप से बल दिया है जिससे पाप और बुराई का अंत:प्रवाह रुक जाए। बाह्य मितोपभोग में भिक्षा, उपवास आदि शामिल हैं। अंधविश्वास या जड़ोपासना का अभाव है जबकि मानवता की विनम्र सेवा, ज्ञानार्जन, ध्यान आदि अनेक मूल्यों पर भी बल दिया गया है। गूढ़ और

जटिल विचारों के बजाय जैन मत में आम जनता के लिए सरल नैतिक संहिता की व्यवस्था है। जैन धर्म में प्रमुखत: पांच सिद्धांतों का अनुपालन आवश्यक माना गया है। वे सिद्धान्त हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जैन शब्दावली में इन पांचों भौतिक मूल्यों का पालन ही साधुता और सदाचार है। इसे अणुव्रत की संज्ञा दी गई है। अहिंसा का स्थान सर्वप्रमुख है। यह मानव समाज के प्रति ही नहीं सभी जीवों के लिए दया का भाव रखने की शिक्षा देता है। इससे विशुद्ध शाकाहारी मनोवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। ''श्रावक्त'' (साधारण अनुयायी) और ''यती'' (वैरागी, संन्यासी) दोनों कुछ विशेष प्रकार के नियमों अथवा संकल्पों से बंधे रहते हैं जिनमें से प्रमुख हैं : मानसिक अवस्था को शुद्ध व सही रखना, नियमित ध्यान, चन्द्रमा की वृद्धि और उसके क्षय की अवधि में अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास रखना, पाप कर्मों को स्वयं स्वीकार करना और उनका पश्चाताप करना आदि। जैन धर्म में नशा करना निषिद्ध है।

जनसेवा के क्षेत्र में धर्मशालाओं का निर्माण और ललित कलाओं के क्षेत्र में शिलाओं को काटकर उनके द्वारा बनाई या बनवायी गयी वास्तुकला, मन्दिर निर्माण और चित्रकला एक अनुपम देन है। कट्टरता जैसी कुछ बातों के कारण जैन मत को ब्राह्मणवाद के प्रति आकर्षित माना जाता है। मिशनरी की भावना से मुक्त होने तथा अन्य धर्मों के प्रति प्रतियोगिता की भावना न रखने के कारण जैन मत आज भी भारतीय समाज में फल-फूल रहा है। यह बात अलग है कि दूसरी अनेक धार्मिक विचारधाराओं की भांति उसमें भी अनेक विकृतियां आ गयी हैं।

गौतम बुद्ध महावीर के समकालीन थे किन्तु धर्म के क्षेत्र में वह थोड़ा बाद में उतरे। उनका प्रारम्भिक नाम सिद्धार्थ था। बचपन से ही उनका दृष्टिकोण मानवीय और आध्यात्मिक था। बौद्ध नामक जिस धार्मिक आन्दोलन का उन्होंने प्रवर्तन किया उससे कट्टर ब्राह्मणवाद को गहरा धक्का लगा। भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों के निर्माण में बौद्ध मत का व्यापक योगदान है। देश के सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों पर उसके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। बौद्ध धर्म एक लोकप्रिय धर्म के रूप में विकसित हुआ। उसमें किसी प्रकार का जटिल, विस्तृत अथवा आम जनता की समझ में न आ सकने वाला कर्मकाण्ड नहीं था। इसीलिए उसमें किसी

प्रकार के पुरोहित वर्ग की आवश्यकता भी न थी। उसके सार्वजनिक रूप से विस्तार पाने का एक कारण यह भी था। बौद्ध मत की नैतिक संहिता सापेक्षतया सरल है। वह दान, दया, विशुद्धता, सच्चाई, आत्म-निग्रह और मनोवेगों के नियंत्रण पर आधारित है। उसमें, प्रेम, समानता और अहिंसा को सर्वोपरि माना गया है। यह सही है कि इस सब गुणों पर बौद्ध मत के पहले उपनिषदों में भी जोर डाला गया था किन्तु उनके आधार पर सार्वजनिक नैतिकता को उन ऊंचाइयों तक पहुंचाने का श्रेय बौद्ध विचारधारा को ही है जितनी पहले कभी भी देखी नहीं गयी। वे बौद्ध धर्म के अनुगामियों के लिए आस्था के स्तम्भ बन गये। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि बौद्ध मत ने इस मान्यता पर बल दिया कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है, कोई अन्य ईश्वर नहीं। बौद्ध मत में काफी वैयक्तिकता है और वह ईश्वर सम्बन्धी किसी भी विस्तृत अवधारणा से शून्य है।

बौद्ध मत यद्यपि ब्राह्मणवाद को उसके ऊंचे सिंहासन से उतार नहीं सका फिर भी उसने उसे करारा झटका अवश्य दिया। उसने भारतीय समाज में संस्थागत परिवर्तन करने की प्रेरणा भी दी। जाति प्रथा और उससे पैदा होने वाली बुराइयों को अस्वीकार किया, पशुबलि पर आधारित हिंसक कर्मकाण्डों को रद्द किया, तीर्थ यात्राओं, उपवास, अनुदारता और पुराणपन्थी बातों का तिरस्कार किया। सभी लोगों की समानता का उपदेश दिया। बौद्धों की धर्म-पद्धति में देवी-देवताओं, भाग्यवाद-पुनर्जन्म और ग्रहों-नक्षत्रों के प्रभाव आदि पर विश्वास नहीं किया जाता। उसके अनुसार मानव मात्र की समानता, स्त्री-पुरुषों की समानता, सभी जीवों का संरक्षण, सबका कल्याण जैसे सिद्धान्तों ने सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में बांधा और वह सूत्र था सामाजिक समानता और सामाजिक न्याय को प्रोत्साहन देने का। इसी सूत्र की बदौलत बौद्ध धर्म भारत की सीमाओं के बाहर जा सका और कालांतर में विश्व-धर्म बन सका। बौद्ध विचारधारा का प्रभाव हमारे देश की विदेश नीति पर भी देखा जा सकता है। पंचशील और किसी गुट में शामिल न होना, राष्ट्रीय एकता, पारस्परिक सहयोग, शांति के लिये प्रयास, महात्मा गांधी की अहिंसा की नीति, दुर्बल तबकों का उत्थान, अनुसूचित जातियों, दलितों और जनजाति समुदायों का कल्याण आदि बौद्ध धर्म से ही प्रेरणा लेकर आगे बढ़े। चूंकि बौद्ध धर्म में अज्ञान को सभी प्रकार के कष्टों का

मूल माना जाता है इसीलिए उसने ज्ञान प्राप्त करने पर सबसे ज्यादा जोर दिया है। लोकतंत्र और लोकतंत्रीय मूल्यों के प्रोत्साहन भी भारतीय समाज को बौद्ध धर्म की देन है। बौद्ध धर्म के संघों और मठों ने लोकतंत्रीय भावनाओं को प्रचारित किया। समय के साथ अनेक हिन्दू मठों और संस्थानों ने उसके प्रभाव को महूसस किया।

शिक्षा के क्षेत्र में बौद्धों ने शिक्षा को व्यावहारिक और काम करने की प्रेरणा देने वाली (Action Oriented) बनाया तथा उसने समाज कल्याण की ओर उन्मुख किया। भारत के ज्यादातर विश्वविद्यालय- जैसे, नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमपुर, विक्रमशिला, सोमपुरी और अन्य-बौद्धों की देन थे। बौद्धों की ज्ञान अर्जित करने की पिपासा ने भारत में अनेक प्रथम कोटि के विद्वान पैदा किये, जैसे दिग्नाग, अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्रा, चरक, मातृचेत, धर्मजात आदि। बौद्धों ने देशी भाषाओं को लोकप्रिय बनाकर देश की विभिन्न भाषाओं और बोलियों को समुचित सम्मान प्रदान किया। इसमें भी संदेह नहीं कि बौद्ध मत के प्रभाव से ही भारत में महान मानववादी और लोकोपकारी भावनाओं का प्रचलन हुआ है।

इस्लाम

भारत में इस्लाम का आगमन लगभग सातवीं शताब्दी में अर्थात् अरब में एक बड़े धर्म के रूप में अपने उदय के लगभग तुरन्त बाद ही हुआ। इस्लाम शब्द की व्युत्पत्ति जिस मूल शब्द से हुई है, उसका अर्थ है ''शांति''। इसलिए सच्चा मुसलमान वही माना जा सकता है जो अपने आपको ''अल्लाह'' के सुपुर्द कर दे, उसके हुक्मों का पालन करे और अपने साथी निवासियों के साथ शान्तिपूर्वक जिन्दगी बसर करे। इस्लाम के उदय ने अरब की दुनिया में क्रान्ति कर दी और उन सभी क्षेत्रों और राज्य सीमाओं में जहां उसने प्रवेश किया, उसने अपना प्रभाव डाला। इस्लाम की सामाजिक-ऐतिहासिक भूमिका के बारे में हरबन्स मुखिया (1969) ने यह सही टिप्पणी की है, जब बहुधर्मी अरब में मुहम्मद एक ईश्वर होने का उपदेश देते हुए यह समझा रहे थे कि अल्लाह के अलावा कोई दूसरा ईश्वर नहीं है तो सही अर्थों में वह एक महान सामाजिक क्रान्ति का आह्वान कर रहे थे क्योंकि ''एक ईश्वर की अवधारणा का अर्थ ही सामाजिक समानता की अवधारणा है। यदि ईश्वर एक है और उसी ने सबको पैदा किया तब

हर कोई उसकी गुण विशेषता की दृष्टि में एक समान है ठीक उसी प्रकार जैसे एक बाप की दृष्टि में उसकी संतानें होती हैं।'' इसलिए हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के समान है। मुस्लिम भाईचारे (मिल्लत) की अवधारणा भी इसी मूल से पैदा हुई। यही नहीं इस्लाम ने न कोई सत्ताधारी वर्ग होने की इजाजत दी और न किसी वर्ग के लिए अनन्य रूप से पुरोहितगिरी करने की सिफारिश की।

भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव मुख्यत: उसकी मानवीय अवधारणाओं के कारण पड़ा है। ये अवधारणाएं हैं- मानव मात्र का भाईचारा, सामाजिक सदाचार में शासकीय सिद्धान्त के रूप में न्याय, जिनके पास कुछ नहीं है उनके लिए उदारता और सदाशयता, पुरोहिताई का परित्याग, नियम-सिद्धान्तों की सादगी, अद्वैतवाद, ईश्वर के ''रहमान'' और ''रहीम'' रूप में अटूट आस्था रखते हुए उसकी करूणा, दया और दीन वात्सलता आदि गुणों को अपनाने पर बल जिससे मानव समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को पूरा किया जा सके। इस्लाम में इसे ''हक्कुलइबाद'' कहा गया है जिसका तात्पर्य है जनता का हक छीना जाना कानून और अल्लाह की निगाहों में पाप है। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक ''इन्फ्लुएन्स ऑव इस्लाम आन इन्डियन कल्चर'' में प्रख्यात इतिहासकार एवं दार्शनिक डा. ताराचन्द ने ''मुसलमान सूफी सिलसिला'' के ''सुलहेकुल'' वाले संदेश पर भी जोर दिया है। इस संदेश में सबके लिए और ''पूर्ण शान्ति'' की बात कही गयी है। ''मुसलमान सूफी संत ने इन बातों को आगे बढ़ाया और वे मानवीय उदारता के लोकप्रिय प्रतीक बन गये थे। उन्होंने विभिन्न समुदायों में भाईचारा रखने, मनुष्य के अधिकारों की रक्षा और मुसलमान शासकों व मुसलमान सामन्तशाही के जुल्मों और अत्याचारों का विरोध करने की शिक्षा दी, उनकी खानकशाहों (मठों) में जाति और धर्म का ख्याल किये बिना सभी दीन, दुखी, उत्पीड़ित, पददलित और बहिष्कृत लोगों को शरण मिलती थी'' (रशीउद्दीन खान, 1987)। इस प्रकार सूफियों ने इस्लाम की मूल प्रवृत्ति के सच्चे प्रतीक बनकर दबे और पिछड़े हुए को संरक्षण प्रदान किया. हालांकि इस्लाम के अनेक कट्टरवादी भाष्यकार सूफीवाद या सूफियों को इस्लाम से बाहर या किनारे रखने का प्रयास करते नजर आते हैं। विडंबना यह है कि सूफी संतों और सूफी विचारधारा ने ही ''मानवतावादी इस्लाम''

को शाश्वता प्रदान की और "साम्राज्यवादी इस्लाम" सुल्तानों की शासकीय दीर्घाओं तक ही सीमित रहा। इस्लाम की सूफी परम्परा ने न केवल उसके धार्मिक विश्वासों और तत्वज्ञान को शाश्वत बनाया वरन् भारत में इस्लाम धर्म के प्रसार के काम में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। संयमशील वैयक्तिक नैतिकता, सांसारिक वस्तुओं की अल्पकालिकता (फना) और रहस्यमय आत्मोसर्ग या "स्व" के परित्याग पर उसमें जो बल दिया गया है वह हिन्दू-परम्परा से मेल खाती थी इसलिए इस्लाम ने बड़े पैमाने पर हिन्दुओं को प्रभावित किया। "सूफी संतों और दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड निषेध और अमूर्त अद्वैतवाद ने हिन्दुओं को न केवल आकर्षित और प्रेरित किया वरन् वह उनकी अंत:प्रवृति और राजनीतिक सत्ता छिन जाने के कारण पैदा होने वाली पलायन-प्रवृत्ति के अनुरूप भी सिद्ध हुआ" (योगेन्द्र सिंह, 1988)। अनेक मुसलमान विद्वानों और शासकों ने इस्लाम के साथ कुछ हिन्दू-परम्पराओं को समाहित करने की स्पष्ट चेष्टा भी की। अकबर ने "दीने-इलाही" नामक एक नया समन्वयवादी मत ईजाद करके इस दिशा में कदम उठाया। यह मत इस्लाम, जैन, हिन्दू और जुरतुस्ती धर्मों का मिश्रण था। दाराशिकोह ने उपनिषदों के एकेश्वरवाद को उसके इस्लामी प्रतिरूप से मिलाना चाहा और दोनों में पायी जाने वाली समानताओं पर बल दिया। साहित्य के क्षेत्र में अमीर खुसरो ने हिन्दुओं और मुसलमानों की परम्पराओं में पायी जाने वाली समानताओं की व्याख्या करने का बहुत काम किया। ईसा के बाद की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में अनेक मुसलमान कवियों और लेखकों ने हिन्दी में लिखना शुरू किया। इसके अलावा अनेक पिछड़ी हुई, हीन और वंचित जातियों के लाखों लोगों ने अपेक्षाकृत अधिक अच्छी सामाजिक स्थितियों की तलाश में इस्लाम कबूल किया लेकिन अपनी अनेक स्थानीय और लघु परम्पराओं को कायम रखा। इस प्रकार उन्होंने भी भारत की मिश्रित संस्कृति में अपना खासा योगदान किया।

इस्लाम ने हिन्दू संस्कारों, रीति-रिवाजों, सामाजिक प्रवृत्तियों, विचारों, आदर्शों, भाषा, साहित्य, विज्ञान और कलाओं को प्रभावित किया। औषधि विज्ञान के क्षेत्रों में मुसलमानों में यूनानी चिकित्सा की शुरुआत की जिसे आज भी चिकित्सा की "यूनानी पद्धति" कहते हैं। सुविख्यात भारत-विद् बी.एस. उपाध्याय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "फोडर्स ऑव इन्डियन कल्चर"

(1973) में भारतीय पुनर्निर्माण में इस्लाम और मुसलमानों के योगदान का विस्तार से उल्लेख किया है। इसका एक अनूठा उदाहरण संगीत का क्षेत्र है। यह एक सर्वविदित बात है कि कट्टरपंथी इस्लाम में संगीत से नफरत की जाती है लेकिन भारत के शास्त्रीय संगीत के श्रेष्ठतम उस्तादों में अनेक मुसलमान रहे हैं और आज भी हैं। गजल, लावनी, ठुमरी, कव्वाली, धुन, वतरंग मुसलमानों की देन हैं, जिन्हें हिन्दुओं ने कृतज्ञता के साथ स्वीकार किया। मुसलमान संगीतज्ञों ने अनगिनत वाद्यों का आविष्कार किया है, जैसें सारंगी, दिलरूबा, तौंस, सितार, रूबाब, सुरबीन, सुरसिंगार, तबला, अलगोजा आदि। ललित कलाओं का एक अन्य पक्ष नृत्य है जिसे हिन्दू और मुसलमानों दोनों ने मिलकर आगे बढ़ाया है। उसकी कथक शैली, जिसका प्रारम्भ और परिपोषण मुस्लिम देशों में हुआ, मुसलमानों की वह देन है जो सदियों से उत्तर भारत की भूमि पर फल-फूल रही है। संगीत सदा वह बिन्दु रहा है जहां विभिन्न समुदायों के बीच भेदभाव को कभी बर्दाश्त नहीं किया गया। वास्तुसंरचना के क्षेत्र में भी मुसलमान-नवागन्तुकों के आते ही एक बड़ा परिवर्तन सामने आया जब उन्होंने नई प्रविधियां और नये आकार प्रस्तुत किये। गुम्बद, कलश, कंगूरे, बुर्ज, मेहराब और मीनारें आज भारत के अनेक शहरों को सुशोभित कर रही हैं। "मुसलमानों ने अपने नये चयनित घर (भारत) का ऐसा निर्माण किया जैसा कि उन्होंने संसार में कहीं नहीं किया। विश्व के किसी भी मुस्लिम मुल्क में इतने बड़े और भव्य किले नहीं हैं जैसे कि दिल्ली और आगरा में मौजूद हैं, कहीं कुतुबमीनार जैसी भव्य मीनार नहीं है, सीकरी के बुलन्द दरवाजा जैसे द्वार नहीं हैं, मोती और जामा मस्जिद जैसी मजिस्दें नहीं हैं और ताजमहल जैसी सुन्दर सुकुमार विरल और सूक्ष्म कारीगरी की मिसाल नहीं है। दुनिया का कोई भी मुल्क यह दावा नहीं कर सकता है कि उसके यहाँ भारत से ज्यादा या बराबर संख्या में मुस्लिम स्मारक हैं-ऐसे स्मारक जो विभिन्नता, वैचित्र्य या सुन्दरता में उनकी बराबरी कर सकें" बी.एस. उपाध्याय। राजपूताने के राजाओं ने अपने महल ही नहीं मकबरे तक मुस्लिम शैली के बनवाये और अपने दरबारों में मुसलमानों की पोशाकों और उनकी तहजीब को प्रोत्साहित किया। चीनी पृष्ठभूमि से पैदा होने वाली चुगताई शैली की चित्रकला ने भी भारत की चित्रकला को सम्पन्न किया।

पोशाकों के पैटर्न और आभूषणों के क्षेत्र में नथ (नथुनी) हिन्दू-विवाह की यथार्थ प्रतीक और "सेहरा" तथा "मौर" दूल्हे की आवश्यक पहचान बन चुके हैं। उर्दू भाषा भारत की मिली-जुली संस्कृति की एक खूबसूरत मिसाल है। वह भारत में इस्लाम की चिरस्थायी देनों में से एक है। उर्दू एक भारतीय भाषा है जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर गढ़ा और विकसित किया है और वह भारत में दोनों की सम्मिलित व साझी विरासत है। उर्दू भाषा के चिरंतन प्रभाव का दृष्टांत देते हुए बी.एस. उपाध्याय ने लिखा है कि उसमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो शुद्धतावादियों के लाख प्रयत्नों के बावजूद उत्तर, केन्द्रीय और पश्चिमी भारत की शब्दावली से बहिष्कृत नहीं किये जा सके। ऐसे शब्दों की तालिका अनन्त है फिर भी उनके कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं : बन्दूक, तोप, कागज, सराय, चपरासी, बही, गबन, बारूद, सिपाही, देहात, जमींदारी, नौकर, मुनीम, जिल्द, लिफाफा, कुर्ता, पाजामा, इस्त्री (कपड़े पर लोहा करने वाली) आदि। ऐसे हजारों शब्द हैं जो हिन्दी में घुल-मिल गये हैं, उनमें बहुतों के समानार्थी शब्द भी हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं। क्या गान्धी जी के "चर्खे" या "इन्कलाब जिन्दाबाद" और प्रतिदिन इस्तेमाल होने वाली "रोटी" या "चपाती" से भी ज्यादा महत्वपूर्ण कोई शब्द हो सकता है। अत: यही वह सही समय है जब हम फिर से अपनी इस गंगा-जमुनी संस्कृति को पहचानते हुये और उसके मूल्यों पर कट्टरवादी हिन्दुओं और मुसलमानों के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए उनकी रक्षार्थ अपने को समर्पित कर सकें।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म की स्थापना ईसा मसीह ने की थी। किन्तु उसका मूल यहूदी परम्परा से सम्बद्ध है। ईसा एक ऐतिहासिक महापुरुष थे जिनका जन्म लगभग 2000 वर्ष पहले हुआ था। ईसाई धर्म में "चर्च" ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसी ने ईसाई संसार के मौजूदा दृष्टिकोण का निर्माण किया है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि भारत में ईसाई धर्म की पृष्ठभूमि काफी पुरानी है। हालांकि इस तथ्य को न प्रमाणित किया जा सकता है और न अप्रमाणिक कहा जा सकता है कि थामस ने भारत को इंजील का सुसमाचार दिया था ("द क्रिश्चियन मिशन टूडे", 1960)। परम्परा के अनुसार थामस नामक ईसा के एक दिव्य संदेशवाहक 52 ईस्वी

में केरल के समुद्रतट पर उतरे। वहां के विभिन्न क्षेत्रों में उसने सात गिरजाघरों की स्थापना की। तब उन्होंने मद्रास की यात्रा की, यहां वे 72 ईस्वी में दिवंगत हो गए। किन्तु सच्चे अर्थों में भारत में ईसाई धर्म का प्रचार यूरोप के लोगों के आने के बाद 16वीं शताब्दी में या उसके बाद शुरू हुआ। प्रारम्भिक प्रचारकों में पुर्तगालियों का उल्लेख मिलता है। बाद में डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज प्रचारक आये। यूरोप के लोगों के साथ कुछ अमेरिकी प्रचारक भी भारत आये। शुरू में इन धर्म प्रचारकों ने जनजातीय क्षेत्रों और अछूतों की आबादियों को अपना कर्म क्षेत्र बनाया। बाद में उन्होंने अपना कार्य शहरी इलाकों तक फैलाया।

भारत में ईसाई धर्म आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास के महत्वपूर्ण तत्वों में से एक रहा है। उसके प्रचारकों ने यह कार्य उन सामाजिक मूल्यों द्वारा किया जिन्हें उन्होंने वैध करा लिया था (विक्टर डिसूजा, 1914)। सार रूप में ईसाई मत विश्व-बन्धुत्व, समता के दृष्टिकोण रखने और सुविधाहीन लोगों की सेवा करने का उपदेश देता है। अपने सामाजिक दर्शन के अनुसार ईसाई मत के प्रचारकों ने भारत की जाति प्रथा की बुराइयों पर धावा बोला। अपने प्रवचनों से उन्होंने समकालीन रिवाजों और पद्धतियों को झकझोर दिया और फिर आत्मसम्मान एवं सामाजिक न्याय पर आधारित एक समान स्तर के समाज-निर्माण को प्रेरणा दी। ईसाई धर्म ने निःसन्देह भारतीय समाज को एक खुला समाज बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। उसने सुविधाओं से वंचित और विशेष रूप से आक्रामक जाति प्रथा से पीड़ित समाज को आश्रय और सहारा दिया। ईसाई धर्म गरीब और कमजोर वर्गों के लिए समाज कल्याण की प्राचीन एजेन्सियों में से एक है। अपनी सामाजिक सेवाओं की व्यापक शाखा-प्रशाखाओं द्वारा उसने भारत के दूर-दराज के उन इलाकों में भी शिक्षा, सेवा और चिकित्सा की सेवाएं पहुंचाई जहां सरकारी सहायता का नाम तक न था। इस वक्तव्य का जीता-जागता प्रमाण उन क्षेत्रों की साक्षरता दर है जहां ईसाई धर्म के प्रचार और उनकी सेवा कार्य संरचना मजबूत रही है।

◆◆◆

209

17

पवित्र सम्मिश्र

सेक्रेड कॉम्प्लेक्स की अवधारणा पर विचार करने से पहले उचित होगा कि सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा भारतीय सभ्यता का जो अध्ययन किया गया है उस की पृष्ठभूमि का हम पर्यावलोकन कर लें। इस सदी के पांचवें और छठे दशक में भारत के सामाजिक मानवशास्त्रियों पर मानव विज्ञान के 'शिकागो स्कूल' का खासा प्रभाव था। लीक से हटकर किये गये अपने अध्ययनों के द्वारा रेडफील्ड की वृहत और लघु परम्पराओं की अवधारणा ने भारतीय सभ्यता को समझने की अन्तर्दृष्टि दी। अपने एक महत्वपूर्ण लेख (1955) में उन्होंने लिखा कि किसी भी सभ्यता में कुछ चीजें अनिवार्यतः पायी जाती हैं; जैसे, विशेषज्ञों का संगठन, एक दूसरे के बीच विशेष प्रकार के सम्बन्धों का नियमन करने वालों की भूमिका अदा करने वाले तथा परम्परा को आगे सम्प्रेषित करने वाले संस्कार या अनुष्ठान। भारतीय सभ्यता के बारे में अपनी परिकल्पना का विवरण देते हुए उन्होंने कहा है कि अन्य सभी बातों के अलावा इसकी सांस्कृतिक निरन्तरता इसलिए बनी रही क्योंकि उसकी वृहत परम्पराएं सांस्कृतिक दृष्टि से लघु परम्पराओं को भी साथ लेकर चलती रहीं। इस सांस्कृतिक निरन्तरता का श्रेय सामान्य एवं सार्वजनीन विवेक को है और यह विवेक और जागरूकता पैदा करने वाले तत्व वही हैं जो सभी मूल सभ्यताओं की धार्मिक पुस्तकों, तीर्थस्थलों तथा उन पढ़े-लिखे प्रचारकों में पाये जाते हैं जिन्हें गौरव ग्रंथों का पाठ और प्रचार करने का परम्परागत अधिकार प्राप्त है।

इन प्रस्थापनाओं का प्रयोग करते हुए एल.पी. विद्यार्थी, जो एक तरह से मानव विज्ञान के 'शिकागो स्कूल' से जुड़े माने जाते हैं और रेडफील्ड से शिक्षा प्राप्त की थी, ने सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थल गया के अध्ययन में इस धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण शहर का भारतीय सभ्यता के अंग के रूप में वर्णन किया है जिसमें उन्होंने कई विश्लेषणात्मक अवधारणाओं और विवरणात्मक पदों का विकास भी किया है, जैसे धार्मिक भूगोल, धार्मिक

कार्यकलाप और धार्मिक विशेषज्ञ (मूल लेख में धार्मिक शब्द के स्थान पर अंग्रेजी के ''सेक्रेड'' शब्द का इस्तेमाल किया गया है जिसका अर्थ ''पवित्र'' है)। इन तीन अवधारणों के समूह को उन्होंने ''सेक्रेड कॉम्प्लेक्स'' की संज्ञा दी है।

''द सेक्रेट कॉम्प्लक्स ऑव हिन्दू गया'' (1961) नामक अपनी कीर्तिमान पुस्तक में विद्यार्थी ने अपनी उप-कल्पनाओं की सहायता से सेक्रेड कॉम्प्लेक्स के तीनों घटक प्रस्तुत किये हैं। उनका कहना है कि हिन्दुओं के तीर्थस्थलों का ''सेक्रेड कॉम्प्लेक्स'' एक सीमा तक वृहत और लघु परम्पराओं के बीच की निरन्तरता, उनके जुटाव और परस्पर समझौते के स्तर को प्रतिबिम्बित करता है। तीर्थस्थलों के धार्मिक विशेषज्ञ-पंडे व पुरोहित-एक विशेष प्रकार की जीवन शैली में रहते हैं, विशेष प्रकार की कथा-वार्ताओं, संस्कार-अनुष्ठानों के कार्यकलाप, तीर्थ यात्राओं के संयोजनों और पुरोहितों की भूमिका द्वारा वृहत परम्परा के तत्वों को ग्रामीण आबादी के एक बड़े हिस्से तक सम्प्रेषित करते हैं। पंडे-पुरोहित वर्ग के लोग, हिन्दू सभ्यता के व्यापक संसार में हुए सामान्य विकास के फलस्वरूप सुधार और रूप परिवर्तन के दौर से गुजर चुके हैं।

धार्मिक भूगोल (sacred geography), धार्मिक कार्यकलाप (sacred performances) और धार्मिक विशेषज्ञ (sacred specialists) का वर्गीकरण केवल गया पर ही नहीं, हिन्दुओं के सभी तीर्थस्थानों पर लागू होता है। विद्यार्थी (1961) और कोहन एवं मैरिअट (1959) ने तीर्थस्थलों और तीर्थयात्रा सम्बन्धित संगठित व्यवस्था को भारत सभ्यता में एकता पैदा करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है। ऊपर बताये गये तीन बुनियादी घटकों में से धार्मिक भूगोल को पुन: तीन हिस्सों में बांटा गया है- ''क्षेत्र'', ''खण्ड'' और ''धार्मिक केन्द्रों का समूह''। हिन्दुओं द्वारा सम्मानित गया के क्षेत्र में सैकड़ों पवित्र वस्तुओं और स्थानों का कॉम्प्लेक्स है। यह धार्मिक-भूगोल देश और काल दोनों में वृहत और लघु परम्पराओं की निरन्तरता का प्रदर्शन करता है। यह विभिन्न स्तरों पर हिन्दू और बौद्ध परम्पराओं के विभिन्न प्रकार के समीकरणों को भी प्रदर्शित करता है। फिर भी, आधुनिक काल में हुए प्रचंड परिवर्तनों के कारण गया के सिकुड़ते हुए धार्मिक क्षेत्र की कीमत पर वहाँ के धर्मनिरपेक्ष (secular) क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। अनेक स्थल जो पहले पवित्र और धार्मिक महत्व के माने जाते थे ध्वस्त हो चुके हैं और

उनके स्थान पर आराम गृह, पार्क और आहार गृह बन गये हैं। गया मुख्यत: हिन्दू जगत में "पुरखों को पिण्डदान" करने के पवित्र स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। इस संस्कार को "गया श्राद्ध" कहते हैं। समस्त संस्कार और अनुष्ठान गया के "पंडे" करते हैं जो रूढ़िगत धार्मिक एवं सांस्कृतिक शैली में जीवन व्यतीत करते हैं। इस शैली पर हिन्दुओं की वृहत परम्परा का पूरा असर है। इस "सेक्रेड कॉम्प्लेक्स" का बाह्य संसार से भी सम्बन्ध है। वस्तुत: यह जीवित ही है बाह्य संसार के संरक्षण में! गया के पंडों का बाहरी हिन्दू जगत के विभिन्न स्थानों में बसे सम्पन्न संरक्षकों से "यजमानी" का रिश्ता है। धार्मिक भवनों आदि के निर्माण में मुख्यत: देश भर के सम्पन्न लोगों का धन लगा है और वही लोग 'दान और दक्षिण' द्वारा वहाँ के पण्डों को जीविका प्रदान करते हैं।

"सेक्रेड कॉम्प्लेक्स" सभ्यता के ऐसे केन्द्र हैं जहां भारत के विभिन्न क्षेत्रों और स्तरों के तीर्थयात्री परस्पर निकट आते और अन्योन्याश्रित क्रिया द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। सरस्वती (1982) का यह प्रश्न प्रसंगानुकूल है कि वे विभिन्न स्तर और प्रकार के तीर्थयात्री जो "सेक्रेड कॉम्प्लेक्स" में आकर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, क्या उस ब्राह्मण प्रदत्त अवधारणा में पूरी और समान मात्रा में आस्था रखते हैं जिन्होंने इन केन्द्रों की नींव डाली है और क्या उन सबकी अन्योन्याश्रित क्रिया इन केन्द्रों में प्रतिभासित प्रत्यक्ष भावना के प्रति पूर्णत: और समान रूप से समर्पित है? सेमिटिक धर्मों के वे सभी लोग जो तीर्थस्थलों में परस्पर निकट आते हैं, वह तीर्थस्थल चाहे मक्का हो या येरूशलम, भिन्न-भिन्न भाषाई क्षेत्रों और सांस्कृतिक स्तरों के हो सकते हैं, किन्तु उनकी अवधारणायें एक समान होती हैं और वे सभी एक ही तरह के अनुष्ठान में शामिल होते हैं। ऐसा हिन्दू तीर्थस्थलों में नहीं होता, फिर भी वे विविध प्रकार की सांस्कृतिक परम्पराओं को सभ्यता के एक समान सूत्र में बांधने का महत्वपूर्ण काम करते हैं।

विद्यार्थी से प्रेरणा पाकर सामाजिक मानवशास्त्रियों का एक 'नौजवान समूह' शोध के इस नये क्षेत्र की ओर आकर्षित हुआ। सरस्वती ने इस क्षेत्र में एक प्रमुख योगदान दिया है। उनके तीन अध्ययन सामने आये: "द होली सर्किट ऑव नीमसार" (1965), "द टेम्पुल आर्गेनाइजेशन इन गोआ" (1962), और "काशी-द मिथ एन्ड रिअलिटी ऑव ए क्लासिकल कल्चर

ट्रेडीशन'' (1975)। सरस्वती का विचार है कि पवित्रता अथवा धर्म की अवधारणा अनिवार्य रूप से मोक्ष प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक संसार से सम्बद्ध होने की आदमी की आकांक्षा पर आधारित है। काशी सम्बन्धी अपने अध्ययन में सरस्वती इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि यद्यपि काशी का ''सेक्रेड कॉम्प्लेक्स'' प्रधानतः ब्राह्मण कॉम्प्लेक्स नजर आता है, लेकिन वास्तविक रूप में वह परम्पराओं के एक बहुत बड़े संगठन का कॉम्प्लेक्स है जिसे 'भारतीय सभ्यता' के नाम से पुकारा जाता है। इस कॉम्प्लेक्स में ब्राह्मण-परम्परा का विश्वेश्वर मन्दिर है, उसके साथ सह अस्तित्व में है ब्राह्मणेतर आगया बैताल का मन्दिर; एक ओर विद्वान कर्मकाण्डी तो दूसरी ओर निरक्षर और अस्पृश्य डोम धार्मिक संस्कार व अनुष्ठान कराते हैं और ऐसे नास्तिक ब्राह्मण भी हैं जो शव 'खाने' वाले अवधूत के चरण स्पर्श करते हैं। पवित्र तीर्थस्थलों पर इस प्रकार की व्यवस्था निकट और दूर से आने वाले विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं के तीर्थयात्रियों को बार-बार यह दर्शाती और बताती है कि उन्हें इस बात का अभिमान नहीं होना चाहिए कि उनकी अपनी परम्परा ही सर्वश्रेष्ठ है।

इस क्षेत्र में कुछ अन्य योगदान हैं: माखन झा का "द सेक्रेड कॉम्प्लेक्स ऑव रतनपुर'' (1978), महापात्र का ''लिंगराज टेम्पुल: इट्स स्ट्रक्चर एण्ड चेन्ज'', मोरब और गोस्वामी का ''चामुण्डेश्वरी टेम्पुल'' (1975) और चक्रवर्ती का ''तारकेश्वरी टेम्पुल'' (1974)। गया के बाद जनकपुर सम्बन्धी अपने अध्ययन के अतिरिक्त झा ने रेडफील्ड, सिंगर एवं विद्यार्थी ने भारतीय सभ्यता के आयामों के रूप में भारतीय तीर्थस्थलों के अध्ययन हेतु ''सेक्रेड कॉम्प्लेक्स'' की अवधारणा का विकास किया वहीं मैरिअट एवं कोहन ने भारतीय सभ्यता के आयामों के रूप में भारतीय तीर्थस्थलों के अध्ययन करने के लिए ''नेटवर्क ऐन्ड सेन्टर्स'' (networks and centres) की अवधारणाओं को विकसित किया। इस प्रकार भारतीय मानव विज्ञान में भारतीय सभ्यता के आयामों के रूप में परम्परागत शहरों और तीर्थस्थलों के अध्ययन क्षेत्र में ''सेक्रेड कॉम्प्लेक्स'' और ''नेटवर्क एन्ड सेन्टर्स'' बहुत ही लोकप्रिय सैद्धांतिक आदर्श बन गये हैं।

◆◆◆

213

18

जनजाति-जाति अटूटक्रम

मैक्सिको के ग्रामीण क्षेत्रों में काम करते समय रेडफील्ड ने ग्रामीण और शहरी जीवन में अनेक सांस्कृतिक समानतायें और परस्पर एक दूसरे को आच्छादित करन वाले तत्व देखे। उन्होंने बड़ी गम्भीरता से इन दोनों के विभाजक तत्वों का अध्ययन किया और यह पाया कि 'लोक' और 'शहरी' के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना बहुत कठिन है। इस तरह 'कॉन्टीनम' (सातत्य या अटूटक्रम) की अवधारणा सामने आई जिसके द्वारा रेडफील्ड ने बताया कि समाज के इन दो हिस्सों को विशुद्धत: अलग अस्तित्व की वस्तु समझना बुद्धिमानी नहीं है। इस द्विभागी योजना में कुछ थोड़े से सांस्कृतिक चिह्नों की निरन्तरता को भी सातत्य या अटूटक्रम की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। अटूटक्रम की अवधारणा की सबसे पहली व्याख्या हमें रेडफील्ड द्वारा लिखित 'द फोक कल्चर ऑव युकातान' (1941) में मिलती है। इस खण्ड की भूमिका में इस पर विस्तार से बात हो चुकी है।

रेडफील्ड द्वारा लोक और शहरी संस्कृति के बीच की निरन्तरता के क्षेत्रों का उल्लेख किये जाने के काफी पहले से भारतीय नृजातिशास्त्री (इथनोग्राफर) जनजाति और जाति के बीच के अन्तर को समझने की समस्या से जूझ रहे थे। उनके और जनसंख्या विभाग के अधिकारियों के सामने यह समस्या उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में उस समय आई जब अंग्रेज प्रशासकों की देख-रेख में जनगणना का काम शुरू हुआ। उस समय की दसवर्षीय जनगणना के काम में केवल व्यक्तियों की संख्या गिनना ही नहीं था वरन् उसके साथ पूरी आबादी को जनजाति, जाति, सम्प्रदाय और पेशों में विभाजित या वर्गीकृत करना भी था। प्रारम्भ में जनजाति शब्द का बहुत लचीले अर्थ में इस्तेमाल किया गया; यहाँ तक कि जाट और अहीरों को भी 'जनजातियाँ' बताया गया। किन्तु जब जे.एच. हट्टन ने जनगणना का कार्यभार संभाला तो अपेक्षाकृत अधिक शैक्षिक कठोरता

और पाबन्दी बरती गयी। यही कारण था कि सन् 1931 के बाद जनजाति और जाति को अलग-अलग सिद्ध करने वाले मुद्दों पर होने वाली बहस एक महत्वपूर्ण शैक्षिक मामला (एकैडमिक इशु) बन गया। यदि कोई समूह अपने धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों और कार्यकलाप द्वारा स्पष्टतया हिन्दू प्रदर्शित किया जा सकता था तो वह 'जाति' के वर्ग में आयेगा और जो समूह 'एनीमिस्ट' (प्रकृतिवादी) था, उसकी गणना जनजातियों में की जायेगी- आर्थिक, राजनीतिक, और परिवेश सम्बन्धी तत्वों का महत्व द्वितीय श्रेणी का आंका जाता था।

नृजातिवादी, समाजशास्त्री, सामाजिक मानव-विज्ञानविद, सामाजिक कार्यकर्ता और अन्य बहुत से लोग जनजातीय समाज को परिभाषित करने की समस्या से जूझते रहे हैं - एक ऐसी परिभाषा जो सर्वमान्य हो। दुर्भाग्य से जो भी परिभाषाएं दी गयीं वे या तो बड़ी विस्तृत और लचीली हैं या फिर बहुत संकीर्ण और सीमित हैं। नदीम हसनैन ने अपनी पुस्तक 'ट्राइबल इंडिया' (1993) व 'जनजातीय भारत' में इस समस्या पर विस्तार से विचार किया है और लगभग सभी दृष्टिकोणों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आन्द्रे बिते (1947) ने समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए जनजातियों में समान रूप से देखी गयी भिन्नताओं की गणना की है। पहली भिन्नता यह है कि जातियों की तुलना में जनजातियाँ पूर्णतः पृथक रहती हैं। इसके दो पहलू हैं-पहला यह है कि जनजातियाँ भौगोलिक रूप से पृथक हैं अर्थात् ऐसे क्षेत्रों में केन्द्रित हैं जहाँ आम आदमी के लिए पहुँचना या तो बहुत कठिन है अथवा रहा है। इसका अर्थ यह भी है (जो समाजशास्त्रियों के लिए अधिक महत्वपूर्ण है) कि एक जनजाति का संसार अपने आप में ही निहित है; औरों से उसके सामाजिक सम्बन्ध नहीं के बराबर हैं। ठीक इसके विपरीत जाति अपनी प्रकृति से ही एक विशाल इकाई का हिस्सा है और वह अन्य अनेक जातियों के साथ अनगिनत सूत्रों से जुड़ी होती है। दूसरा आधार भाषा या बोली है। जनजातियाँ अनेक प्रकार की बोलियाँ बोलती हैं जो अनेक मामलों में भारत की सभी बड़ी भाषाओं से भिन्न होती हैं। फिर नम्बर आता है धर्म का। यदि हम 'एनीमिज्म' और 'हिन्दुज्म' के बीच के विरोध को आवश्यकता से अधिक रूखा व अपरिपक्व मानकर चलें तो हम स्वीकार कर सकते हैं कि बहुत-सी जनजातियों में एक जैसे धार्मिक

विश्वास और कार्यकलाप हैं जो आम तौर से प्रचलित हिन्दूवाद में नहीं हैं। लेकिन धर्म, भाषा से एकदम विपरीत एक लोचशील मापदंड है क्योंकि जो कुछ हम पाते हैं वह बिना किसी तीक्ष्ण दरार के एक सातत्य (अटूटक्रम) होता है और जहाँ हम 'ट्राइबल' और 'नॉन-ट्राइबल' के बीच विभाजक रेखा खींचते हैं वह अनिवार्यत: विवेकाधीन (आरबिट्रेरी) ही रहती है।

'जनजातीय भारत' पर काम करने वाले विद्वानों के झुंड में एफ.पी. बेली का व्यक्तित्व एकदम अलग है। उनकी सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि जनजातीय भारत की कुछ विशिष्टताओं के लिए ऐसी परिभाषा प्रस्तुत की जाए जो भारतीय संदर्भ में पूरी तरह उचित हो। एक जनजातीय या आदिवासी समाज को परिभाषित करने का काम अन्य देशों में कोई खास समस्या पैदा नहीं करता क्योंकि समाज के किसी दूसरे सम्बँद्ध हिस्से से किसी जनजाति का सान्निध्य महान समानताओं के आयामों को ग्रहण नहीं करता। अपने बहुत महत्वपूर्ण शोधलेख 'ट्राइब एन्ड कास्ट इन इंडिया' में बेली ने मानव विज्ञान के विद्वानों द्वारा उठाए गये सभी मुद्दों पर विचार किया है और जनजाति और जाति के बीच का अन्तर समझने के लिए संरचनात्मक शब्दों में एक योजना प्रस्तुत की है। उनका प्रस्ताव है कि हमें इन दोनों को अलग-अलग रूप में समझने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित करना चाहिए, बल्कि इन दोनों को सातत्य के संदर्भ में आंकना चाहिए। बेली ने यह भी कहा कि जातियों का समाज टुकड़ों में बँटा हुआ (segmental) और एक समान (homogeneous) होता है। इस प्रकार वह उनके बीच के अन्तर को आचरण की समष्टि में नहीं वरन् एक बहुत सीमित रूप में उनकी राजनीतिक एवं आर्थिक पद्धति के सम्बन्ध में खोजना चाहते हैं। साथ ही बेली भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों के प्रति भी जागरूक हैं। वे घोषित करते हैं कि जाति और जनजाति दोनों एक ऐसी पद्धति में विलीन हो रहे हैं जो इन दोनों में से कोई भी नहीं है। ऐसे सामाजिक परिदृश्य में जहाँ जातियां और जनजातियां, अपने-अपने शास्त्रीय अर्थ के मामले में स्वयं अपना अस्तित्व खो रही हैं, बेली की योजना का व्यावहारिक मूल्य भी बहुत सीमित सा लगता है।

रेडफील्ड के एक शिष्य सुरजीत सिन्हा ने बस्तर के आदिवासियों के बीच अपने क्षेत्रकार्य के आधार पर जाति और जनजाति के सातत्य को

समझने का प्रयास किया। बेली द्वारा शैक्षिक दृष्टि से किसी स्थायी निष्कर्ष पर पहुंचने के प्रयास के बाद यह जाति-जनजाति-सातत्य को समझने का दूसरा गम्भीर प्रयास था। सातत्य के आधार के रूप में कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं के उदाहरण देते हुए सिन्हा ने यह मत व्यक्त किया कि बहुत सी बातें ऐसी भी हैं जिनमें भारत की निम्न जातियाँ आदिवासियों के साथ सहमत नजर आती हैं, जैसे अपने जाति समुदाय के भीतर सामाजिक आचरण की समानता पर बल, स्त्रियों के लिए सांस्कृतिक सहभागिता में स्वतन्त्रता, विशुद्ध तपस्या से युक्त मूल्य पद्धति। इसके अतिरिक्त इन निम्नतम जातियों का दैवी शक्ति में विश्वास भी जनजातियों के उसी प्रकार के विश्वासों से मेल खाता है।

19वीं शताब्दी तक जब कुछ आदिवासी क्षेत्रों में लोगों का आवागमन आरम्भ हुआ था, अधिकतर आदिवासी समूहों का हिन्दू समाज और सभ्यता के केन्द्रों से बहुत कम सम्पर्क था। फिर भी भारत के सर्वाधिक दूरस्थ और पृथक आदिवासी-समूहों में कुछ सांस्कृतिक लक्षण वैसे ही थे जो 'जाति' के लोगों में पाये जाते थे। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र में बसी जौनसारी जनजाति तथा कुछ अन्य जनजातियों को उदाहरण के लिये प्रस्तुत किया जा सकता है। अन्य जातियों के लोगों की भांति, जौनसारी लोगों में भी विस्तृत जातीय पुरोहित-तंत्र और शुद्ध-अशुद्ध की मान्यता भी अपनी समस्त सामाजिक बुराइयों के साथ प्रचलित हैं। वे लोग सामाजिक असमानता को कम करने के स्थान पर उसका समर्थन करते आये हैं।

एक अन्य स्तर पर भी जाति-जनजाति सातत्य को समझा जा सकता है, वह है-लघु और वृहत् परम्पराओं का अन्योन्याश्रित-क्रिया सम्बन्धी स्तर। रामायण और महाभारत आदि वृहत् परम्पराओं के गौरव ग्रंथों में खासी और भील आदि जनजातियों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि पृथक् रहने के आम रिवाज के होते हुए भी आदिवासी विशाल हिन्दू-समाज से अपने यथासम्भव सांस्कृतिक सम्पर्क बनाये रखते थे। कभी-कभी प्रसंगवश सम्पर्क हो जाने के फलस्वरूप लघु परम्परा के अनेक लक्षणों का वृहत् परम्परा में आत्मसात हो जाना भी जाति-जनजाति-सातत्य के लिए उत्तरदायी है। एन.के. बोस ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू मैथेड्स ऑव ट्राइबल एब्जार्पशन' (1965) में यह बताया कि प्रकार एक अन्य धरातल पर भारत के बहुत से जनजातीय

समुदाय हिन्दुओं की जटिल आस्थाओं और उनके पेचीदा विश्वासों की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। कुछ मामलों में घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण से जनजातियों का हिन्दूकरण इतनी तीव्रता से हुआ है कि वह जनजाति केवल नाममात्र की जनजाति रह जाती है। फिर भी, जाति-जनजाति-अटूटक्रम की अवधारणा आज भी अतनी महत्वपूर्ण है कि सामाजिक विश्लेषण करने वालों के लेखन में इसका प्रयोग प्राय: होने लगा है।

◆◆◆

218

19

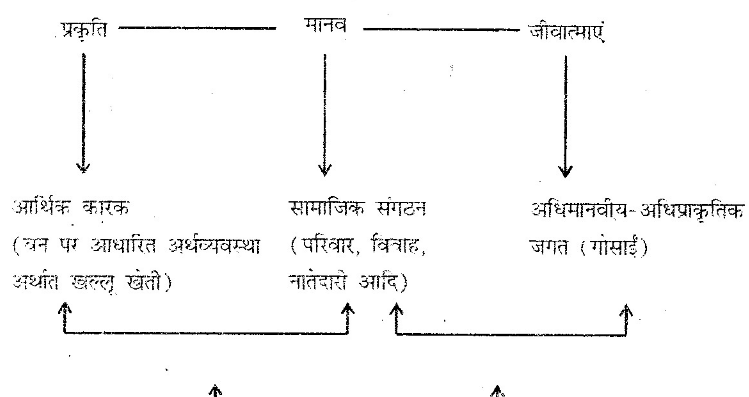
प्रकृति-मानव-जीवात्मा सम्मिश्र

प्रकृति-मानव-जीवात्मा समष्टि की अवधारणा जनजातीय भारत की समस्याओं को समझने के लिये एल.पी. विद्यार्थी का एक योगदान है। यह अवधारणा मानव विज्ञान की एक लोकप्रिय, महत्वपूर्ण और आजमाए हुए सांस्कृतिक-पारिस्थितिक उपागम (कल्चरल-इकोलॉजिकल एप्रोच) पर आधारित है जिसमें मानव व प्रकृति के बीच निरन्तर अंत:क्रिया को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

संस्कृति एक प्रकार से विविध वातावरणों में मानवीय अनुकूलन का दूसरा नाम है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति वातावरण का मानव निर्मित भाग है। इस प्रकार के उपागम में बाहरी स्थितियों को काफी प्रासंगिक माना जाता है। मानव व उसके वातावरण के बीच एक बेहतर व्यवस्था व्यक्तिगत व सामूहिक स्तर पर मानव को उसकी व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति के साथ जीवित रहने में सहायता करती है। मानव के पास पारिस्थितिकी के साथ अनुकूलन करने की विशाल क्षमता होती है। इस क्षेत्र के विद्वान अर्थात् सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के ज्ञाता सदा अनुकूलन के विविध प्रतिमानों की तलाश में रहते हैं। विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक पारिस्थितिक अनुकूलन के प्रतिमान (मॉडल्स आफ कल्चरल-इकोलॉजिकल एडेप्टेशन) ही विविध सांस्कृतिक परम्पराओं के लिये जिम्मेदार होते हैं।

प्रकृति-मानव-जीवात्मा समष्टि पर्यावरण की विभिन्न दशाओं के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं के द्वारा मानव के अनुकूलन की व्याख्या का एक प्रयास है। ऐसा देखा गया है कि समस्त 'जनजातीय भारत' में सामाजिक व्यवस्था की अंत:क्रिया निरन्तर पारिस्थितिक दशाओं व धार्मिक समष्टि के बीच चलती रहती है। इसके परिणाम व अनुकूलन के प्रतिमानों का अध्ययन विद्यार्थी ने बिहार की एक आदिम जनजाति मालेर (मल पहाड़िया) के संदर्भ में किया। मालेर बिहार की राजमहल पहाड़ियों में रहने

वाली तथा अस्थायी कृषि (शिफ्टिंग कल्टीवेशन) करने वाली एक बहुत पिछड़ी जनजाति है। मालेर लोग तरह-तरह की जीवात्माओं (स्पिरिट्स) में विश्वास करते हैं; जीवात्माएं उनके जीवन के हर पहलू को प्रभावित करती हैं। ये अच्छी-बुरी हर प्रकार की जीवात्माओं को मानते हैं। अच्छी जीवात्मायें (बेनिवोलेंट स्पिरिट्स) बीमारियों की इलाज करती हैं, खेती में सहायता करती हैं, जीवन में खुशहाली लाती हैं। बुरी जीवात्माएं (मेलवोलेंट स्पिरिट्स) बीमारी-दुख, भूख, प्राकृतिक प्रकोपों, गर्भपात होने आदि के लिये जिम्मेदार मानी जाती हैं। इस प्रकार सभी तरह की जीवात्माओं को संतुष्ट व प्रसन्न रखने में मालेर लोगों का जीवन बीत जाता है। इनकी मुख्य जीवात्मा 'गोसाईं या 'गोसययाँ' है जो अधि-मानवीय व अधिप्राकृतिक जगत (सुपर ह्युमन व सुपर नेचुरल वर्ल्ड) से इनके सम्पर्क का पुल है। ये गोसाईं की 'अनुमति' के बिना काम नहीं करते। इस प्रकार मालेर की जीवात्माएं, उसकी सामाजिक संस्थायें तथा उसकी प्रमुख आर्थिक गतिविधि अर्थात् अस्थायी खेती जिसे स्थानीय बोली में 'खल्लू' कहा जाता है, मिलकर एक रोचक कॉम्प्लेक्स बनाते हैं, जिसका रेखीय चित्रण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।



इस प्रकार मालेर के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकृति व जीवात्माओं का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है और ये तीनों एक दूसरे के साथ एक निरन्तर अंत:क्रिया में लगे रहते हैं। इस अवधारणा का महत्व व्यावहारिक मानव विज्ञान (अप्लाइड एन्थ्रोपोलॉजी) में देखा जा सकता है, विशेषकर आदिम जनजातियों के लिये

विकासकारी योजनाओं को कार्यान्वित करने में। ऐसा देखा गया है कि जब भी आदिम समूहों को विकासकारी योजनाओं के अंतर्गत कहीं और बसाने का प्रयास किया गया तो उन्होंने 'विकास' की ऐसी योजना को अस्वीकार कर दिया क्योंकि नई जगह पर प्रकृति-मानव-जीवात्मा समष्टि का सन्तुलन या साम्य भंग हो गया। यह अवधारणा एक व्यावहारिक मानवशास्त्री को यह बताती है कि आदिम समूहों के लिये किसी भी पुनर्वास योजना में प्रकृति-मानव-जीवात्मा कॉम्प्लेक्स का विशेष ध्यान रखना चाहिये और प्रयास यह होना चाहिये कि इस व्यवस्था में कम से कम विघ्न हो और यदि संभव हो तो विघ्न बिल्कुल अकस्मात् और अचानक न हो क्योंकि ऐसा होने से उन लोगों के हित में उठाये जाने वाले कदमों का परिणाम भी बेकार जा सकता है। प्रकृति-मानव-जीवात्मा कॉम्प्लेक्स के अध्ययन से हमें यह भी मालूम होता है कि लघु परम्पराएं लम्बे समय तक न केवल अपने को बनाये रखने की क्षमता रखती हैं बल्कि अधिक दबाव में आने पर वृहत् परम्परा की अवहेलना भी कर सकती हैं और तिरस्कार भी।

◆◆◆

खण्ड छः

भारत में सामाजिक परिवर्तन के कुछ पहलू

(भारत के विभिन्न समाज तथा भारतीय समाज)

Aspects of Social Change in India

(The Societies of India and Indian Society)

खण्ड ङ:

भारत में सामाजिक परिवर्तन के कुछ पहलू

(भारत के विभिन्न समाज तथा भारतीय समाज)

Aspects of Social Change in India

(The Societies of India and Indian Society)

विशेष प्रारम्भिक टिप्पणी

वर्तमान भारत में परिवर्तन को आन्दोलनकारी स्वरूप में जाना जा सकता है, समकालीन भारतीय समाज परिवर्तित हो रहा है। यह परिवर्तन समाज के ढांचे व कार्यप्रणाली दानों में हो रहा है। परिवर्तन का परिणाम और क्षेत्र आश्चर्यजनक रूप से बड़ा और अप्रत्याशित है। समकालीन भारतीय समाज में जो परिवर्तन को मुख्यतया महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय बनाता है वह यह तथ्य है कि यह राज्य के द्वारा योजनाबद्ध, वचनबद्ध एवं निर्देशित तथा नियन्त्रित है। वस्तुत: सभी विकासशील समाजों का, समकालीन भारतीय समाज सहित, अध्ययन सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं परिणामप्रद रहा है।

भारतीय समाज का संरचनागत स्वरूप यथा-ग्राम्य समुदाय, जाति व परिवार का संदर्भ हमें सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए प्रेरित करता है क्योंकि इस प्रकार की संस्थायें इस समय अपरिहार्य रूप से नये परिवर्तनों का संकेत दे रही हैं। "परिवर्तन के स्रोत के रूप में नगरीय भारत का महत्व भी बढ़ता जा रहा है, क्योंकि भारत की सम्पूर्ण गरीबी की झलक हमें नगरीय भारत में मिल जाती है। विशुद्ध शैक्षिक समाजशास्त्र या सामाजिक मानव-विज्ञान, जो कि भारत की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और समकालीन सामाजिक परिवर्तनों से सम्बद्ध नहीं है, अपने स्थैतिक स्वरूप के कारण मृत हो जाने के लिए बाध्य है।" (टी०एन० मदन, 1963)

भारतीय समाज को सदा पारम्परिक समाज के रूप में जाना गया है, एक ऐसा समाज जिसमें-

1. व्यक्ति का सामाजिक स्तर जन्मना निर्धारित व सुनिश्चित होता है, वह सामाजिक गतिशीलता के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रयासशील नहीं होता।
2. व्यक्ति का व्यवहार रीति-रिवाजों द्वारा अनुशासित होता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के लोगों के व्यवहार में नाम मात्र की भिन्नता ही लक्ष्य की जा सकती है।
3. सामाजिक संगठन अधिक्रम या सोपानिकी पर आधारित होते हैं।
4. व्यक्ति अपने को प्राथमिक समूह के अन्तर्गत अनुज्ञापित करता है और अन्तर्सम्बन्धों (परस्पर प्रकार्य सम्बन्धों) में सगे-सम्बन्धियों की नातेदारी अपना प्राथमिक महत्व रखती है।
5. प्राय: लोग रूढ़िवादी होते हैं।
6. आर्थिक व्यवस्था सरल होती है और आजीविका के लिए आश्रित लोगों की तुलना में आर्थिक उत्पादन कम होता है।
7. पौराणिक-धार्मिक विचारधारा समाज में प्रभावी होती है।

भारतीय समाज के सम्बन्ध में उक्त पूर्वाग्रहपरक अभिकथन क्या आधुनिक भारतीय समाज का सम्पूर्ण चित्र खींचते हैं? इस संदर्भ में एम०एन०श्रीनिवास के द्वारा प्रस्तावित क्षेत्रगत पर्यावलोकन (field view) और पुस्तकीय पर्यावलोकन (book view) में अन्तर प्रशंसनीय है। प्रत्येक प्रमुख संस्था जैसे जाति, संयुक्त परिवार एवं ग्राम्य समुदाय का पुस्तकीय पर्यावलोकन विद्यमान था जो जमीनी वास्तविकताओं से काफी भिन्न था। श्रीनिवास ने इस विचारधारा के प्रति आक्रामक रवैया अपनाते हुए इन्हें असामयिक, अयथार्थपरक और समकालीन सन्दर्भों में त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया है। "उन्होंने अपने क्षेत्रकार्य पर आधारित तथ्यों-आंकड़ों के द्वारा उन विचारधाराओं को हटाने का तर्क प्रस्तुत किया है। यह उस ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति या झुकाव के विरोध में प्रतिक्रिया थी जिसमें जीवन की वास्तविकताओं पर आधारित सामाजिक व्यवस्था पर कल्पित सामाजिक व्यवस्था हावी था" (आन्द्रे बेते, 1992)।

भारत में सामाजिक संस्थायें अपने मूल्यों के साथ बदल रही हैं। "यह बदलाव प्रचलित नियमों पर आधारित है, जो अपने महत्वपूर्ण सन्दर्भों में बदल रही हैं।" (श्रीनिवास, 1992)

पुनश्च, पुस्तकीच पर्यावलोकन और क्षेत्र पर्यावलोकन में अन्तर लक्ष्य करने हेतु हमें आन्द्रे बेते के क्षेत्र अवलोकन सम्बन्धी अभिकथन पर ध्यान देना होगा। बेते क्षेत्र विचारधारा के अन्तर्गत नयी वास्तविकताओं से साक्षात्कार करते हैं और उन्हें रेखांकित करते हैं। वह स्पष्ट कहते हैं कि विभिन्न प्रकार की संस्थागत सामाजिक संरचनायें अब एक दूसरे में संलयित हो गए हैं। ये सरंचनायें हैं–

1. वंशागत सामाजिक प्रस्थिति के विरुद्ध मुद्रागत आर्थिक व्यवस्था का विकास,
2. एक नया जातिमुक्त व्यावसायिक ढांचा,
3. नये प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था,
4. भेदपरक राजनीतिक संरचनाओं का विकास।

सम्पूर्ण भारत के बहुत से समाज, तथा सम्पूर्ण 'भारतीय समाज' एक महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन के कगार पर खड़ा है। कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भारत सामाजिक किण्वन (social ferment) की स्थिति में है जिसमें परिवर्तन की संवहन धारायें चल रही हैं।

इस खण्ड में कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाओं तथा उपागमों के बारे में अध्ययन किया गया है, जिनके अन्तर्गत हमें सामाजिक परिवर्तन के कुछ पक्षों को खोजना, विश्लेषित करना और समझना है।

20

सांस्कृतीकरण व पाश्चात्यीकरण

(इहलौकीकरण व आधुनिकीकरण सहित)

पुस्तकीय विचारधारा के विपरीत हम पाते हैं कि भारतीय जाति व्यवस्था पूर्ण रूपेण कभी दृढ़ और स्थैतिक नहीं रही है। इस निष्कर्ष ने विभिन्न प्रयासों को इस बात के लिए उत्प्रेरित किया है कि वे समाज में विस्तृत पैमाने पर घटित होने वाली गतिशीलता या परिवर्तन के ढंग को क्रमबद्ध स्वरूप में व्याख्यायित करें। इस दिशा में अनुलोम विवाह की प्रक्रिया प्रारम्भिक प्रयास हो सकती है। विशद रूप से विचार करने पर भारत में सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन के सम्बन्ध में चार उपागम रेखांकित किये जा सकते हैं:

1. व्यक्तिगत या पारिवारिक गतिशीलता सम्बन्धी उपागम,
2. तुलनात्मक उपागम,
3. संदर्भित समूह उपागम,
4. निगमित या सामूहिक गतिशीलता सम्बन्धी उपागम।

एम॰ एन॰ श्रीनिवास भारत में निगमित गतिशीलता सम्बन्धी उपागम के मुख्य नायक हैं।

अनेक बहुमुखी ग्रामीण अध्ययनों के परिणामस्वरूप कुछ धारणाएं और मार्ग सामने आये हैं जिन्हें भारत के समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों का महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक योगदान कहा जा सकता है। इन्हें भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में विश्लेषण प्रविधियों के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। यद्यपि स्वतंत्रता पूर्व की अवधि में कुछ सैद्धांतिक उपधारणाएं तथा रीतिबद्ध कार्य करने के तरीकों का विकास करने के छुट-पुट प्रयास किये गये थे फिर भी भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को परिभाषित करने, उनका विश्लेषण करने और उन्हें समझने का

बाकायदा प्रयास सबसे पहले एम०एन० श्रीनिवास ने अपने महत्वपूर्ण एवं लीक से हट कर किये गये अध्ययन "रेलिजन एण्ड सोसाइटी एमंग द कूर्गस ऑव साउथ इंडिया" (1952) में किया था।

सांस्कृतीकरण का मुहावरा श्रीनिवास ने कूर्गों के अध्ययन के दौरान इस्तेमाल किया था, तथा इसका तात्पर्य बुनियादी रूप से परम्परागत ग्रामीण भारत में सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रक्रिया का वर्णन करना था। श्रीनिवास की मान्यता है कि हिन्दू जाति-पद्धति कभी भी इतनी बेलोच नहीं रही कि कोई व्यक्ति या जाति अपना स्तर बदल या ऊंचा न कर सके। उनके अनुसार सांस्कृतीकरण की परिभाषा है: एक ऐसी प्रक्रिया जिसके माध्यम से एक नीची जाति या जनजाति या कोई अन्य समूह किसी अपेक्षाकृत ऊंची जाति के रीति रिवाज, पर्व-त्यौहार, विश्वास, विचारधारा और रहन-सहन की शैली अपनाते हैं, विशेषत: द्विज जातियों की। उदाहरण के लिए एक नीची जाति, जनजाति या कोई अन्य समूह यदि मांस, मदिरा, बलिप्रथा आदि त्याग कर भोजन, वेश-भूषा और कर्मकांड के मामले में किसी ब्राह्मण की नकल करने लगता है तो पीढ़ी-दो-पीढ़ी बाद वह स्थानीय जाति व्यवस्था में ऊंची स्थिति पाने का दावा कर सकता है। इस प्रक्रिया को मूलत: श्रीनिवास ने "ब्राह्मणीकरण" की संज्ञा दी थी किन्तु जब उनका सामना अन्य प्रकार के प्रतिस्पर्धियों से पड़ा तो उन्होंने "ब्राह्मणीकरण" छोड़कर सांस्कृतीकरण का मुहावरा अपनाया। वैसे भी सांस्कृतीकरण एक व्यापक धारणा वाला शब्द है क्योंकि इसके अन्तर्गत न केवल क्षत्रिय, वैश्य, जाट आदि द्विज और अद्विज जातियों की गणना की जा सकती है, वरन् यह जातियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की मान्यताओं और जीवन शैलियों का सूचक भी बन सकता है।

अनेक क्षेत्र अध्ययनों के आधार पर हमारे पास ऐसे परिवर्तनों का विवरण उपलब्ध है जिनमें सामाजिक समता प्राप्त करने की इच्छुक निम्न जातियों के द्वारा सांस्कृतिक अनुसरण का उल्लेख है। लेकिन सांस्कृतिक नकल या अनुकरण के विषय में बातचीत ठोस रूप में होनी चाहिए, जिससे कोई भी इसका यथार्थ चित्र देख सके। सांस्कृतीकरण महिला-समुदाय की सांस्कृतिक स्वायत्तता (cultural autonomy) को कम करता है जिसमें जीवन-साथी चुनने की आजादी व यौन स्वतन्त्रता शामिल है, पारिवारिक ढांचे में हो रहे परिवर्तनों में कुछ चीजों के प्रति परिवर्तन आन्दोलन स्वरूप

में दृष्टिगत होते हैं जैसे-रूढ़िबद्ध संयुक्त हिन्दू परिवार, पिता की सुदृढ़ अधिकारसत्ता के प्रति वचनबद्धता, एक ही पत्नी रखना, जाति बहिष्कृत कर देने की बढ़ी हुई प्रकृतियों वाला सुदृढ़ जाति संगठन आदि, गाय एवं सूअर का मांस खाने सम्बन्धी आदतों का परित्याग करके खान-पान की बदलती हुई प्रवृत्तियां आदि। उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त करने पर अत्यधिक बल दिया जाता है और दहेज, 'वधू मूल्य' प्रथा का स्थान ले लेता है। सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप धर्म (religion) और धार्मिक कृत्यों के संदर्भ में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया जाता है। इस धर्मगत यथार्थवाद के अन्तर्गत जनेऊ धारण करना, विवाह के अवसर पर सूअर की बलि का त्याग, और तीर्थयात्रा को अत्यधिक महत्व देने की प्रवृत्ति लक्षित होने लगती है। राजनैतिक-संगठनात्मक स्तर पर देखा जाये तो हम पाते हैं कि सांस्कृतीकरण पहले से अधिक मजबूत जाति व्यवस्था को प्रोत्साहित करता है जिसमें अपने सदस्यों को पहले से अधिक जाति बाहर (outcasting) करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। अन्तर्जातीय सम्बंधों के दृष्टिकोण से देखा जाये तो आपस में खान पान के सम्बंध को लेकर पहले से अधिक दृढ़ता आ जाती है, खाने-पीने की आदतों में भी महत्वपूर्ण परितर्वन होते हैं।

श्रीनिवास ने आगे बताया है कि सांस्कृतीकरण की प्रक्रियाओं को राजनीतिक एवं आर्थिक तत्वों ने भी प्रभावित किया है। भारत में अंग्रेजी राज्य के दौरान निम्न जातियों को सांस्कृतीकरण के अनेकानेक अवसर मिले जिनके फलस्वरूप वे अपना सामाजिक स्तर ऊपर उठा सकीं क्योंकि नये शासन और नई राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक रूप से जाति व्यवस्था में अंतर्ग्रस्त नहीं थे।

कभी-कभी एक निम्न जाति को सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा ऊपर उठने में बीच की जातियों के द्वेष और उनके उपहास का शिकार होना ग्रामीण भारत के अनेक स्थानों में रहने वाले नीची जातियों के लोगों की एक चिरपरिचित समस्या है, भले ही ये लोग जूते या साफ-सुथरे कपड़े पहनने लगें, क्योंकि नीची जाति के लोगों को उनके जैसे नहीं दिखना चाहिए, उनकी जीवन शैली, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार और नामों को अपनाना तो दूर की बात है। कुछ मामलों में सांस्कृतीकरण भी जाति का स्तर ऊपर उठाने में मदद नहीं करता और उन लोगों को परम्परागत सामाजिक अयोग्यता निरन्तर भोगनी पड़ती है।

संचार और यातायात के बढ़ते हुए साधनों ने सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया के लिए सुविधायें भी प्रदान की है और उसकी गति को भी तेज किया है क्योंकि इनसे सांस्कृतिक सम्पर्क के नये मार्ग खुले हैं, और नये अवसर सामने आये हैं। लोकतंत्रीय पद्धति ने चयन करने की अपेक्षा अधिक आजादी प्रदान की है। इससे भी सांस्कृतीकरण के लिए अनेक अवसर सामने आते हैं। व्यंग्योक्तिपूर्ण बात यह है कि अपने निम्न सामाजिक स्तर के बावजूद बहुत-सी नीची जातियां अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील, उदार और अनुज्ञाशील हैं। उनकी उदार और असंदिग्ध प्रकृति, विशेष रूप से स्त्रियों की स्थिति, यौन सम्बन्धी आचरण, जीवनसाथी चुनने की स्वतंत्रता आदि अनुसरणीय हो सकती है लेकिन सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया में वे अकसर रूढ़िवादी बनने लगते हैं तथा उन्हें उलटा चलते भी देखा जाता है। सांस्कृतीकरण की अत्यधिक जटिल और कभी-कभी विभ्रम पैदा करने वाली प्रकृति को स्वीकारते हुए श्रीनिवास ने स्वयं कहा है कि "सांस्कृतीकरण एक बहुत ही जटिल और विषम धारणा है। यह भी सम्भव है कि उसे एक अकेली धारणा न मानकर धारणाओं का समूह समझा जाए तब वह अधिक लाभदायक सिद्ध होगी। याद रखने की जरूरी बात है कि यह केवल एक विस्तृत एवं व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया का नाम है।"

सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया के बारे में कुछ बातें और ध्यान में रखना चाहिये ताकि बहुत से भ्रमों से दूर रहा जा सके। सांस्कृतीकरण को समझने का एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि सांस्कृतीकरण सदैव सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने का प्रयास नहीं है। उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण निम्न जातियों की ओर से कभी-कभी एक प्रकार की चुनौती और विद्रोह भी माना जा सकता है जो उनके परम्परागत सामाजिक-आर्थिक वंचन और उसके परिणामवश आई निराशा व क्रोध का प्रतीक हो सकता है। 'परम्पराओं' का इतना खुल्लमखुल्ला उल्लंघन ऊंची जातियों को अकसर और अधिक आक्रामक बना देता है। परम्परागत तौर पर विशेषाधिकृत वर्ग जब परम्परागत गैर-विशेषाधिकृत वर्गों के साथ सामाजिक-आर्थिक लाभों और सुविधाओं का बंटवारा नहीं करते तो इसका परिणाम हिंसा के रूप में सामने आता है। एक और दृष्टि से देखा जाए तो यह भी कहा जा सकता है कि सांस्कृतीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक स्थिति में होने वाला परिवर्तन

अक्सर वास्तविक न होकर आभासी या भ्रामक होता है और यह परिवर्तन परम्परागत सामाजिक असमानताओं के खिलाफ होने वाले विद्रोह को रोकने के लिये "सेफ्टी वाल्व" (safety valve) का काम भी करता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि सांस्कृतीकरण एक प्रकार से भाग्यवादिता व कर्म के सिद्धांतों का अस्वीकरण भी है क्योंकि यदि सांस्कृतीकरण में संलग्न निम्न जातियां व समूह अपनी जन्मजात सामाजिक स्थिति को पूर्णरूपेण ईश्वर का फैसला मान लेतीं तो अपनी वर्तमान स्थिति को सुधारने व जाति संस्तरण में ऊपर उठने का प्रयास न करतीं। इसी प्रकार के बहुत से दूसरे विरोधाभास सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया में देखे जा सकते हैं। यहीं पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अस्पृश्य जातियां शायद ही कभी इस प्रक्रिया के द्वारा स्पृश्य स्थिति हासिल कर पाती हैं। इसके अतिरिक्त सांस्कृतीकरण में लगी जातियों को पहले धन व सम्पत्ति प्राप्त करना जरूरी है जिसके उपरान्त ही सांस्कृतीकरण सफल हो सकता है।

एस०सी०दूबे ने सांस्कृतीकरण की सीमाओं को रेखांकित करते हुए कहा है कि सांस्कृतीकरण की परिकल्पना ने अपने सीमित लक्ष्यों की सम्पूर्ति बेहतर ढंग से की है किन्तु जब हम भारत की जटिल संस्कृति के चित को विश्लेषित करने के लिए इसे मुख्य उपकरण के रूप में अपनाते हैं तो यह अनेक संदर्भों में अपूर्ण व अभावग्रस्त दीखती हैं। विस्तृत रूपरेखा में "सांस्कृतिक प्रतिरूप" (Sanskritic Model) आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु सावधानी के साथ किया गया इसका गहन विश्लेषण बताता है कि यह अधिकांशतया छलावा ही है।

सांस्कृतिक स्रोत एक ही प्रतिरूप (model) नहीं उपलब्ध कराते वरन् अनेक प्रतिरूप प्रस्तुत करते हैं, यहां तक कि उनमें से कुछ मौलिक रूप से विरोधी आदर्शों के साथ शामिल होते हैं जिसे हम 'हिन्दू दर्शन' कहते हैं। वह केवल एक ही विचार पद्धति (school of thought) से सम्बद्ध नहीं है बल्कि उसमें अनेक भिन्न-भिन्न योजनाओं और मूल्यों को पहचानते हुए तथा उनकी वकालत करते हुए उनमें चुनाव के अनुपात का क्षेत्र निश्चित ही विशाल है। सांस्कृतिक स्रोतों के द्वारा किसी विशिष्ट तत्व के चुनाव के लिए जो बड़ा क्षेत्र उपलब्ध कराया जाता है उसमें व्यक्ति स्वतन्त्र होते हुए भी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं रहता। यह विशाल क्षेत्र भी विशिष्ट समूहों व

समुदायों के क्षेत्रीय प्रसंगों व ऐतिहासिक परम्पराओं के द्वारा शर्तबद्ध होता है। इस प्रकार यह दिखाई पड़ेगा कि सामान्यीकृत सम्पूर्ण भारत का सांस्कृतिक प्रतिरूप एक विश्लेषक उपकरण (analytical tool) के रूप में उपयोगी कम छलावा अधिक होगा। बेहतर होगा यदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय दशाओं तथा ऐतिहासिक परम्पराओं के संदर्भ में उपयुक्त एवं अनुकूल लगने वाले ऐसे प्रतिरूपों की एक श्रेणी बनायी जाये। बाल की खाल निकालने वाले विरोधाभासी विवाद में न पड़कर यह कहा जा सकता है कि सभी समूह और समुदाय समान "सांस्कृतिक स्त्रोतों" से ही अपने प्रतिरूप नहीं निकालते हैं।

मुसलमान, ईसाई और पारसियों के अलावा, यहां तक कि हिन्दुओं में भी, बहुत से ऐसे विशिष्ट समूह हैं जिनकी धार्मिक गाथायें संस्कृत में न होकर दूसरी भाषा में वर्णित हैं। बुद्ध, कबीर, रविदास, दादू या ज्योतिबा फूले आदि के अनुचर अपने इन्हीं लोगों के लेखन से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और ये लेखन संस्कृत में नहीं हैं। प्रायः ये ऐसी भाषाओं में हैं जो अधिकाधिक जनता के द्वारा समझी जा सकती है। उन लोगों ने जो भी कुछ कहा केवल उनके एक हिस्से पर ही "सांस्कृतिक स्त्रोतों" के प्रभाव का 'आरोपण' किया जा सकता है। उनके साहित्य का अधिकांश भाग ऐसा है जिसमें उन्होंने जो कुछ कहा वह सांस्कृतिक प्रतिरूप में उल्लिखित कुछ केन्द्रीय विचारधाराओं का सजग निषेध करता है। ऐसी हालत में क्या सांस्कृतिक प्रतिरूप की अपेक्षा शास्त्रीय प्रतिरूपों (classical models) की बात करना अधिक उपयोगी नहीं होगा? किन्तु सांस्कृतीकरण के सम्बन्ध में श्रीनिवास की व्याख्या शब्द के अर्थगत पक्ष पर सम्पूर्ण जोर नहीं डालती है। सांस्कृतीकरण के नये अभिकारकों के बारे में बात करते हुए श्रीनिवास (1992) गांव की दैवीय आस्थाओं से सम्बद्ध तथा पंचांगों में निर्दिष्ट उत्सवों के सम्बन्ध में उल्लेख करते हैं। उत्सवों का बड़े पैमाने पर सांस्कृतीकरण हुआ है। भारत के कस्बों और शहरों में हरिकथा, यज्ञ, जागरण आदि बड़े धूमधाम के साथ मनाये जाते हैं। रेशमी-राजसी वस्त्रों से अलंकृत या गेरुए वस्त्र धारण किये ऐसे बहुत से धार्मिक व्यक्ति या नेता देखे जा सकते हैं जो मनुष्य को मुक्ति या भौतिक उपलब्धि प्रदान करने का आश्वासन दे रहे होते हैं। भारतीय परिदृश्य में यह सामान्य बात है। अखबार, रेडियो, टेलीविजन आदि के आविष्कार के पहले दर्शकों के जिस परिणाम की वे कल्पना भी नहीं कर

सकते थे, वे उन्हें अप्रत्याशित रूप में ही प्राप्त हुए। इनमें से प्रत्येक को सांस्कृतीकरण अभिकारक कहा जा सकता है। भारतीय सिनेमा ने धार्मिक महाकाव्यों तथा पुराणों से धार्मिक कथाएं लेकर प्राय: उसका उपयोग किया। कम दामों में उपलब्ध पुस्तकों ने हिन्दू धर्म साहित्य से लोगों का परिचय इस स्तर तक करा दिया, जितना कि पहले कभी भी सम्भव नहीं था। सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के रूप में सांस्कृतीकरण गैर-हिन्दू समुदायों और विशेष रूप से उन समुदायों में जो सामाजिक सोपानिक (social hierarchy) रखने वाले यथा मुस्लिम, सिक्ख तथा अन्य समुदायों में भी देखा जा सकता है। गैर-हिन्दू समुदायों में भी प्रतिष्ठा में वृद्धि (status elevation) के लिए समतापरक सांस्कृतिक अनुसरण (cultural emulation) एक मुख्य घटक रहा है। सांस्कृतीकरण की संयुक्ततापरक संसर्गज भूमिका विशेष रूप से हिन्दुओं से बाहर के समूह यथा किसी जनजाति, के बारे में बात की जाये तो यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतीकरण ऐसे समूहों को अपने प्रभाव क्षेत्र में खींच लेता है जिससे स्वाभाविक रूप से वह जनजाति कोई विशिष्ट जाति बन जाती है तथा अन्य स्थानीय जातियों से नियमित सम्बन्ध रखने लगती है। हिन्दू व्यवस्था में जनजातियों के अन्तर्मुक्त होने सम्बन्धी बहुत से उदाहरण दिखायी पड़ते हैं, यथा-राजस्थान से मीना जनजाति, बिहार और पश्चिम बंगाल से संथाल और मुण्डा, उत्तर प्रदेश से जौनसारी और थारू जैसी जनजातियां।

जब हम किसी निम्न जाति के उच्च जाति या प्रभुजाति की ओर सांस्कृतिक अनुकरण की अभिलाषा के बारे में बात करते हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुत से मामलों में सांस्कृतिक अनुकरण ही इसके पीछे मुख्य कारण नहीं है। जैसा कि पहले बताया गया है, प्रत्युत इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक वंचना के विरुद्ध एक चुनौती या विद्रोह की भावना को अभिव्यक्त करने की भावना भी सन्निहित है। जैसे कि निम्न जाति का दूल्हा घोड़े पर चढ़कर न जाये, सामाजिक-आर्थिक वंचना प्रमाण है, जो उनके मस्तिष्क में क्षोभ पैदा करता है। ऐसी प्रथाओं का उल्लंघन शायद सांस्कृतीकरण न होकर वंचन के विरुद्ध बगावत है। यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि निम्न जातियां अपने परम्परागत शोषकों व उत्पीड़कों की ही जीवन पद्धति का अनुकरण क्यों करें? वे उनके सांस्कृतिक तत्वों को

अपनी जीवन पद्धति में क्यों ग्रहण करें? एक मानव घृणित समूह का अनुकरण क्यों करें? इसके उत्तर में हैरोल्ड गोल्ड (1988) द्वारा दी हुयी व्याख्याओं में एक व्याख्या यह है कि निम्न जातियों के लोग सांस्कृतीकरण को इसलिए नहीं अपनाते कि वे जाति व्यवस्था को मानने से इन्कार कर दें, बल्कि वे जाति व्यवस्था की लगाम अपने हाथ में लेना चाहते हैं जिससे कि वे उच्च जातियों के साथ वैसा ही व्यवहार कर सकें जैसा कि उनके साथ किया गया था, या अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उसी क्षेत्र में प्राप्त कर सकें जहां उन्होंने उसे खोया था। इसी प्रकार वे अपने मानसिक क्षोभ से मुक्त हो सकते हैं। केवल तभी उनमें सन्तोष का भाव आ सकेगा और वे कुछ ठोस चीज तथा अपने अतीत के संदर्भ में अत्यधिक सुसंगत अनुभूति प्राप्त कर सकेंगे।

विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों में हमारी जीवन पद्धति में कर्मकाण्डीय घटकों (ritual components) के महत्व में कमी हो जाने की वजह से कुछ शोधकर्त्ताओं ने यह टिप्पणी की कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया रुक गयी है क्योंकि सामाजिक प्रतिष्ठा के निर्धारण में कर्मकाण्डीय सोपानिकी (ritual hierarchy) ने अपना औचित्य खो दिया है। वस्तुतः इस प्रकार के कथन वस्तुस्थिति को सामान्यीकृत (sweeping generalization) करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है अन्यथा अब भी 'आधुनिक' और 'प्रगतिशील' कहे जाने वाले लोगों का अधिकांश भाग जीवनसाथी के चुनाव में जाति को क्यों महत्व देता है? यद्यपि यह सत्य है कि धर्मनिरपेक्ष प्रस्थिति (secular status) के लिए शक्ति और धन ही मुख्य साधन हैं, तब भी इस प्रकार के किसी भी साधन से प्राप्त की गयी प्रस्थिति अपनी वैधता के लिए या तो सवर्ण सामाजिक समूह की स्वीकृति तलाशती है या किसी व्यक्ति को उसके वास्तविक अतीत को नये वर्तमान में दफनाने के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार प्रस्थिति के नये सिद्धान्त भी सामाजिक स्तरीकरण के जातीय सिद्धान्त के साथ सम्पूरक रूप में लागू होते हैं। विरला ही ऐसा अवसर होता है जब उक्त सिद्धान्त स्वायत्त रूप में कार्य करे।

इस चर्चा को किसी निष्कर्ष तक पहुंचाने के पहले हमें हैरोल्ड गोल्ड के निष्कर्ष पर पुनः अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वह कहते हैं कि श्रीनिवास की अवधारणा अन्ततः इस अवधारणा पर ही निर्भर करती है कि

सभी प्रस्थिति अधिक्रमों की तरह जाति व्यवस्था भी निम्न जातियों को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वे व्यक्तिगत रूप से उच्च वर्ग के साथ अपनी तुलना कर सकें और प्रत्येक ढंग से यह प्रयास करें कि दोनों की प्रस्थिति में जो भेदकारक आधारभूत तत्व हैं वे शान्त हो सकें, परिष्कृत हो सकें, कम हो सकें और यहां तक कि पूर्णतया मिट सकें। भारत की जाति व्यवस्था के लिए यह अद्वितीय बात नहीं है, बल्कि जिस ढंग से यह प्रक्रिया भारत में अपने को क्रियान्वित कर रही है वह अद्वितीय है और इस प्रक्रिया के अंतर्गत वह भारत में व्याप्त प्रस्थिति पद्धति को जो प्रगतिशील स्वभाव प्रदान करती है, वह अद्वितीय है। इसी के साथ सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया पकड़ में आती है। सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया अपनाने से भारतीय समाज में जो बदलाव आ रहे हैं उनका दूरगामी महत्व है जो कि भारतीय समाज के विद्यार्थी को समकालीन भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन के स्वभाव को समझने में बहुत सहायक हैं।

पाश्चात्यीकरण

सांस्कृतीकरण की तुलना में पाश्चात्यीकरण बड़ी सरल धारणा है। इसका सम्बन्ध भारत में सभी प्रकार के सांस्कृतिक परिवर्तनों और संस्थागत नवीनीकरण से है, विशेष रूप से जब से यह देश पश्चिम के देशों, विशेष रूप से ब्रिटेन के राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क में आया है। यथार्थतः इस शब्द के अंतर्गत वे सभी परिवर्तन आ जाते हैं जो अंग्रेजों के 150 वर्षों के शासन काल में भारतीय समाज और संस्कृति में विभिन्न स्तरों पर टेक्नोलॉजी, विचारधारा, मूल्यों और संस्थाओं आदि में हुए हैं। श्रीनिवास इस प्रक्रिया को आधुनिकीकरण के बजाय पाश्चात्यीकरण का नाम देना अधिक पसन्द करते हैं। इन दोनों के बीच एक सीमा रेखा भी होनी चाहिए। बड़े पैमाने पर पाश्चात्यीकरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अध्यात्म के बजाय भौतिकता पर बल, व्यक्तिवाद, समाज की विभिन्न समस्याओं के प्रति उदार दृष्टिकोण, मानवतावाद, समानता और बुद्धिवाद आदि शामिल हैं। देश में वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और शैक्षिक संस्थानों की स्थापना, राष्ट्रवाद का उदय, नयी राजनीतिक संस्कृति एवं नया नेतृत्व पाश्चात्यीकरण के ही परिणाम हैं। श्रीनिवास का विचार है कि पाश्चात्यीकरण सांस्कृतीकरण की प्रगति में अवरोध नहीं डालता वरन् दोनों साथ-साथ आगे बढ़ सकते हैं। कुछ मामलों में तो

पाश्चात्यीकरण से सांस्कृतीकरण की गति तीव्र होती है। उदाहरणार्थ, डाक सुविधा, रेल, समाचार पत्र, पत्रिकाओं आदि से, जो पश्चिमी प्रौद्योगिकी की देन हैं, तीर्थाटन, पर्यटन, धार्मिक प्रचार तथा जातीय एवं साम्प्रदायिक सम्मेलनों को बढ़ावा मिला है। इसके अलावा पाश्चात्यीकरण का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह भी है कि उसके प्रभाव में बहुत-सी उच्च जातियां (जो अंग्रेजी शिक्षा के कारण उसके प्रभाव के सामने पूर्णत: अनावृत्त है) रहन-सहन की अपनी परम्परागत शैली को त्याग देती हैं।

यह देखा गया है कि प्राय: पाश्चात्यीकृत व्यक्ति 'जाति के संसार' में कम तथा 'वर्ग के संसार' में अधिक रहते हैं। दूसरे शब्दों में, उनमें जातीय चेतना की अपेक्षा वर्ग चेतना अधिक पायी जाती है। उन्हें गैर-परम्परागत व्यवसाय अपनाने में अधिक हिचक नहीं होती, वे आनुष्ठानिक प्रदूषण (ritual pollution) के नियमों की अनदेखी करते पाये गये हैं, वे गोत्र या जातिगत नामों का परित्याग कर सकते हैं, मांसाहारी हो सकते हैं, रसोई या चौके में भोजन करना छोड़ सकते हैं, अकसर जनेऊ पहनने में उन्हें शर्म आती है, आदि। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पाश्चात्यीकृत लोग अपनी परम्परागत जीवन शैली-पद्धति को छोड़ कर पाश्चात्य प्रतिरूपों (western models) को अपनाने की ओर अग्रसर होते दिखायी देते हैं। दूसरे शब्दों में बहुत-सी बड़ी जातियों का झुकाव पश्चिमी तौर-तरीके अपनानें और परम्परागत नियम-कायदे छोड़ने की तरफ है। दूसरी ओर जाति व्यवस्था में ऊंचा स्तर पाने की इच्छुक निम्न जातियां इस 'रिक्त स्थान' की पूर्ति करते हुए सांस्कृतीकरण के वे तत्व अपना रही हैं, जो उच्च्व जातियों के लोग पाश्चात्यीकरण के प्रभाव में छोड़ रहे हैं। यह इस तथ्य की दूसरी मिसाल है कि पाश्चात्यीकरण और सांस्कृतीकरण साथ-साथ चल सकते हैं और चल रहे हैं।

भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों में पाश्चात्यीकरण का प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। उसने जाति प्रथा को प्रभावित किया है, घटती हुई रूढ़िवादिता काफी हद तक पाश्चात्यीकरण के प्रभाव को परिचायक है, पाश्चात्यीकरण ने ही संयुक्त परिवार की संस्था के ह्रास को बढ़ावा दिया है और उसने समाज सुधार के कई आन्दोलनों को प्रेरणा दी है। आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में इससे कुटीर उद्योग का विघटन हुआ, खेती में क्रान्तिकारी

परिवर्तन हुए, भूमि सम्बन्धी प्रबन्ध में नये सुधार हुए, लोकतंत्रीय मूल्यों, मान्यताओं, आदर्शों और जागरूकता को प्रोत्साहन मिला तथा सामाजिक न्याय और देश भर में समान प्रशासन पद्धति की व्यवस्थाएं (uniform administrative system) संभव हो सकीं। यथार्थतः मानवतावाद और हेतुवादी दृष्टिकोण पर बल देना पाश्चात्यीकरण का अंग है और उसी के कारण से ही भारत में अनेक सामाजिक व संस्थागत सुधार हो सके हैं।

आजादी के बाद पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है। पहले ऐसा विचार था कि यह प्रक्रिया केवल उच्च जातियों तक ही सीमित है क्योंकि उनके पास इस प्रक्रिया को अपनाने के अधिक साधन हैं, लेकिन वास्तविक परिस्थितियों में देखा गया है कि शहरी क्षेत्रों में निम्न जातियों के सम्पन्न लोग अपनी सामाजिक स्थिति को बेहतर बनाने के लिए सांस्कृतीकरण के बजाय पाश्चात्यीकरण अपनाना अधिक पसन्द करते हैं और उसे प्राथमिकता देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निम्न जाति के लोग सांस्कृतीकरण पर अपनी अत्यधिक ऊर्जा खर्च करते हैं जबकि बहुत-सी ऊंची जातियों के लोग अपने और निम्न जातियों के बीच की दूरी को बनाए रखने के लिए पाश्चात्यीकरण की तरफ अग्रसर हो जाते हैं। इस प्रवृति का मुख्य कारण यह है कि पुरानी सामाजिक व्यवस्था में निम्न जातियों की सांस्कृतीकरण सम्बन्धी क्षमता के कारण उच्च जातियों के लिये यह सामाजिक दूरी (social distance) बनाये रखना कठिन हो गया है। अपने इस तर्क का सम्पूरक प्रस्तुत करते हुए आगे हैराल्ड गोल्ड टिप्पणी करते हैं कि यदि कोई व्यक्ति पहले से ही सांस्कृतीकृत है जैसे कि ब्राह्मण और राजपूत, तब वह पारम्परिक स्तरीकृत व्यवस्था में और ऊपर नहीं जा सकता। यदि ऐसा कोई व्यक्ति राजनीतिक या आर्थिक शक्ति के माध्यम से वस्तुस्थिति को उसी रूप में नहीं कायम रख सकता जिस रूप में वह है, तब वह नीचे ही जा सकता है या वह समानता की अवधारणा को स्वीकार करे, जिसका अर्थ होगा जाति व्यवस्था की शून्यात्मकता को स्वीकार करना, या सामान्य रूप में सोपानिकी सम्बन्धों की निषेधात्मकता को स्वीकार करना। किन्तु यह उच्च जातियों के लिए नितान्त असम्भव होगा क्योंकि उनकी अवधारणाओं में जन्मगत श्रेष्ठता या कुलीनता का विचार घर किये हुए है। इसलिए उच्च जातियों के बहुत से

लोग पाश्चात्यीकरण अपनाकर जाति व्यवस्था के 'बाहर' चले जाते हैं और यह बात उनके आडम्बर को कायम रखने में तथा स्तरीकरण के दृष्टिकोण से भारतीय समाज में उल्लेखनीय स्थान बनाने में उनकी सहयोगी होती है। ऐसी स्थिति में निम्न जातियों के लोग उच्च जातियों से समानता की मृगतृष्णा के पीछे सदा भागते रहते हैं। किन्तु जब वे अपने लक्ष्य तक पहुंचते हैं तो पाते हैं कि जिस स्थान को वे पाये हैं उसे ब्राह्मण या अन्य उच्च जाति ने स्वयं खाली कर दिया है और वह पाश्चात्यीकरण के उच्चतर शिखर पर प्रतिष्ठित हो गया है जहां से वह नीचे की ओर तिरस्कारयुक्त नजरों से देख रहा है। शायद यही कारण है कि कस्बों और शहरों में निम्न जातियों के बहुत से उच्चशिक्षा प्राप्त एवं आर्थिक रूप से सम्पन्न लोग सीधे पाश्चात्यीकरण की ओर जा रहे हैं। किन्तु निम्न जाति की अधिकांश जनसंख्या के लिए पाश्चात्यीकरण का मुहावरा व जीवनशैली अत्यधिक जटिल तथा अव्याख्येय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सांस्कृतीकरण और पाश्चात्यीकरण की प्रक्रिया के बीच एक महत्वपूर्ण व गतिशील रोचक खेल चल रहा है।

पाश्चात्यीकरण का मुहावरा भी विवादों और जटिलताओं से मुक्त नहीं है। कुछ विद्वानों ने इसके स्थान पर "असांस्कृतीकरण" (desanskritization) शब्द के प्रयोग का तर्क दिया है। श्रीनिवास भी इसे भारत पर अंग्रेजों के प्रभाव के बराबर मानते हैं। पूरे परिवेश में यदि देखा जाए तो उनकी बात सही नहीं लगती। आजादी के बाद के युग में भारत में बड़े पैमाने पर रूसी और अमेरिकी प्रभाव देखे गये हैं। आधुनिकीकरण और विशेषज्ञता के रूसी और अमेरिकी संस्करण दोनों ही हमारे दूरगामी आर्थिक मामलों में इस्तेमाल किये गये हैं और उन्होंने भारतीय समाज को काफी हद तक प्रभावित भी किया है। पंचवर्षीय योजनाओं का जारी रहने वाला सिलसिला, सार्वजनिक क्षेत्र, अधिकाधिक राष्ट्रीयकरण और हमारे आर्थिक नियोजन का समाजवादीकरण आदि बातें हम पर समाजवाद के प्रभाव की स्पष्ट मिसालें हैं, जो समाजवादी भूतपूर्व सोवियत संघ के साथ भारत की गहरी मित्रता के परिणाम हैं। हाल ही में, विशेष रूप से हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में, अपनाई गई स्वास्थ्य रक्षा कार्यवाहियों में हमें चीन का प्रभाव भी देखने को मिला है। कुछ अन्य विद्वान "पाश्चात्यीकरण" शब्द में उपनिवेशवाद की गन्ध महसूस करते हैं। इसलिए वे इसके लिए "आधुनिकीकरण" शब्द के पक्षधर हैं।

इहलौकीकरण

धर्म-निरपेक्षीकरण (इहलौकीकरण) की प्रक्रिया पाश्चात्यीकरण की धारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। एक तरह से वह पाश्चात्यीकरण का ही एक अंग है, जबकि कुछ लोग उसे पाश्चात्यीकरण का एक परिणाम मानते हैं।

धर्म-निरपेक्षता को भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के समय में बढ़ावा मिला। औद्योगिक क्रान्ति और उसके बाद संचार और यातायात के साधनों में वृद्धि, शिक्षा, विशेष रूप से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार, शहरों और कस्बों का द्रुत गति से और निरन्तर विकास तथा आधुनिक विज्ञान व टेक्नोलॉजी के विभिन्न उपकरणों का अधिकाधिक प्रयोग, इन सभी ने लोगों के मानसिक क्षितिज और सोचने के ढंग को प्रभावित किया। पहली बार भारत के लोगों विशेष रूप से शहर और कस्बों में लोगों के सामने नये विचार और विचारधाराएं आईं। अब दूर-दूर और एकान्त में बसे समूहों और समुदायों में अन्योन्याश्रित क्रिया अर्थात् सम्पर्क द्वारा परस्पर प्रभावित करने के काम में तीव्रता से वृद्धि हुई। हेतुवाद और मानवतावाद के विचारों ने लोगों में सोचने की प्रक्रिया को नये आयाम दिये। इन सभी तत्वों ने धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को मजबूत किया। अनेक मिथों का अन्त हुआ और दूसरे लोगों के बारे में चली आ रही रूढ़ भावनाएं बदलीं और सच्चाइयों के निकट पहुंचीं। इस पूरे लेख में धर्म शब्द को मजहब के अर्थों में इस्तेमाल किया गया है।

भारतीय समाज में धर्म-निरपेक्षीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव यह देखा गया कि भारतीय जनता ने पहली बार अपनी बहुत-सी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के समझने और उनका विश्लेषण करने में धर्म (मजहब) से अलग दृष्टिकोण अपनाया। आज समाज के एक बड़े भाग के लिए विशेषकर शहरों में, यह सम्भव है कि वह विश्व की अनेक समस्याओं पर स्वतंत्र रूप से, धर्म की सीमाओं से ऊपर उठकर, विचार कर सके। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात है कि धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया ने बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों को ऐसी अंतर्दृष्टि प्रदान की कि वे नैतिकता और नैतिक मूल्यों के मामलों की धर्म से अलग हटकर विशुद्ध हेतुवादी एवं मानवीय दृष्टि से विवेचना कर सकें। पहले यह एक स्थापित मान्यता थी

कि आचारशास्त्र एवं नैतिकता धर्म से ही जुड़े हैं। उन्हें उससे अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रचलित विचार यही था कि केवल स्थापित धर्म ही आचारशास्त्र और नैतिकता के मामले में समाज का मार्गदर्शन करते हैं और धर्म ही उनका प्रधान स्रोत है।

राष्ट्रवाद के उदय और स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन ने भी धर्म निरपेक्षीकरण को बड़े पैमाने पर प्रोत्साहन प्रदान किया। विविध प्रकार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले यहां तक कि परस्पर विरोधी धार्मिक विचारधारा वाले लोग स्वतंत्रता आन्दोलन के झंडे के नीचे जमकर खड़े हुए। स्वतंत्र भारत के संविधान ने उसे गणतंत्र का आदर्श स्वरूप माना। हमारे संविधान की सारभूत भावना में विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक हितों में सामन्जस्य स्थापित करने वाली अनेक व्यवस्थाओं के पीछे मूलतः धर्म-निरपेक्षीकरण की ही गतिशक्ति है। हालांकि धार्मिक कट्टरता और पुनर्जागरण की शक्तियां भी सक्रिय रही हैं तो भी धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया की जड़ें निरंतर गहराई प्राप्त करती रही हैं। इसका इससे बढ़कर ज्वलंत प्रमाण और क्या हो सकता है कि देश के विभाजन और सीमा पर ही एक धार्मिक राष्ट्र की स्थापना के बावजूद हमारा धर्म-निरपेक्ष संविधान निरंतर प्रभावपूर्ण ढंग से काम कर रहा है।

सांस्कृतीकरण की तुलना में भी धर्म-निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया एक व्यापक प्रक्रिया है जहां सांस्कृतीकरण प्रधानतः केवल हिन्दुओं से सम्बन्धित है। धर्म-निरपेक्षीकरण शहरी और पढ़े-लिखे लोगों को अधिक आकर्षित करता है, जबकि सांस्कृतीकरण का आकर्षण नीची जातियों तक ही सीमित है। धर्म-निरपेक्षीकरण आधुनिक युग का उपहार है, पाश्चात्यीकरण का उप-उत्पादन है, सांस्कृतीकरण परम्परा और रूढ़िवादिता से जुड़ा हुआ है।

आधुनिकीकरण (Modernisation)

द्वितीय महायुद्ध के बाद, विशेष रूप से 1950 और 60 के दशकों में आधुनिकीकरण एक महत्वपूर्ण व रोचक विषय रहा है। आर्थिक सम्वृद्धि और सामाजिक परिवर्तन की अन्तर्सक्रिय प्रक्रिया पर प्रकाश डालने वाले के रूप में यह 'विकास के समाजशास्त्र' की केन्द्रीय अवधारणा के रूप में मान्य रहा है। आधुनिकीकरण के अंतर्गत मुख्यतया परम्परागत सामाजिक संरचना

और मूल्यों पर आर्थिक विकास के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया औद्योगीकरण, शहरीकरण, उच्चस्तरीय जीवन पद्धति, सभ्यता का विकास और चिन्तन क्षेत्र की विशदता से सम्बद्ध है। आधुनिकीकरण की परिभाषा करते हुए आइसेनस्टेडै (1966) कहते हैं कि "ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आधुनिकीकरण उन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, पद्धतियों की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के बीच पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में विकसित हुई थी और बाद में उन्नीसवीं व बीसवीं सदी में दक्षिणी अमेरिका, एशिया और अफ्रीका में फैली।" समकालीन सन्दर्भों में आधुनिकीकरण द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद के दशक में तीसरी दुनिया के देशों द्वारा सामना की जा रही बहुत-सी चुनौतियों के प्रति पाश्चात्य सामाजिक विज्ञान की प्रतिक्रिया है। इसलिए कुछ विद्वानों ने आधुनिकीकरण के नैतिक-नीतिशास्त्रीय (ethical) पक्ष पर अपने प्रखर युक्तिसंगत विश्लेषण में एस॰सी॰ दूबे (1988) कहते हैं कि इस अवधारणा का एक आकर्षक पक्ष यह था कि इसने तीसरी दुनिया की आम जनता व अभिजात्य वर्ग दोनों की सांस्कृतिक संवेदनाओं के प्रति स्पष्ट एवं गहन सम्बद्धता को दिखाया। आधुनिकीकरण अपने पूर्वनिर्दिष्ट पाश्चात्यीकरण की तुलना में बहुत कम मूल्यपरक (value loaded) था। तीसरी दुनिया के बहुत से देशों को अपनी सांस्कृतिक विरासत व परम्परा पर बड़ा गर्व था। साथ ही साथ गहन लगाव भी था। बहुत से पाश्चात्य-मानकों के प्रति रुचि दिखाने के बावजूद इन लोगों को अपनी जीवन पद्धति एवं मूल्यों को छोड़ने की शक्ति या परम्परागत व्यवस्था की शक्ति (strength of roots) का सम्यक् ज्ञान था। इसने उन लोगों की सांस्कृतिक पहचान के सामने कोई प्रत्यक्ष संकट नहीं पैदा किया जो शीघ्र परिवर्तन के इच्छुक थे। तीसरी दुनिया के अभिजात्य लोगों के लिए पाश्चात्यीकरण के आदर्श निगलने में बड़ी कठिनाई थी। इसलिए वे आधुनिकीकरण को अपनाने के लिए सहर्ष तैयार हो गये क्योंकि इसने उन लोगों की सांस्कृतिक महत्ता (cultural dignity) को आहत नहीं किया। लर्नर (1958) के अनुसार तीन लक्षण आधुनिकीकृत व्यक्तित्व (modernized personality) की पहचान निश्चित करते हैं: तटस्थता (empathy) गतिशीलता और उच्चस्तरीय सहभागिता। तटस्थता वह क्षमता है जो व्यक्ति को उसी दृष्टिकोण से दूसरे लोग देखते

हैं। यद्यपि सभी समाज कुछ मात्रा में यह क्षमता रखते हैं किन्तु इस क्षमता को और तीक्ष्ण एवं शक्तिशाली बनाया जाता है जिससे यह मनुष्य के अन्तर्व्यवहारों में गुणात्मक परिवर्तन ला सके। आधुनिकीकृत समाजों में ऐसे ही परिवर्तन की अपेक्षा की जाती है। दूसरा, "गतिशीलता" का संदर्भ केवल भौगोलिक गतिशीलता का बोध नहीं कराता, बल्कि इसका विशद अर्थ सन्दर्भ में प्रयोग किया जाता है। परिवर्तन के निर्देशक तथ्यों की मांग होती है समझने व परिकल्पना करने की क्षमता उत्पन्न करना, विभिन्न अवसरों के अनुरूप नये स्तर व प्रतिष्ठा से अनुगत होना तथा सहगामी भूमिकायें निभाना। परम्परागत समाजों में सामाजिक स्तरों व भूमिकाओं को अत्यंत संकुचित कर दिया गया है किन्तु इसके विपरीत आधुनिकीकृत समाज में सामाजिक स्तर का खुला दृष्टिकोण होता है। तीसरा, उच्चस्तरीय सहभागिता का संदर्भ सामाजिक लक्ष्यों एवं संसाधनों को अत्यधिक सक्रिय ढंग से अनुभव करने के लिए व्यक्तियों की निजी स्तर पर बढ़ी हुयी भूमिकाओं की ओर संकेत करता है। उच्च स्तरीय सहभागिता के लिए व्यक्ति में नये उद्देश्यों या बदले हुए संसाधनों को देखने, समझने तथा उनके अनुरूप अपनी भूमिका निर्धारित करने की क्षमता विद्यमान होना चाहिए, परम्परागत समाजों में सामाजिक उद्देश्यों व संसाधनों का सम्बन्ध निश्चित ही युक्तिसंगत दृष्टिकोण से है।

आधुनिकीकरण का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि आधुनिकीकृत समाज संस्थागत ढांचों के माध्यम से कार्य करते हैं क्योंकि संस्थायें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में आने वाले परिवर्तनों को हमेशा आत्मसात् करते हुए चलती हैं। हम बहुत संक्षेप में देखें कि कैसे समकालीन भारतीय समाज आर्थिक विकास और सामाजिक विकास की ओर परिवर्तन के लिए आधुनिकीकरण को अपनाने के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में राष्ट्र की उपलब्धि इतनी खराब नहीं है जितना कि कुछ आलोचक बताते हैं। तीसरी दुनिया के बहुत से देशों की तुलना में हमारे देश की उपलब्धि इन क्षेत्रों में बेहतर है। किन्तु विकास विकृत पक्षीय (lopsided) और क्षेत्रीय असन्तुलन से परिपूर्ण है। आर्थिक सम्वृद्धि के विवरण पक्ष और आधुनिकीकरण के लाभों के सम्यक् प्रसरण के सम्बन्ध में बहुत कम ध्यान दिया गया है। सम्भ्रान्तवाद (elitism) का विकास भयावह रूप से हो रहा है, इस पर रोक लगाई जानी चाहिए। वर्तमान में हो रहे नैतिक क्षरण की स्थिति में भ्रष्टाचार व भाई-भतीजावाद में

भयावह वृद्धि हो रही है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए सभी सम्भावित राजनीतिक एवं प्रशासनिक कदम उठाये जाने चाहिए, समाज के संसर्गज बन्धन (cohesive bonds) को मजबूत बनाया जाना चाहिए। आधुनिक समाज विवेकयुक्त एवं वैज्ञानिक समाज है। हमारे पड़ोस के देशों में रूढ़िवादी शक्तियां सक्रिय हैं और अभी हाल में हमारे देश पर इन शक्तियों के दबाव का प्रभाव भी पड़ा। बाबरी मस्जिद-राम जन्मभूमि के विवाद के संदर्भ में धार्मिक पुनर्जागरण, अन्धविश्वासवाद और रूढ़िवाद की लहर उठना खतरनाक है। 6 दिसम्बर, 1992 की घटना भयावह है, यह हिन्दू और मुसलमान के संयुक्त सामाजिक दामन को फाड़कर तारतार करने की धमकी है। राष्ट्र की रक्षा के लिए अल्पसंख्यकों को भी अन्धविश्वासवाद और रूढ़िवाद से चिपके रहने की प्रवृत्ति को छोड़ कर प्रगतिशील एवं धर्म-निरपेक्ष लोकतांत्रिक शक्तियों को मजबूत करना चाहिए।

राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में सभी अल्पसंख्यकों की भागीदारी की संवृद्धि सुनिश्चित होनी चाहिए। हमारे युक्तिसंगत (rational) एवं वैज्ञानिक मनोवृत्ति (scientific temper) को अयोध्या विवाद के दौरान काफी क्षति पहुंचाई जा चुकी है। हमारे पास इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है कि हम उपलब्ध सभी संस्थागत कार्यप्रणालियों के माध्यम से विवेकवाद और वैज्ञानिक मनोवृत्ति को मजबूत बनायें। इस उद्देश्य को प्राप्त करने में हमारी असफलता आधुनिकीकरण के लिए भयानक क्षति सिद्ध होगी।

जैसा कि एस॰सी॰ दूबे ने ठीक कहा है कि "आधुनिकीकरण का कोई आदर्श नमूना नहीं है और न उसे प्राप्त करने का कोई निश्चित रास्ता ही है। विकासशील समाज अपनी रुचि के अनुरूप कोई नमूना चुन सकते हैं और इसकी अनुभूति तथा क्रियान्वयन के लिए रास्ता स्वयं निर्धारित कर सकते हैं"। हमने वांछित आधुनिकीकृत भारतीय समाज के लिए लोकतंत्र और धर्म-निरपेक्षता को चुना है, भारत के सांस्कृतिक और तकनीकी आधुनिकीकरण के लिए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी दूरगामी रूप से सहायक सिद्ध होंगे।

◆◆◆

21

प्रभु जाति

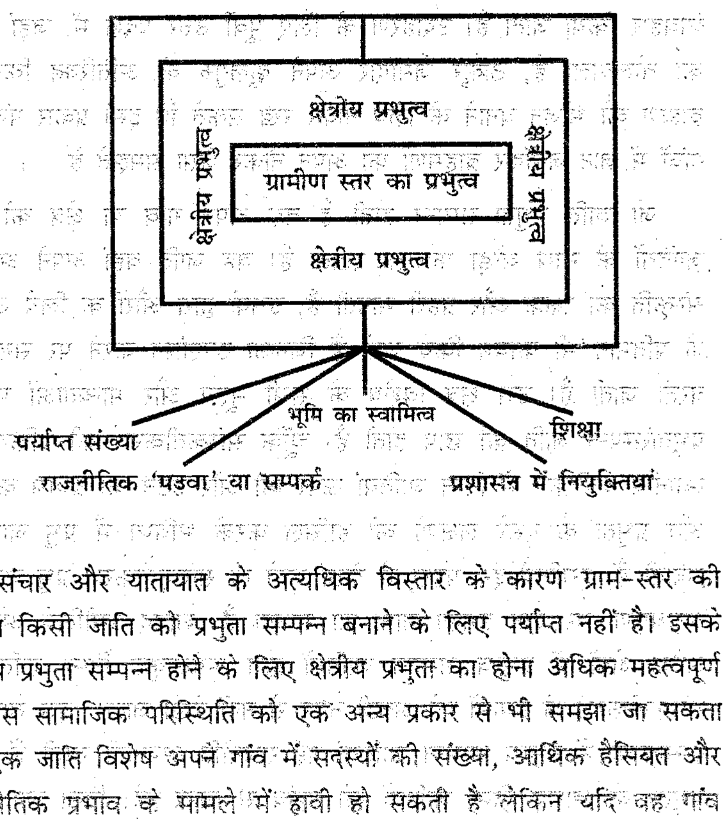
भारतीय खेतिहर समाज में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए यह जरूरी है कि ग्रामीण भारत में भू-स्वामियों की प्रभुत्व सम्पन्न जातियों के बारे में भी समझ लिया जाए। तीव्र औद्योगीकरण के बावजूद यहां अब भी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और राजनीतिक शक्ति का आधार भूमि का स्वामित्व है। 'अमेरिकन एन्थ्रोपोलॉजिस्ट' के 1959 के अंक में प्रकाशित लेख 'डॉमिनेन्ट कास्ट इन रामपुरा' में श्रीनिवास ने सर्वप्रथम प्रभुत्व सम्पन्न जाति की धारणा का उल्लेख किया। लीक से हटकर लिखे गए इस शोध प्रबंध ने भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया के बारे में एक नई अंतर्दृष्टि प्रस्तुत की। उसके बाद से अनेक समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों ने ग्रामीण भारत में प्रभुत्व सम्पन्नता के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने का काम अपनाया है।

श्रीनिवास ने बताया है कि प्रभुता सम्पन्न होने के लिए किसी भी जाति में निम्नलिखित बातों का होना जरूरी है:

1. उसके स्वामित्व में काफी मात्रा में कृषि योग्य भूमि हो,
2. उस जाति के लोगों की संख्या अच्छी-खासी हो,
3. वह स्थानीय जातियों में ऊंची और प्रतिष्ठा प्राप्त हो।

भूमि का स्वामित्व परम्परागत रूप से कुछ थोड़ी-सी जातियों तक सीमित रहा है। इन भू-स्वामी जातियों का भूमिहीन खेतिहर मजदूरों तथा अन्य पेशेवर कारीगर जातियों का साथ रहा है। भूमि सुधार के बयालीस वर्ष बाद भी एक तिहाई अनुसूचित जातियां भूमिहीन हैं और अन्य जातियों के पास छोटी-छोटी जोते हैं। इसके अलावा 'हरित क्रांति' ने भी कृषि योग्य भूमि के महत्व को काफी बढ़ा दिया जिसके परिणामस्वरूप कुछ पारम्परिक व्यापारिक जातियों का ध्यान भूमि के स्वामित्व की ओर भी आकृष्ट हुआ और वे अधिक से अधिक भूमि के स्वामी बनने के लिए भूमि खरीदने लगे।

इन सब बातों के अतिरिक्त यह भी सही है कि कोई भी जाति मात्र भूमि का स्वामित्व पाने, सदस्यों की संख्या अधिक होने अथवा प्रतिष्ठित होने से ही प्रभुतासम्पन्न नहीं हो जाती। उसके लि कुछ नये तत्वों का होना भी जरूरी है जैसे पश्चिमी शिक्षा, प्रशासन में उस जाति के लोगों की नियुक्तियां और राजनीतिक 'पउवा' आदि। यही कारण है कि कुछ जातियां जो पहले प्रभुता सम्पन्न थीं अब वैसी नहीं रहीं। वयस्क मताधिकार और सत्ता के लोकतंत्रीय विकेन्द्रीकरण (पंचायती राज्य) ने कुछ मध्यवर्गीय एवं निम्न जातियों को भी आगे बढ़ाया। राज्य और केन्द्रीय विधान मंडलों में आरक्षण की व्यवस्था से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का स्तर भी पहले से ऊंचा हुआ। इन दलित वर्गों के लोगों में शिक्षा के प्रसार से भी प्रभुता सम्पन्न होने के मापदण्ड में कुछ परिवर्तन आए।



संचार और यातायात के अत्यधिक विस्तार के कारण ग्राम-स्तर की प्रभुता किसी जाति को प्रभुता सम्पन्न बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके बजाय प्रभुता सम्पन्न होने के लिए क्षेत्रीय प्रभुता का होना अधिक महत्वपूर्ण है। इस सामाजिक परिस्थिति को एक अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है। एक जाति विशेष अपने गांव में सदस्यों की संख्या, आर्थिक हैसियत और राजनीतिक प्रभाव के मामले में हावी हो सकती है लेकिन यदि वह गांव

चारों ओर से विरोधी और रूष्ट जातियों से घिरा हुआ है तो उस जाति की गांव के स्तर की प्रभुता सम्पन्नता का कोई खास प्रभाव नहीं रहेगा। इसलिए सम्बद्ध और अपेक्षाकृत बड़े क्षेत्र पर प्रभुत्व अधिक कारगर होता है जैसा कि दिये गये रेखाचित्र से विदित है।

यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि निम्न जातियों के लिए सांस्कृतीकरण का आदर्श सदैव ब्राह्मण ही नहीं होता है। बहुत से क्षेत्रों में दूसरी जातियां भी इसका आधार बनती हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी क्षेत्र में क्षत्रियों की प्रभुता है तो वहां सांस्कृतीकरण का आदर्श क्षत्रिय जाति होती है। यही बात ब्राह्मणों और वैश्यों के मामले में भी लागू होती है। यह प्रभुसम्पन्नता इतनी परिव्याप्त होती है कि जहां क्षत्रिय हावी हैं वहां अन्य जातियों के साथ ब्राह्मण भी हेय दृष्टि से देखे जाते हैं और उनके साथ भी अकसर अपमानजनक व्यवहार किया जाता है। उदाहरण के लिए पूर्वी उत्तर प्रदेश में, जहां ठाकुरों का बोलबाला है, ठाकुर जमींदार अपने कुलगुरु के अतिरिक्त किसी भी ब्राह्मण को भोजन बनाने के लिये नौकर रख सकते हैं। इसी प्रकार पंजाब के गांवों में जाट जमींदार ब्राह्मणों को अपने नौकर जैसा समझते है ।

जो जाति प्रभुता-सम्पन्न होती है वह अपने गांव या क्षेत्र की दूसरी जातियों के साथ थोड़ा फासला रखती है। वह जाति वहां अपने आप को संस्कृति का रक्षक और प्रहरी मानती है, उसके द्वारा औरों के लिये आचरण के प्रतिमान भी कायम किये जाते हैं जिनका उल्लंघन करने पर सख्ती भी बरती जाती है। उस क्षेत्र विशेष के सभी मूल्य और मान्यताओं पर उस प्रभुतासम्पन्न जाति की छाप होती है। चूंकि सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा स्थानीय जातिक्रम में निम्न जातियां ऊपर की ओर उठने का प्रयास करती हैं और प्रभुता के दूसरे लक्षणों को हासिल करके भविष्य में प्रभु जाति बन सकती हैं, इसलिये इस पहलू से देखा जाये तो सांस्कृतीकरण प्रभु जाति की अवधारणा पर एक हमला माना जा सकता है। शायद इसीलिये आज भी अनेक क्षेत्रों में प्रभुत्व सम्पन्न जातियों द्वारा अपेक्षाकृत निम्न जातियों के सांस्कृतीकरण के प्रयासों को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता। इस सामाजिक रस्साकशी में प्रभुत्व सम्पन्न जातियां नई राजनीति अपनाती रहती हैं जिसमें प्रभुत्व के आधार निम्न जातियों की पहुंच से बाहर रहे। निम्न जातियां भी निरन्तर यह प्रयास करती रहती हैं कि वह किस प्रकार 'खुलते' हुए भारतीय

समाज में नये-नये अवसरों का लाभ उठाकर अपनी स्थिति को मजबूत कर सकें। यहां पर एक उदाहरण शायद इस चर्चा का सार आप तक पहुंचा सके। कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण से दूषित बहुत से व्यवसायों जैसे चमड़े का काम, शराब बनाना व बेचना आदि से उच्च जातियां सदा से बचती रही हैं। आजादी के बाद अनुसूचित जातियों को मिलने वाली बहुत-सी सुविधाओं से, विशेषकर बड़े बैंकों के राष्ट्रीयकरण से, 'सामाजिक बैंकिंग' के नये आयाम सामने आये हैं। अनेक सरकारी व गैर-सरकारी योजनाओं का लाभ उठाते हुए बहुत-सी अपेक्षाकृत निम्न जातियों ने ये पेशे बड़े पैमाने पर अपनाए और काफी कम समय में काफी धन व सम्पत्ति एकत्र कर ली जिससे उनकी राजनैतिक शक्ति में भी वृद्धि हुई। आगरा के जाटव समुदाय का उदाहरण यहां पर दिया जा सकता है जिनका अमेरिकी मानव विज्ञानी ओवेन लिंच ने भी एक बड़ा अच्छा अध्ययन अपनी पुस्तक 'द पॉलिटिक्स ऑफ अनटचेबिलिटी' (1969) में किया है। यह दूसरी बात है कि परम्परा से कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण से दूषित (ritually polluting) व्यवसाय अब बहुत-सी उच्च जातियों की पहुंच से बाहर नहीं रह गये हैं और पिछले 4-5 दशकों में हुए सामाजिक उदारतावाद व बाजार-मण्डी की शक्तियों के कारण (जो काफी हद तक पाश्चात्यीकरण की देन है) उच्च जातियों ने भी ऐसे पेशों में लगकर आर्थिक प्रतिस्पर्धा को तेज कर दिया है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि शिक्षा के क्षेत्र में दिये गये प्रोत्साहन और नौकरियों में आरक्षण ने भी बहुत-सी निम्न जातियों की सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक स्थिति पहले से मजबूत की है और इस प्रकार प्रभुसम्पन्नता के नये-नये आधार बनते जा रहे हैं।

प्रभुजाति परम्परागत गांव या जातीय समिति द्वारा विवादों के निपटारे तथा समझौते में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रभु जाति के प्रभावशाली सदस्य केवल भिन्न-भिन्न जातियों के सदस्यों के बीच पनपने वाले विवादों को ही नहीं सुलझाते बल्कि प्रायः एक जाति के लोग भी स्वयं इनसे मिलकर अपने अंतःजातीय विवादों का निपटारा कराने के लिए भी इनकी ओर देखते हैं।

एस॰सी॰ दूबे और पीटर गार्डनर ने प्रभुजाति की मूल अवधारणा के संदर्भ में कुछ गम्भीर आपत्तियां उठायी हैं। उक्त स्थिति के अनुकूल पक्ष पर

प्रकाश डालते हुए एस०सी० दूबे टिप्पणी करते हैं कि प्रभुजाति के विषय में बात करना केवल उस दशा में अर्थपूर्ण होगा जब पूरे समूह में शक्ति संचरित हो और उसका क्रियान्वयन पूरे समूह के हित में किया जाये या कम से कम समूह के एक उल्लेखनीय भाग के हित में तो किया ही जाये। किन्तु जब प्रभु जाति के बारे में यह कहा जाता है कि तथाकथित प्रभुजाति में विभिन्न व्यक्तियों के बीच वैभव, प्रतिष्ठा और शक्ति की असमानता रहती है और प्रभुजाति का व्यक्ति गैर प्रभुजाति के लोगों की भांति अपनी जाति के भी कमजोर लोगों का शोषण करता है, तो शायद उसे प्रभुजाति कहना अनुचित होगा। इसलिए श्रीनिवास द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र के आधार पर किसी जाति में प्रभुता स्थापित करने से पहले हमें एकता और जाति के हित में सद्भावपूर्ण कार्य करने के सूत्र को अवश्य अपनाना चाहिए। यह तथ्य कि शक्तिपूर्ण स्थिति प्राप्त किये हुए प्रभु लोग एक विशिष्ट जाति से सम्बद्ध हैं, उस जाति को प्रभुजाति के रूप में लक्षित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अलावा अन्तःजातीय एकता और शक्ति के सम्बन्ध में सभी को जोड़ने की प्रवृत्ति प्रभुजाति के रूप में स्थापित होने के लिए अनिवार्य है। जहां ये स्थितियां होती हैं वहां कोई जाति प्रभुजाति बन सकती है। इनकी अनुपस्थिति में, केवल प्रभु व्यक्तियों, प्रभु दलों तथा उनके पक्षधरों के संदर्भ में सामुदायिक शक्ति के ढांचे को ही बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। श्रीनिवास अपने प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यद्यपि दूबे प्रभु लोगों और प्रभु दलों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं किन्तु इसके बावजूद वह प्रभुजाति से सम्बद्ध सम्पूर्ण वक्रता से गुजरने में और प्रभुजाति का अस्तित्व स्वीकार करने में संकोच करते हैं। यहां श्रीनिवास का मूलभूत बिन्दु यह है कि प्रभुलोग और प्रभुदल दोनों अपनी प्रभुत्ता इस तथ्य में रखते हैं कि वे प्रभुजाति के ही भाग हैं। यहां एक बात यह देखी जा सकती है कि यदि प्रभुदल के सारे नेता न सही तो भी अधिकांश नेता प्रभुजाति से ही होते हैं। उन क्षेत्रों को छोड़कर जहां दो प्रतिद्वन्द्वी जातियां आमने-सामने हों और उनमें से प्रत्येक अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए प्रयासशील हों, सारे तथाकथित प्रभुता सम्पन्न लोग प्रभुजाति से ही आते हैं। प्रभुजाति की प्रभुत्ता स्थानीय स्तर तक ही सीमित नहीं होती है जैसा कि इस परिचर्चा में यह बात पहले ही बतायी जा चुकी है कि किसी जाति के ग्राम्य स्तर पर प्रभुता अत्यधिक महत्त्व नहीं

रखती। प्रभुता तभी पूर्ण मानी जायेगी जब वह पूरे क्षेत्र में व्याप्त हो। यदि ऐसा होता है तो गांव में एक या दो परिवार भी जो प्रभुजाति से सम्बद्ध होते हैं, वे स्थानीय स्तर पर प्रभावशाली रूप में जाने जाते हैं क्योंकि उनके साथ प्रभु सम्बंधों के अंतर्गत एक निश्चित कार्य प्रणाली का पारस्परिक अनुबंध रहता है। ऐसी स्थितियों में उस गांव में दूसरे लोग भी उक्त अनुबन्ध या कार्यप्रणाली से सुपरिचित होते हैं और इस प्रकार ऐसे गांव में मामले भी उसी अनुरूप निपटाये जाते हैं।

निहित स्वार्थों की विभिन्नता सम्बन्धी सम्भावनाओं के बावजूद प्रभुजाति के पक्ष में संगठित मार्चा रखने की बात करते हुए घनश्याम शाह जातीय समितियों के निर्माण के बारे में संकेत करते हैं। जातीय ढांचे के अंतर्गत भिन्न-भिन्न आर्थिक स्तर वाले लोगों के बीच सद्भाव कायम करने के प्रभुजाति के प्रभु समूह द्वारा एक महत्वंपूर्ण नवीनीकृत प्रारूप विकसित किया गया। इस प्रकार यह प्रभुसमूह अपने वर्ग के स्वार्थों की रक्षा भी करता है तथा अपना नेतृत्व भी कायम रखता है। जातीय समितियों का इतिहास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक जाता है, यद्यपि स्वतंत्रता के बाद उनकी संख्या बढ़ी है। उत्तर प्रदेश और बिहार की सरदार, कुर्मी, क्षत्रिय सभा, तमिलनाडु की नादर, महाजन, संगम और गुजरात की गुजरात क्षत्रिय सभा शक्तिशाली जाति समितियों में से कुछ के उदाहरण हैं। इन जाति समितियों ने प्रभु समूहों के आर्थिक हितों को जातीय हितों के रूप में उछाला। सम्बद्ध जातियों के अपेक्षाकृत गरीब स्तर का समर्थन जीतने के लिए ये समितियां सामान्यतया दो प्रकार की कार्यप्रणालियां एवं रणनीतियां अपनाती हैं। प्रथमतया, इन समितियों के नेतागण पवित्रता (शुद्धता) और प्रदूषण की अवधारणा पर आधारित जातीय सिद्धांतों के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। जातीय सदस्यों को अपने जाति के स्तर को बरकरार रखने या उसमें सुधार लाने की प्रेरणा दी जाती है। अतीत को महिमा-मण्डित रूप में प्रस्तुत करने वाली कथाओं की रचना की गयी, जातीय सदस्यों के चारों तरफ आलंकारिक शब्दों यथा- "आर्थिक पिछड़ापन" आदि का जाल बुनकर उन्हें छलावे में रखा गया। दूसरे, सजातीय सदस्यों के परस्पर संगठन के लिए जातीय समितियों ने कई अवसर पर सरकार के खिलाफ ऐसे प्रस्ताव पारित किये जिनमें जाति के शोषण का आरोप लगाया गया।

जब कोई जाति के विषय में सैद्धान्तिक या प्रायोगिक रूप से विचार करता है तो यह पाता है कि श्रीनिवास ने ऐसा दावा कभी नहीं किया कि ग्रामीण भारत में शक्ति की अवधारणा को प्रभुजाति की अवधारणा पूर्णरूपेण व्याख्यायित करती है। अधिकांशतया जातीय एकता और विशेष रूप से प्रभुजाति की एकता अपरिवर्तनशील या स्थिर नहीं होती बल्कि विशद संदर्भों में प्रत्यास्थ (contextual) और गतिशील (dynamic) होती हैं। यह एकता विशेष रूप से अन्य जातियों के विपक्ष के रूप में लक्षित की जा सकती है। जैसा कि दिन-प्रतिदिन लोकतान्त्रिक संस्थाओं के माध्यम से लोक कल्याण योजनाओं और आर्थिक सुधार योजनाओं को लोकप्रिय बनाने तथा उनमें अधिकांश लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करते हुए उनके क्रियान्वयन पर जोर डाला जा रहा है, प्रभु जातियां उक्त संस्थाओं को नियन्त्रित करने की क्षमता व योग्यता रखती है। आर्थिक एवं राजनीतिक स्रोतों व संसाधनों को नियन्त्रित करने की भयावह प्रतियोगिता में प्रभु जातियों के सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्षरूपेण शक्ति नहीं पाते किन्तु सामूहिक रूप से वे निश्चित रूपेण "शक्ति" पा जाते हैं, और उसका क्रियान्वयन व इस्तेमाल भी करते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक प्रक्रिया और आर्थिक विकास अतिसूक्ष्म (micro) व माध्यमिक सूक्ष्म (meso) दोनों स्तरों पर निश्चित रूपेण अपने ऊपर सम्बद्ध प्रभु जाति की मुहर लगाये हुए नजर आते हैं। विकास तथा कानून-व्यवस्था से सम्बद्ध नौकरशाही-अफसरशाही पर स्थानीय प्रभुजाति के प्रभाव को दिन-प्रतिदिन के आम जीवन में जमीनी वास्तविकता के रूप में देखा जा सकता है।

◆◆◆

22

भारत में सामाजिक परिवर्तन : कुछ आयाम

समकालीन भारतीय समाज परिवर्तित हो रहा है। इसके ढांचे और कार्य प्रणाली दोनों में परिवर्तन हो रहा है। भारत में सामाजिक संस्था एवं उनके मूल्य बदल रहे हैं। यह परिवर्तन प्रत्येक को, विशेष रूप से हिन्दुओं को, प्रभावित करेगा "जिनके जीवन का ढंग विशुद्ध रूप से नयी सामाजिक संस्थाओं पर निर्भर करता है, यथा-जाति, संयुक्त परिवार और ग्राम समुदाय, जो कि महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्यों में बदल रहे हैं" (एम॰एन॰श्रीनिवास, 1992)।

भारत को हमेशा परम्पराबद्ध समाज कहा गया, जिसमें (1) एक व्यक्ति की प्रतिष्ठा का निर्धारण उसके जन्म से होता है और वह स्थिर रहता है। अस्तु, व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्तर पर सामाजिक गतिशीलता के लिए प्रयासशील नहीं होता है; (2) व्यक्ति का व्यवहार रीति-रिवाजों के द्वारा शासित होता है और लोगों का आचरण (व्यवहार) पीढ़ी-दर-पीढ़ी थोड़ा-थोड़ा ही परिवर्तित होता है, (3) सामाजिक संगठन धर्मतन्त्र पर आधारित होता है, (4) व्यक्ति अपने को प्राथमिक समूहों के साथ ही पहचानता है और नातेदारी का सम्बन्ध ही पारस्परिक क्रिया में आधिपत्य (प्रधानता) रखता है, (5) लोग रूढ़िवादी हैं, (6) आर्थिक व्यवस्था साधारण है और जीवन निर्वाह के लिए आर्थिक उत्पादन अपेक्षाकृत निम्नस्तर का है, तथा (7) वर्तमान भारतीय सामाजिक व्यवस्था की समग्रता में धार्मिक-पौराणिक विचारधारा का आधिपत्य पाया जाता है।

जाति व्यवस्था पर हाल में किये गये अध्ययन से पता चला है कि जाति विलुप्त या मृत नहीं हो रही है, बल्कि अनुकूलन प्रक्रिया से गुजर रही है। अब भी जातीय सदस्यता का निर्धारण जन्म से ही होता है और जाति अब भी दृढ़ता के साथ सगोत्र या सजातीय विवाह वाली बनी हुई है। किन्तु

जाति का धार्मिक आधार अब विशुद्ध नहीं रह गया है बल्कि उसमें काफी कुछ मिश्रण हुआ है। जाति व्यवस्था इस दशा में नहीं है कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर मजबूत प्रतिबन्ध लगा सके, विशेषतया व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता पर। वर्तमान में हम जाति-मुक्त व्यावसायिक ढांचे के कोर पर खड़े हैं।

1950 में विशेष रूप से भारतीय समाज पर कार्य करने वाले लब्ध प्रतिष्ठित मानवविज्ञानशास्त्री एफ०जी० बैले ने अपने अध्ययन में मुख्य रूप से अपेक्षाकृत पिछड़े राज्य, जैसे कि उड़ीसा के बारे में अपने निष्कर्ष दिये .... "प्रत्येक व्यक्ति अपने पारम्परिक व्यवसाय का कार्य नहीं करता है। आसवक (मद्यनिर्माण कर्त्ता) शराब नहीं छूते हैं, कुम्हार यह नहीं जानते कि बर्तन कैसे बनाया जाता है, मछुआरे मछली नहीं मारते हैं। योद्धा लोग कृषक हैं।" इसी समय के आसपास भारतीय समाज की एक दूसरी प्रखर अध्ययनकर्ता कैथलीन गफ ने तमिलनाडु में ऐसी ही प्रवृत्ति पायी-जाति/समुदाय अब व्यवसाय और समृद्धि के मामले में समरूप नहीं रह गये हैं, क्योंकि आज जाति व्यवसाय चुनने में निर्धारक कारक होने में अपेक्षाकृत संकुचित हो रही है। कुम्हारपट्टी के ठीक आधे युवक या ब्राह्मण अब कस्बों में सरकारी नौकर के रूप में, स्कूल अध्यापक या रेस्टोरेन्ट कर्मचारी के रूप में कार्य कर रहे हैं। शेष लोगों में से कुछ के पास तीस एकड़ तक खेत है जबकि दूसरों के पास मात्र तीन एकड़ खेत है। एक पन्सारी को दुकान चलाता है और एक शाकाहारी रेस्टोरेन्ट। गैर-ब्राह्मणों में मछुआरे, ताड़ी निकालने वाले, मराठे, कल्लन, कौरवा व कुट्टाडी लोगों ने अपने पारम्परिक व्यवसाय छोड़ दिये हैं। देश के अन्य गांवों का भी अध्ययन इन्हीं प्रवृत्तियों को दर्शाता है।

पूर्वोक्त विवरण नगरीय भारत में अत्यधिक उच्चारित जाति-मुक्त व्यावसायिक ढांचे के अध्ययन की जमीन तैयार करता है। औद्योगिकीकरण, नगरीकरण, धर्मनिरपेक्षीकरण और आधुनिकीकरण के प्रभाव के अन्तर्गत जाति व्यवस्था ने आश्चर्यजनक प्रत्यास्थता और अनुकूलनशीलता दिखाई है। इस व्यावसायिक गतिशीलता का अब इससे मजबूत प्रमाण और क्या हो सकता है जब हम देखते हैं कि नगरों में बहुत हद तक आनुष्ठानिक शुद्धता/अशुद्धता की दीवारें टूट चुकी हैं और उच्च जातियों के बहुत से सदस्य पारम्परिक व्यवसाय छोड़कर ऐसे व्यवसायों को भी अपना रहे हैं।

कुकुरमुत्तों की भांति अधिकाधिक संख्या में बढ़ आये ब्यूटी पार्लर, नखप्रसाधन-पाद चिकित्सा केन्द्रों, मसाजपार्लरों, हेयरस्टाइलिंग केन्द्रों को मुख्यतया सवर्ण जाति के लोग चला रहे हैं, यह इस तथ्य का साक्ष्य है। बाल और त्वचा से सम्बन्धित कार्य, चमड़े के उत्पाद, धार्मिक-आनुष्ठानिक दृष्टिकोण से हमेशा अशुद्ध माने गये। प्राय: होने वाले कर्मकांडीय विधानों की वजह से इन चीजों का कार्य सवर्णों के लिए निषिद्ध माना गया था। अब चर्मशोधन और जूते-चप्पल का व्यापार, यहां तक कि इनके फुटकर विक्रय का भी कार्य अनेक सवर्णों के द्वारा किया जाता है। यहां तक कि जाति-सभाओं ने भी धार्मिक नियमों के इस प्रकार खुले उल्लंघन के प्रति अत्यन्त नरम और प्रत्यास्थ दृष्टिकोण अपना लिया है। साथ ही, सहभोज के नियमों का भी अब दृढ़ता के साथ पालन नहीं किया जाता है।

ग्रामीण भारत में जाति व्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक अनुष्ठानिक पक्ष-उदाहरणार्थ जजमानी व्यवस्था, अब चरमरा रहे हैं। नयी बाजारी शक्तियों, नयी राजनीतिक प्रक्रियायें और तकनीकी आधुनिकीकरण ने अब अन्तर्जातीय सम्बन्धों को गम्भीरता से प्रभावित किया है, हालांकि जजमानी व्यवस्था के धार्मिक-आनुष्ठानिक घटक अब भी एक बड़ी सीमा तक कार्यशील हैं। नयी प्रमुख जातियों के अभ्युदय और पारम्परिक रूप में दलित जातियों को राज्य के समर्थन ने जजमानी व्यवस्था को गम्भीरता से प्रभावित किया है।

वयस्क-मताधिकार पर आधारित राजनीतिक प्रक्रिया ने जातिगत उच्च अनुक्रम को अज्ञात-सा बना दिया है। रजनी कोठारी ने जाति और राजनीति पर परम्परागत मार्ग को तोड़ने वाले अपने अध्ययन में जांच-पड़ताल के नये क्षेत्रों को खोजा है। अपने रूढ़ि-मुक्ति उन्मुक्त विश्लेषण में उन्होंने भारत में राजनीति की तुलना उद्योग से किया है। वह कहते हैं कि भारतीय राजनीतिज्ञ उद्यमी हैं और किसी भी बुद्धिमान उद्यमी की भांति राजनेता अपने संसाधनों के बारे में सुनिश्चित हैं। वह जनता है कि अधिकांश भारतीय जनसमूह प्राय: अपनी जाति में रहता है, इसलिए वह (राजनेता) हमेशा अपने संसाधनों की गतिशीलता के लिए प्रयासरत रहता है। यदि जातियों को किसी दूसरे संसाधन की भांति प्रयोग किया जाये तो राजनीति पुन: वही कभी नहीं हो सकती है। इस अन्तर्प्रकार्यात्मक प्रक्रिया में जाति की भांति राजनीति भी परिवर्तन से

गुजरती है। दोनों बदल चुके हैं। यह जाति का राजनीतिकरण है। लोकतान्त्रिक प्रक्रियायें, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और वयस्क मताधिकार ने नयी आशायें जगाई हैं और बहुत-सी पारम्परिक दलित जातियां जिन्होंने राजनीतिक गतिशीलता महसूस की है उन्हें इसका फल देने के लिए वचनबद्ध है। विडम्बना यह है कि वही जातियां जो परम्परागत अधिकार प्राप्त थीं, जो लोकतंत्र का गुणगाान कर रही थीं और लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की प्रशंसा कर रही थीं, अब उसी को शाप दे रही हैं। रजनी कोठारी ने जाति और राजनीति के सम्बन्धों में तीन जटिल स्तरों का उल्लेख किया है:

1. इसमें शक्तिपूर्ण सम्भ्रान्त (उच्च) जाति का राजनीतिकरण शामिल है। प्राय: वह सम्भ्रान्त वर्ग जिसने पश्चिमी शिक्षा के अवसर के प्रति सबसे पहले अपनी रुचि दिखायी। महाराष्ट्र व तमिलनाडु में यह जाति ब्राह्मण थी और बिहार में कायस्थ। संस्थापित जातियों के पक्ष में कुछ राजनीतिक सफलता आ जाने से दूसरी सवर्ण जातियों के सदस्यों की प्रतिक्रिया रोषपूर्ण होगी। उनमें आपेक्षिक रूप से पदच्युति की भावना और सम्भवतया प्रतिरोध की भावना पैदा हो जाएगी। तब से जातियां संस्थापित जातियों को चुनौती देती हैं, जिन्हें कोठारी उदीयमान या आरोही जाति (Ascendant Caste) कहते हैं। कोठारी के कार्य में दिये गये तीन उदाहरणों में उदीयमान या आरोही जाति उन सम्मानीय खेतिहरों में से एक होती है जो पाश्चात्य शिक्षा को स्वीकार करने में सस्थापित जातियों की अपेक्षा पीछे थे। राजस्थान में राजपूत संस्थापित जातियों में थे और खेतिहर जाट लोग उदीयमान (आरोही) जातियों के अन्तर्गत माने जाते हैं। तमिलनाडु में ब्राह्मण संस्थापित जाति के थे और गैर ब्राह्मण, शूद्र उदीयमान (आरोही) और महाराष्ट्र में ब्राह्मण संस्थापित जाति के थे जबकि मराठा आरोही जाति के थे।
2. प्रतिस्पर्द्धा करती हुयी जातियों में दलबन्दी और विघटन पैदा हो जाता है और बहुजातीय तथा बहुदलीय संरेखण (पंक्तिबन्धन) विकसित होता है। प्राय: निम्नजातियों को सवर्ण जातियों के नेताओं को समर्थन देने के लिए और एक गुट मजबूत करने के लिए उपयोग में लाया जाता है।
3. शिक्षा में प्रगति, नगरीकरण, व्यक्तिगत उपलब्धियों के प्रति दिग्विन्यास (स्थिति-निर्धारण या अनुकूलन) और आधुनिक प्रतिष्ठागत प्रतीकों के साथ-साथ जातिगत पहचान विलुप्त होती जा रही है। व्यक्ति ऐसे

तन्त्रों में भाग लेता है जिनमें बहुत-सी जातियों के व्यक्ति शामिल रहते हैं। कोठारी के शब्दों में-अब विशेषाधिकारवाद (विशिष्टता) के प्रति आस्थाओं के ढांचे के ऊपर तिर्यक स्वामीभक्ति वाली अत्याधुनिक सामाजिक और राजनीतिक सहभागिता की व्यवस्था खड़ी हो गयी है। संस्थागत विभेदीकरण (विशिष्टीकरण) और विशेषता में उन्नति हुयी है, इसलिए आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक संस्थायें स्पष्टत: भिन्न हैं। वर्तमान राजनीतिक वास्तविकतायें यह बताती हैं कि भारतीय समाज न तो द्वितीय सोपान पर और न ही तृतीय सोपान पर स्थिर है। द्वितीय सोपान के परे यह कुछ इस प्रकार उन लोगों के साथ है जो परम्परागत दलित है और बहुत से स्तरों पर समाज के प्रभुत्व की तरह बढ़ रहे हैं।

बदले हुये सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य, समाजशास्त्री और मानवविज्ञानशास्त्रियों ने भी जाति के अभिव्यंजक और नये कार्यों के बारे में विचार-विमर्श किया है। पहली बात उस सामाजिक व भावनात्मक एकात्मता (भाईचारा) की ओर संकेत करती है जो जाति अपने सदस्यों के बीच ला सकती है। व्यक्तियों का व्यवहार जातिगत आधार पर होता है क्योंकि जाति उन्हें केवल पहचान ही नहीं देती है बल्कि वह एक संरक्षक शक्ति की भांति कार्य करती है। दूसरी बात है जाति की कार्य-प्रक्रिया ज्यादा व्यावहारिक (परिणामवादी) हो गयी है। हमारी जनसंख्या के पिछड़े वर्ग के प्रति सकारात्मक भेदभाव एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में राज्य के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के कारण बहुत-सी उच्च जातियां आतंकित हैं। इसलिए उनमें से बहुत-सी शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक उद्देश्य प्राप्त करने के लिए जातिगत मार्ग और भाई-भतीजावाद को न्यायसंगत मानती हैं।

भारत में जाति व्यवस्था के संरचनागत पक्ष में नयी प्रभु जातियों का अभ्युदय आलोचनात्मक महत्व का दूसरा कारक है। एम.एन. श्रीनिवास ने अपने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य "रामपुरा में प्रभु-जातियां" (1953) में पहले उभरती हुयी प्रभु जातियों के बारे में चर्चा की है। उन्होंने संख्यात्मक शक्ति, उच्च कोटि की कृषि योग्य भूमि का स्वाम्य और स्थानीय जाति में उच्च स्थान/आनुष्ठानिक धर्मतंत्र को प्रभुत्व के मुख्य कारकों के रूप में व्याख्यायित किया है। अग्रिम अध्ययनों ने अंग्रेजी शिक्षा (पाश्चात्यीकरण), स्थानीय

प्रशाम्नन में नौकरियों और राजनीतिक सम्बन्ध को प्रभुत्व के कुछ दूसरे कारकों के रूप में जोड़ा।

प्रभुत्व का आशय समाज के उन समूहों के अधिकार-प्रयोग से है जो राजनीतिक-आर्थिक वरिष्ठता प्राप्त कर चुके हैं और उच्च आनुष्ठानिक प्रतिष्ठा के सन्दर्भों में या उनके साथ समझौते करके जो प्रतिष्ठा-वितरण को नियन्त्रित किये हुए हैं तथा अपने आदेशों के लिए वैधानिकता का दावा किये हुए हैं, जबकि इसके विपरीत शक्ति का आशय राज्य के कार्यालयों के लिए नियुक्त या चुने गये उन व्यक्तियों के द्वारा इहलौकिक (secular) अधिकार के प्रयोग से है, जो अपने राज्य के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली जनसंख्या पर अपने निर्णयों की बाध्यता लागू करने के लिए कानून के अन्तर्गत वैधानिकता का दावा करते हैं।

यदि हम प्रभुत्व के क्षेत्रीय नमूनों (प्रतिमानों) का विश्लेषण करें तो बहुत से प्रतिमानों के बीच हम दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण नमूनों की पहचान कर सकते हैं। जैसा कि फ्रैंकाइन फ्रैंकेल और एम.एस.ए. राव (1989) इसे प्रस्तुत करते हैं-"अन्तर्निहित सांस्कृतिक एकता की धारणा को इन भौतिक-क्षेत्रीय विभिन्नताओं को धूमिल नहीं करना चाहिए जो सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिदर्शों में निहित है। आर्यों के हृदय प्रदेश के बाहर वास्तविक स्थानीय या जाति उच्चाधिक्रम और इन क्षेत्रों के बाहर, प्रचुराद्भवी उप जातियों को क्रमबद्ध करने के लिए प्रयोग की जाने वाली ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों की अमूर्त्त व सामान्य वर्ण श्रेणियों के बीच विन्यास में प्राय: वियोजन (disjunction) हो जाता है। वर्ण को स्तरीकृत सामाजिक व्यवस्था का घनिष्ठतम सन्निकट इसके उद्गम स्थान गंगा घाटी में बना रहा। इस क्षेत्र के अन्तर्गत, उदाहरणार्थ-उ.प्र. और बिहार में द्विज जातियों और हिन्दी के हृदय प्रदेश की शूद्र जातियों के बीच बंटे हुए वर्ण रेखा ने ऐतिहासिक रूप से सामाजिक उच्चाधिक्रम की दृढ़ विभाजन रेखा खींच दी जिसमें कि निम्न जातियां शिक्षा से वंचित थीं। उनके लिए सामाजिक गरिमा निषिद्ध थी और कृषि कार्य या दूसरी निम्न प्रतिष्ठा के शिल्प कार्य के शारीरिक श्रम तथा सेवा व्यवसाय तक उन्हें सीमित कर दिया गया। पारिभाषिक रूप से अस्पृश्य जातियां कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण से दूषित कार्य करती थीं और इसके अलावा सामान्यतया बेगार की दशा में या बंधुये मजदूर के रूप में खेतों में भी कार्य

करती थी। दक्षिण भारत में वर्णगत ढांचा समृद्धि और शक्ति के इहलौकिक स्तरीकरण (secular stratification) को स्वयं वैधानिक नहीं बना सका। ब्राह्मणों की जनसंख्या पूरी जनसंख्या की तीन से चार प्रतिशत से ज्यादा नहीं थी। जबतक वे कर्मकाण्डीय धर्मतन्त्र के शिखर पर रहे तब तक वे असमान रूप से विभिन्न क्षेत्रों में वितरित थे तथा कुछ क्षेत्रों में विशाल भूखण्ड नियन्त्रित किये थे। यदि क्षत्रिय मौजूद थे तो वे अत्यधिक विरल जनसंख्या वाले क्षेत्रों में बसे थे। देशज वैश्य जातियां आप्रवासी मारवाड़ियों, जैनों और दूसरी व्यापारी जातियों द्वारा अल्पसंख्यित कर दी गयीं। दक्षिण भारत के अधिकांश क्षेत्र में भूमि नियन्त्रक समूह उन उद्गमों से आये, जो ब्राह्मण कसौटी के अनुसार शूद्र के रूप में पहचाने गये।

इस प्रकार हम पाते हैं कि 1940 से आगे जब प्रभु जातियों का अभ्युदय हुआ तो तब दक्षिण भारत में ये मुख्यतः शूद्र उद्गम की जातियां थीं और उत्तर में स्थानीय जातीय पदसोपानकी में मध्य स्तर की यादव, कुर्मी, गूजर और जाट जैसी जातियां दिखायी पड़ती हैं। चूंकि उत्तर भारत में अस्पृश्य जातियां अधिकांश संख्या में थीं, पारम्परिक रूप से भूमिविहीन होते हुए वे जातियां जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार कार्यक्रमों का लाभ नहीं उठा सकीं। इसलिए मध्यस्तरीय अप्रदूषित जातियों में भविष्य की प्रभु जातियों के सभी अंश (संघटक) विद्यमान थे। आगे, हरित क्रान्ति ने उनकी स्थिति और मजबूत कर दी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक रूप से हरित क्रान्ति आधारभूत रूप में मध्य जातियों की किसानी के ही योगदान के फलस्वरूप हुयी। ये वे जातियां थीं जो पारम्परिक रूप से अपनी जमीन के प्रति आत्यन्तिक लगाव रखती थीं और कृषि को अपने जीने का ढंग तथा आजीविका मानती थीं। उत्तर में जाट, कुर्मी और यादव, गुजरात में कुनबी, पटेल और पटीदार, महाराष्ट्र में मराठा, आन्ध्र प्रदेश में खामा, रेड्डी और राजू, तमिलनाडु में वनियार और नदार तथा कर्नाटक में वोकलिग्गा और लिंगायत आदि लोग (जातियां) हरित क्रान्ति के अगुवा रहे और उनमें से अधिकांश अपने-अपने क्षेत्रों में प्रभु जातियों के रूप में उदित हुयीं।

बहुत से पाश्चात्य सामाजिक वैज्ञानिक और राजनीतिक चिन्तक भारत-परम्परागत एशियन सामाजिक व्यवस्था के बारे में भविष्यवाणी करते रहे हैं। मैंने इनमें से दो चिन्तकों-कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर, जो अपने युग

के महान् चिन्तक थे, की भविष्यवाणियों को चुना है:

रेलवे व्यवस्था से उत्पन्न आधुनिक उद्योग श्रम का वंशानुगत विभाजन समाप्त कर देगा, जिस पर भारतीय जातियां आधारित हैं तथा जो कि भारतीय प्रगति और भारतीय शक्ति के लिए निर्णायक अवरोधों के रूप में है। (कार्ल मार्क्स का भारत पर लेख)

यदि जाति-व्यवस्था का स्थायित्व सम्पत्ति विभेदन के मार्ग में बाधा न खड़ा कर सका तो भी यह कम से कम तकनीकी परिवर्तन और व्यावसायिक गतिशीलता को रोक सकी, जो कि जातिगत दृष्टिकोण से आपत्तिजनक था और आनुष्ठानिक (धर्मतन्त्रीय) दृष्टिकोण से घातक था। आज, सच्चाई यह है कि नयी दक्षता और तकनीक वास्तव में नयी जातियों या उप जातियों के निर्माण की तरफ ले जा रही है जो कि नवीनीकरण की प्रक्रिया को दृढ़ता से साथ विकलांग बना देती है। यह परम्परा को बनाये रखती है, यह बात मायने नहीं रखती है कि कैसे प्राय: आयातित पूंजीवाद के सभी शक्तिशाली विकास इसका उल्लंघन कर बैठते हैं। (मैक्स वेबर-"भारत का धर्म")

मार्क्स, वेबर और दूसरे पूर्ववर्त्ती विद्वानों के भारत के परम्परागत सामाजिक व्यवस्था की जाति व्यवस्था और दूसरे सम्बद्ध पक्षों के विश्लेषण का मर्म उनका यह पूर्वानुमान था कि वास्तविक द्विभाजन, वह समाज जो जाति व्यवस्था बनाये रखना चाहती है और वह समाज, जिसमें कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का अभ्युदय हो रहा है, के बीच है। इस बोध (ज्ञान) में वे दोनों पूर्णतया गलत थे, ऐसा इसलिए हुआ कि जाति का स्वभाव आश्चर्यजनक ढंग से लचीला है जिसने उनकी भविष्यवाणियों को गलत सिद्ध कर दिया। उदाहरण के लिए आधुनिक उद्योग में बहुत से कार्य अपने विषयवस्तु में और विधिक दृष्टिकोण से तटस्थ माने गए। किसी भी जाति का सदस्य हो-अस्पृश्य से लेकर ब्राह्मण तक उन कार्यों को कर सकते हैं। यहां तक कि कस्बों और शहरों में, जातियों द्वारा आनुष्ठानिक नियमों की अनदेखी की गई। यह एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें कि अधिकांश सामाजिक वैज्ञानिक सही भविष्यवाणी करने में चूक गये। जातिगत ढांचे और कार्य प्रक्रिया में परिवर्तन के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालते हुए हैरोल्ड के इस अभिकथन को उद्धृत किया जा सकता है कि बहुत से परिष्करण के बावजूद ग्रामीण क्षेत्रों में जाति अपने परम्पराबद्ध रूप के प्रति आग्रहशील बनी

हुयी है। समाज के इस परम्पराबद्ध रूप में यह सामाजिक संस्तरों में एक ऐसी व्यवस्था है जो आनुष्ठानिक दृष्टिकोण से श्रेणीबद्ध, स्थानीय रूप से एकताबद्ध और व्यावसायिक तथा आनुष्ठानिक दृष्टिकोण से विशिष्टीकृत है। समकालीन नगर-आधारित व्यवस्था में जाति सगोत्र के अन्तर्गत संरक्षित और धर्म द्वारा वैधानीकृत समान रुचि वाले समूहों के सम्मिश्रित तन्त्र के रूप में दृढ़ है। दोनों रूपों में जाति एक आत्यन्तिक जीवन सक्षम सामाजिक संस्था के रूप में बनी हुयी है और इस प्रकार एक ऐसे उदाहरण के रूप में प्रकट होती है जिसमें कि युगपत् रूप से प्राचीन प्रयोगों को रखा जाता है और नये प्रयोगों को परम्परागत एशियन सामाजिक ढांचे में शामिल कर लिया जाता है। विशेषतया जाति पर आधारित उसी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत परिवर्तन हो रहे हैं। स्वतन्त्रता के चालीस से अधिक वर्षों के बाद, यह महत्वपूर्ण तथ्य के रूप में सामने आ रहा है कि आधुनिक भारत में समाज कितने विशाल परिवर्तन से गुजर चुका है और अब भी गुजर रहा है। वे सामाजिक समूह जो सदियों से शासन करने के अभ्यस्त थे, कुछ दशकों में ही उनके राजनीतिक अधिकारों की जड़ खोद दी गयी। भारतीय समाज विक्षोभ में है। यदि भारतीय राज्य परम्परागत रूप से विषम सामाजिक व्यवस्था से नियन्त्रणीय सीमाओं के अन्तर्गत बाहर आते हुये अपने तनावों पर काबू न पा सका, तो हम गम्भीर संकट में होंगे। प्रतिष्ठा वितरण और विकास के परिणामों को न्यायसंगत रास्ता अख्तियार करना होगा।

◆◆◆

259

खण्ड चार

ग्रामीण भारत के आयाम

(कृषि का सामाजिक संगठन)

Aspects of Village India

(Social Organisation of Agriculture)

260

खण्ड सात

ग्रामीण भारत के आयाम

(कृषि का सामाजिक संगठन)

Aspects of Village India

(Social Organisation of Agriculture)

261

23

कृषि का सामाजिक संगठन

भारत को गांवों का देश भी कहा जा सकता है। यहां छह लाख से अधिक गांव हैं और भारत की 70 प्रतिशत से अधिक आबादी गांवों में ही रहती है। ये सभी गांव समान नहीं हैं। इन्हें विभिन्न प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे (1) एकांकी गांव: आम तौर पर भारत भर में ऐसे ही गांव हैं, खेतों से घिरा एक-दूसरे से सटे घरों का जमघट, (2) एक सीध में बसावट: जहां मकान शृंखलाबद्ध रहते हैं। हरेक अपनी अलग चारदीवारी से घिरा हुआ। गांवों के बीच में कोई स्थायी सीमा नहीं है, (3) छितरे हुए मकानों के समूह या एक साथ बने दो या तीन घर जिनमें एक-दूसरे को अलग करने का कोई स्पष्ट निशान नहीं होता। इनके और अन्य प्रकारों के अलावा आबादी का आकार और सघनता भी महत्वपूर्ण प्रकारों के कारक हो सकते हैं।

इसके अलावा भारत के गांवों में संरचना, तौर-तरीकों, रीति-रिवाजों की भरपूर विविधता भी दिखाई पड़ती है। हरेक ग्राम के निर्माण में लंबा समय लगा है, जिनमें अलग-अलग समूहों और संस्कृतियों का हजारों वर्षों में बसाव हुआ है। वर्तमान ग्रामीण भारत अपने अतीत का आईना है।

भारत में ग्रामीण सामाजिक संरचना के मुख्य घटक पहले से ही परिवार और नातेदारी, जाति, वर्ग और गांव रहे हैं और सामाजिक परिवर्तन के बावजूद आज भी यही प्रचलन है। ग्रामीण भारत का वर्णन करते हुए कई समाजशास्त्रियों ने जाति, संयुक्त परिवार और ग्राम्य समुदाय को एक पूरक त्रिमूर्ति बताया है। इसके बावजूद विस्तृत फलक पर ऊपर वर्णित और लिखित, इतिहास में उल्लिखित ऐसी सामाजिक संस्थाएं सबसे टिकाऊ हैं। सामाजिक संस्थाओं के इस सर्वव्यापी स्वरूप को जीवन के हरेक क्षेत्र-सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक में देखा जा सकता है। हमें इनका प्रतिबिंब सामाजिक नियमों और मूल्यों, परिस्थितियों और भूमिकाओं

और अधिकारों तथा दायित्वों में दिखाई देता है। भारत की ग्रामीण सामाजिक संरचना के अंतर्गत परिवार, प्राय: संयुक्त परिवार ही आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों की बुनियादी इकाई होता है।

भारत के गांवों की मूल प्रकृति की पड़ताल करने पर, ग्राम्य स्वायत्तता (Village autonomy) का मुद्दा तत्काल हाजिर हो जाता है। यह विवादास्पद मुद्दा रहा है। शुरुआती विद्वानों में से हेनरी मेन (1881), चार्ल्स मैटकाफ (1833) और बेडों पॉवेल (1896) ने ग्राम्य स्वायत्तता की धारणा का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है। भारतीय गांव को 'बंद' और 'अलग थलग' प्रणाली के रूप में दर्शाया गया है। चार्ल्स मैटकाफ (वही) ने तो अतिरंजना की हद पार करते हुए भारतीय गांवों को 'लघु गणतंत्र' (little republic), अपने आप में लगभग स्वतंत्र, लघु अपरिवर्तनशील और आत्मनिर्भर बताया है। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों द्वारा किए गए बाद के शोध ने इस मान्यता का खंडन किया है। भारतीय गांव कभी भी कटा हुआ व आत्मनिर्भर नहीं था। उसके हमेशा वृहद समाज और भारतीय सभ्यता के केन्द्रों से संबंध रहे हैं, पड़ोसी गांवों और वृहद समाज से संपर्क सूत्र रोजगार और व्यापार के लिए पलायन और आवाजाही, दूसरे गांव में शादी-ब्याह, प्रशासनिक संपर्क, अंतर-क्षेत्रीय मंडियां, अंतर-ग्रामीण आर्थिक संबंध, जातीय नेटवर्क, तीर्थयात्रा, मेले और उत्सव तथा अन्य गतिविधियां आदि रहे हैं। बाद के वर्षों में आधुनिकता के प्रसार व नई शक्तियों ने अंतर-ग्राम और ग्रामीण तथा शहरी मेलजोल को और बढ़ाया, इसका वर्णन ऑस्कर लुई (1955) ने, ग्रामीण विश्वग्रहीता (Rural Cosmopolitanism) में किया है। लेकिन बढ़े बाह्यसंपर्क के बावजूद मोटे तौर पर गांव ही मूल सामाजिक इकाई रहा है और गांव के निवासियों में सामूहिक पहचान एवं वफादारी की भावना भी बरकरार है।

ग्रामीण विश्वग्रहीता (Rural Cosmopolitanism)

इस अवधारणा की स्थापना ऑस्कर लुई ने की थी और यह उनके द्वारा उत्तर भारत में दिल्ली के समीप रानीखेड़ा गांव और मेक्सिको में मोरेलो स्थित गांव टेपोज तलान के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित है। इससे

पहले 1930 में इसी गांव का रॉबर्ट रेडफील्ड ने भी अध्ययन किया था और वहीं से नृतत्वशास्त्र में 'ग्राम्य अध्ययन' की शुरुआत हुई थी।

वर्ष 1953-54 में रॉबर्ट रेडफील्ड, मिक्किम मेरियट और मिल्टन सिंगर ने शिकागो विश्वविद्यालय में भारतीय ग्रामीण अध्ययनों पर संगोष्ठी आयोजित की थी। उसमें उन्होंने आठ प्रमुख सामाजिक नृतत्वशास्त्रियों को आमंत्रित किया था ताकि वे भारत के आठ विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने ग्राम्य अध्ययनों पर चर्चा कर सकें। इस संगोष्ठी के दो प्रमुख प्रश्न थे:

(1) भारतीय गांव किस सीमा तक अलग-थलग और आत्मनिर्भर, 'लघु समुदाय' (little community) है?
(2) भारतीय सभ्यता के बारे में समग्र रूप से ग्राम्य अध्ययन के द्वारा क्या जाना जा सकता है?

उस संगोष्ठी में ऑस्कर लुई द्वारा प्रस्तुत शोधपत्र में उन्होंने भारत और मेक्सिको के इन दो गांवों के बीच की विसंगतियों का वर्णन किया था। उन्हें मेक्सिको के गांव अंतर्मुखी (inward looking) लगे थे, जहां के निवासी गांव के भीतर ही विवाह कर लेते थे। उनके दूसरे गांवों के साथ व्यापारिक रिश्ते थे और तीर्थयात्रा इत्यादि जैसे अन्य सांस्कृतिक रिश्ते नहीं थे। इसके अलावा मेक्सिको के गांव, 'अपेक्षाकृत स्वावलंबी एकल समूह या नागर सीमाओं (municipolis) के भीतर बीच में बसे कुछ गांवों के समूह हैं।'

इसके विपरीत प्रत्येक भारतीय गांव अपने क्षेत्र के अन्य गांवों से और कस्बों एवं शहरों से जातीय, कुटुम्बीय, विवाह, व्यापार और धंधे, धार्मिक तीर्थ यात्रा तथा प्रशासनिक और राजनैतिक संगठन पर आधारित सामाजिक संबंधों की जटिल शृंखला से जुड़ा हुआ था। लुई के अपने शब्दों में, 'भारत में एक गांव विविध अंतर-ग्रामीण शृंखलाओं का हिस्सा है और वहां अकेला गांव भी जान-पहचान और बंधुत्व के संबंधों के कारण 400 से भी अधिक अन्य गांवों से जुड़ा रहता है, इससे वह ग्रामीण विश्वग्रहीता का निर्माण करता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रामीण विश्वग्रहीता अधिकतर गांव वालों के अपने गांव से बाहर फैले सामाजिक संबंधों पर आधारित है और उससे उसके सांस्कृतिक क्षितिज का और विस्तार होता है।

पारंपरिक संस्कृति (Traditional Culture)

पारंपरिक संस्कृति की अवधारणा जॉर्ज फॉस्टर के अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य, "पारंपरिक संस्कृतियां तथा प्रौद्योगिकीय परिवर्तन का प्रभाव" (ट्रेडीशनल

कल्चर्स एण्ड द इम्पेक्ट ऑव टेक्नोलॉजिकल चेंज 1962) से गहरे रूप से जुड़ी हुई है। उनका यह कार्य लातिनी अमेरिकी देशों (मेक्सिको, कोलंबिया, पेरू एवं ब्राजील) में उनके लंबे अनुभव का परिणाम है जहां कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक कारणों से सार्वजनिक स्वास्थ्य केंद्रों का कार्यकलाप प्रभावित हुआ था। इस प्रकार यह अवधारणा विशेषकर परिवर्तन के रास्ते में आने वाली सांस्कृतिक बाधाओं से संबंधित है क्योंकि अपनी पारंपरिक संस्कृतियों के कारण कृषक/ग्रामीण समाज सामाजिक-आर्थिक एवं प्रौद्योगिकीय परिवर्तन का प्राय: विरोध करते हैं।

पारंपरिक संस्कृतियों का रटा-रटाया खाका अकसर अतार्किक, आलस्य, भाग्यवाद एवं परालोकवादी (सेक्युलर विरोधी रवैया) के रूप में खींचा जाता है। पारंपरिक संस्कृति का सबसे प्रचलित चारित्रिक गुण उसके मूल प्रतिपादकों और उनके सहयोगियों का अज्ञात चरित्र होता है। लोक/कृषक समुदाय सीधे बातचीत के जरिए प्रसारण और व्यावहारिक प्रदर्शन के अलावा अपने पारंपरिक ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संप्रेषित करने के लिए कुछ अन्य माध्यम विकसित कर लेते हैं। यह माध्यम है कविता या गीत में पिरोए गए भाषायी फार्मूले, जिनमें जलवायु, मौसम, कृषि, पशुपालन, धार्मिक एवं नैतिक उपदेश और साथ ही सुभाषित के रूप में प्रचलित तरह-तरह के अनुभवों की जानकारी। इनमें से कई फार्मूले लोकोक्ति के वर्ग के हैं। ये आम बोलचाल में भी प्रचलित हो सकते हैं।

पारंपरिक संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के लिए संस्थागत सामाजिक बैठकें अत्यंत महत्वपूर्ण माध्यम हैं। यह बैठकें घर पर, आनुष्ठानिक अवसरों, मेलों और उत्सवों आदि किसी भी रूप में होती हैं। पारंपरिक संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा शायद अतीत का यशोगान और उसे पुनीत बताया जाना है। पारंपरिक संस्कृतियों का पालन करने वाले कृषक समुदाय अकसर यह कहते सुने जाते हैं, 'हमारे बाप-दादाओं ने हमेशा यही किया है इसलिए हम भी इसका पालन करेंगे।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि पारंपरिक ग्रामीण समुदायों की पारंपरिक संस्कृति है जिसके अपने ही मूल्य और तर्क हैं। उनकी सांस्कृतिक नृजातीय केन्द्रीयता (cultural ethnocentrism) अकसर उन्हें हठी और परिवर्तन विरोधी बना देती है। इसलिए ऐसे परंपरापालक समाजों में कोई भी नया विचार या

प्रौद्योगिकी शुरू करने से पहले नियोजकों को यह जान लेना और इसे समझ लेना आवश्यक है। वैसे भी सब परंपराएं बुरी नहीं होतीं और परंपरा एवं आधुनिकता का आसानी से सम्मिलन असंभव नहीं है।

कृषक समाजिक संरचना व कृषि का सामाजिक संगठन (Agrarian Social Structure and Social Organization of Agriculture)

कृषिक सामाजिक संरचना का अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्र और सामाजिक नृतत्वशास्त्र में गंभीर अध्ययन का मसला रहता है। यदि शब्दकोष में परिभाषित अर्थ को मानें तो 'कृषक' (agrarian) का अर्थ भूमि अथवा उसकी धारिता या भूमि के सामूहिक वितरण एवं कृषि के हितों को संगठित करने या उनको पुष्ट करने से लगाया जाता है। कृषक का मंतव्य एक विशेष प्रकार के मूल्यों से लगाया जाता है, जिसके अनुसार कृषि सबसे प्राकृतिक एवं आवश्यक व्यवसाय है और खेत ही रहने के लिए आदर्श स्थान है। इस प्रकार कृषक समाज किसी भी प्रकार का समाज, विशेषकर पारंपरिक समाज है जो औद्योगिक उत्पादन के बजाय मूलतः कृषि उत्पादन और उससे संबंधित शिल्पों पर आधारित है। यदि हम इसे और विस्तृत रूप में कहें तो यह कहा जा सकता है कि जमीन पर आश्रित समाज, 'अपने उत्पादन के तरीके के अंतर्गत मूलतः कृषि और खेतों के जोतने, बोने और फसल काटने पर ध्यान देता है।' इसकी यही गतिविधि इसे 'शिकारी-संग्राहक समाज' से अलग करती है जो कि अपने खाद्य पदार्थ में से कुछ का भी स्वयं उत्पादन नहीं करता और, 'बागवानी समाज' जिसमें से खाद्य पदार्थों को खेतों के बजाय छोटे-छोटे बागों में उगाया जाता है (द ब्लैकवेल डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी, 1995)।

ए.आर. देसाई और आद्रे बेत्ते ने कृषक सामाजिक संरचना को स्पष्ट करने में भारी योगदान किया है। बेत्ते ने कृषक सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए यह स्पष्ट मत प्रकट किया है कि यह सिर्फ किसान आधारित नहीं है। कृषक समाजों और संस्कृतियों के अध्ययन से कुछ अतिरिक्त मत निकलते हैं। इस प्रकार कृषक समाज में छोटी से छोटी भूमिका निभाने वाले सभी लोगों से मिलकर यह समाज बनता है। उन्होंने यह भी कहा है कि कृषक सामाजिक संरचना का अध्ययन मुख्यतः दो

आयामों के इर्द-गिर्द होना चाहिए। (1) प्रौद्योगिकी व्यवस्था (technological arrangements) तथा (2) सामाजिक व्यवस्था (social arrangement)। पहले के अंतर्गत पारिस्थितिकीय स्थितियां व कृषि संबंधी प्रौद्योगिकी (agricultural technology) आती हैं और दूसरी व्यवस्था के अंतर्गत भू-स्वामित्व एवं नियंत्रण, सत्ता समीकरण, भूधारिता तथा संबद्ध सामाजिक परिस्थितियां आती हैं। कृषक समाज इस सम्पूर्ण व्यवस्था का आधार है।

'कृषि' के सामाजिक ढांचे (social framework of agriculture) समझने के लिए आंद्रे बेत्ते द्वारा 1974 में लिखी गई किताब 'सोशल फ्रेमवर्क ऑफ एग्रीकल्चर' बिना ग्रामीण समुदाय अथवा कृषक समाज की गहरी समझ और भारतीय परिवेश में उसके विभिन्न प्रकार के असर तथा आयामों पर पकड़ के बिना संभव नहीं है। कृषि को सामाजिक संरचना से अलग करके ढंग से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि ये दोनों साथ-साथ घटित होते हैं। एशिया के कम विकसित और विकासशील देशों के बारे में यह बात खास तौर पर सच है जहां आर्थिक संगठन की पश्चिम के औद्योगिक समाजों के मुकाबले कम स्वायत्तता है। इस प्रकार ऐसे एशियाई समाजों में आर्थिक संगठन विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाओं से अधिक निकटता से गुंथा हुआ पाया जाता है। इन संस्थाओं को कार्य आंशिक रूप से आर्थिक और आंशिक रूप से गैर आर्थिक हैं। वे आर्थिक गतिविधियों में सामाजिक ढांचे के महत्व पर यह दर्शाते हुए और अधिक जोर देते हैं कि आर्थिक गतिविधियों में व्यक्तियों का आपसी लेन-देन निहित रहता है, जिसके अधिकार और दायित्व सामाजिक रूप से परिभाषित हैं। कृषि की तरह लगभग वैसी ही गतिविधियां सामाजिक रूप से संगठित की जा सकती हैं।

कृषक समाज (Peasant Society)

कृषक समाज लघुस्तरीय सामाजिक संगठन है। उसमें किसानों का वर्चस्व रहता है। कृषक समाजों को नृतत्वशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया और समझाया है। कृषक समाजों के औपचारिक परिभाषा गढ़ने वाले पहले नृतत्वशास्त्री ए.एल. क्रोबर थे। उन्होंने कृषक समाजों को आंशिक समाज (part society) बताया था। इससे यह पता लगता है कि यह एक वृहद समाज था पर प्रौद्योगिकीय, आर्थिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों पर आश्रित था। जॉर्ज फॉस्टर ने क्रोबर की अवधारणा को

आगे बढ़ाते हुए कृषक समाज को आधा समाज (half society) कहा। उनका मंतव्य था कि राष्ट्र जैसा वृहद समाज दो हिस्सों से बनता है- पहले हिस्से में फसल उगाने वाले वर्ग गांव में रहते हैं और दूसरे हिस्से में शहरी क्षेत्रों में रहने वाला उच्च वर्ग आता है। वृहद समाज का फसल उगाने वाले वर्ग से बनने वाला हिस्सा कृषक समाज अथवा आधा समाज कहलाता है। रॉबर्ट रेडफील्ड ने भी क्रोबर का अनुसरण किया और उन्होंने भी कृषक समाज को आंशिक समाज के रूप में परिभाषित किया है।

वर्ष 1960 तक समाजशास्त्र में कृषक समाज अधिकतर उपेक्षित था। इस समाज के बारे में माना जाता था कि इतिहास में इसकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है। यह धारणा इस तथ्य के बावजूद बनाई गई थी कि लिखित इतिहास की अधिकतर अवधि में और दुनिया के कई हिस्सों में कृषक मौजूद रहे हैं। 1960 के दशक से एरिक वुल्फ (1966) और बेरिंगटन मूर (1967) जैसे प्रमुख कार्यों के प्रकाशन के साथ ही इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया और नृतत्वशास्त्र व राजनैतिक अर्थव्यवस्था (Political Economy) में विकसित अवधारणा को समाजशास्त्र में समाहित कर लिया गया। वियतनाम युद्ध में कृषक समाज की भूमिका व लातिनी अमेरिका एवं एशिया में कृषकों की राजनैतिक गतिविधियों में तेजी आने के साथ ही कृषक समाज की कथित निष्क्रियता पर सवाल उठने लगे। मार्क्सवादी पुस्तकों में आंशिक रूप से माओवाद तथा 1949 की क्रांति के कारण और उसके बाद चीन की घटनाओं के असर में यह सवाल उठा कि तीसरी दुनिया में कृषक समाज, समाजवाद की क्रांतिकारी ताकत का प्रतिनिधि है या नहीं। अब एक दूसरे से जुड़े कृषक समाज पर अध्ययन एक प्रमुख शोध क्षेत्र बन गया है। अभी तक इस बारे में बहस चल रही है कि अवधारणा और अनुभव के स्तर पर कृषक समाज की एक अलग श्रेणी के रूप में पहचान बननी चाहिए या नहीं। शानिन भी इस अवधारणा के पक्ष में दिए जाने वाले तर्कों में सबसे मजबूत तथा असरदार तर्क देने वालों में शामिल हैं। इस शताब्दी में किए गए विभिन्न कृषक अध्ययनों से अपने परिणाम निकालते हुए उन्होंने कहा है कि कृषक समाज की छः पहचानें हैं (शानिन, 1982, शानिन (सं.)1988 इंट्रोडक्शन)

(अ) पारिवारिक खेत प्रमुख आर्थिक इकाई है। इसी के इर्द-गिर्द उत्पादन, श्रम तथा उपभोग व्यवस्थित हैं।

(ब) भूमि को जोतना प्रमुख गतिविधियां हैं, जिसके साथ न्यूनतम विशेषज्ञता और विभिन्न कार्यों के लिए पारिवारिक प्रशिक्षण भी जुड़े हुए हैं।

(स) स्थानीय ग्रामीण समुदाय पर आधारित एक विशेष किस्म की 'कृषक जीवनचर्या' है जिसके अंतर्गत अधिकतर सामाजिक जीवन और संस्कृति आते हैं। और उसी से यह शहरी जीवन से तथा अन्य सामाजिक समूहों के जीवन से अलग दिखाई देता है।

(द) कृषक, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से गैर-कृषक समूहों के अधीन हैं और उनके खिलाफ कृषकों ने विरोध, विद्रोह अथवा क्रांति के विभिन्न तौर-तरीके भी सीख लिए हैं।

(ध) इसकी एक विशिष्ट सामाजिक गत्यात्मकता होती है, जिसमें पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तन होता है। इसमें भूमि के बंटवारे और घरेलू बारंबारता के जरिए पारिवारिक श्रम की उपलब्धता में उतार-चढ़ाव आने से विषमता दूर होती रहती है।

(च) विशेषकर समकालीन दुनिया में संरचनात्मक परिवर्तन का साझा नमूना है, जिसमें किसान विपणन के सम्पर्क में आते हैं ऐसा अवसर कृषि व्यवसाय (agribusiness) जैसी बाहरी संस्थाओं के जरिए होता है और धीरे-धीरे वे राष्ट्रीय राजनीति में आ जाते हैं। इन सामान्य परिवर्तनों का सटीक परिणाम पूर्व निर्धारित नहीं होता।

रॉबर्ट रेडफील्ड ने अपने ऐतिहासिक कार्य 'पीजेंट सोसायटी एंड कल्चर' (1956) में कृषक समाज को लोक एवं शहरी समुदायों के बीच का मानते हुए कृषक संस्कृति के निम्नलिखित तीन सबसे महत्वपूर्ण लक्षण बताए हैं:

(अ) भूमि से अत्यंत गहरा लगाव

(ब) कृषि की सबसे पवित्र, सर्वश्रेष्ठ और आदर्श रोजगार के रूप में मान्यता

(स) कृषकों का घोषित, पुरुषार्थी रवैया जिससे श्रम की प्रतिष्ठा के प्रति पक्का विश्वास झलकता है। कृषक समाज के कुछ दूसरे महत्वपूर्ण लक्षणों में से हैं:

  (अ) परिवार, बहुपक्षीय सामाजिक संगठन (multilateral social organization) की प्राथमिक इकाई है।

  (ब) आजीविका का मुख्य स्रोत भूमि और कृषि है, जिनसे जीवन की लगभग सारी आवश्यकताएं पूरी होती हैं।

(स) वे दैनंदिन जीवन और उसकी दिनचर्या में विशिष्ट पारंपरिक संस्कृति का निर्वाह करते हैं।

(द) उन पर प्राय: बाहरी लोगों का प्रभुत्व रहता है।

कृषक समाजों के लिए कृषि कोई धंधा नहीं बल्कि जीवनशैली (way of life) है, जिसे किसी भी अन्य गतिविधि के बदले छोड़ा नहीं जा सकता भले ही उसमें ज्यादा पैसा या लाभ मिलता हो। यदि कृषि जीवनचर्या के बजाय धंधा बन जाए तो कृषक पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र और कर्नाटक के अमीर किसानों की तरह किसान (Farmer) बन जाता है। इस प्रकार कृषक, कृषि भूमि के जीवन निर्वाह खेतिहर हैं। वे भले ही भू-स्वामी या बटाईदार हों या बाजार में उनकी भागीदारी हो अथवा नहीं। कुछ लेखकों (उदाहरण के लिए चेयनॉव एवं एरिक वुल्फ) ने एक विशिष्ट कृषक अर्थव्यवस्था को अलग-थलग करने का प्रयास किया है, अन्य (उदाहरण के लिए रेडफील्ड) ने कृषक संस्कृति की धारणा पर जोर दिया है।

ऊपर लिखे विवरणों से जैसा जाहिर होता है, कृषक समाज की सभी परिभाषाओं में इस बात पर मतैक्य है कि कृषक समाज और शहरी अभिजात के बीच खासा भेद है। कृषक समाज और शहरी केंद्र एक ही सामाजिक-आर्थिक प्रणाली के दो विपरीत ध्रुव हैं। और यह सिर्फ उनकी आर्थिक अंतरनिर्भरता में ही नहीं बल्कि कृषक और शहरी संस्कृति के बीच मौजूद पेचीदा संबंधों में भी झलकता है। यह वृहत-लघु परंपरा तथा लोक-शहरी सातत्य (folk–urban continuum) की अवधारणाओं में भी परिलक्षित होता है। नृतत्वशास्त्रियों में एरिक वुल्फ कृषक समाज को परिभाषित करते हुए आर्थिक पहलू पर जोर देते हैं। वुल्फ (1969) अपनी पुस्तक '*पीजेंट्स*' में किसानों को परिभाषित करते हुए बताते हैं कि उनकी अधिशेष पैदावार को को अधिकपति सत्तारूढ़ समूह को हस्तांतरित कर दिया जाता है जो कि इस अतिरिक्त पैदावार को अपने रख-रखाव तथा आबादी के गैर कृषि क्षेत्रों को पुनर्वितरित करने में उपयोग करता है।

कृषकों को सबसे स्पष्ट रूप से कृषि आधारित समाजों में पहचाना जा सकता है। यह महत्वपूर्ण है कि आबादी के सिर्फ फसल उगाने वाले वर्ग को ही कृषक समुदाय नहीं माना जा सकता। इसमें ऐसे लोग भी शामिल हैं जिन्हें विश्लेषण के आधार पर भले ही कृषक की परिभाषा में न रखा जा

सके मगर फिर भी वे कृषक समुदाय में शामिल हैं। वे व्यापारी, भूमिहीन मजदूर और कारीगर भी हो सकते हैं, जिनका कृषकों से नजदीकी सामाजिक एवं आर्थिक संबंध हो सकता है। इतना ही नहीं विश्लेषणात्मक रूप से कृषक की परिभाषा में आने वाले लोग भी अकसर अपना कुछ समय ऐसी कुछ गतिविधियों में लगाते हैं। इस प्रकार कृषक समाज की परिभाषाएं भले ही कभी-कभी परिवार के कार्यकलाप पर आधारित हों फिर भी यह देखना आवश्यक है कि यह कितनी मजबूती से वृहद सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक श्रृंखला से जुड़ा हुआ है। डेविड लेहमैन (1985) ने कहा था कि सर्वोचित तो यही लगता है कि ग्रामीण आबादी को समग्र रूप से दर्शाने वाले शब्द के रूप में कृषक (Peasant) को अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए। इसके बजाय इसे एक विशेषण मानते हुए उन्होंने गंभीर परिभाषाओं के पूर्वाग्रह के बिना ही ग्रामीण उत्पादन प्रणालियों की विशेषताओं का खुलासा किया है।

कृषक समाज की विशेषताएं

क्रोबर, फॉस्टर, रेडफील्ड, वुल्फ, नॉरबैक, थॉर्नर, शानिन, आंद्रे बेत्ते तथा कृषक समाजों के बारे में लिखने वाले कई अन्य नृतत्वशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने निम्नलिखित विशेषताओं को कृषक समाजों का स्वभाव बताते हुए सहमति जताई है:

(अ) नगर और राज्य की तरह कृषक समाज का भी लंबा इतिहास है।

(ब) कृषक समाज में व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित सामाजिक प्रणाली प्रचलित है। इसमें ग्रामीण समुदाय भी शामिल हैं। प्रत्येक गांव के निवासी एक-दूसरे को रोजगार, रस्मो-रिवाज तथा खाली समय बिताने संबंधी गतिविधियों में भागीदारी के कारण जानते-पहचानते हैं। यह निकट संबंध व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित सामाजिक प्रणाली का जन्मदाता है। प्रत्येक गांव के निवासियों के अपने ग्रामीण समुदाय के बाहर भी कुछ व्यक्तियों से निजी संबंध होते हैं।

(स) कृषक समाज के लिए कृषि का महत्व लाभ के लिए धंधा नहीं, बल्कि आजीविका का माध्यम है। ऐसा नहीं है कि कृषक अपनी फसल में से कुछ हिस्से को बेचना नहीं चाहते मगर ऐसी बिक्री का उनका मनोरथ नहीं होता। ऐसी बिक्री को एक विनिमय के रूप में समझा जा सकता है जिससे एक निश्चित जीवनचर्या चल सके और बुनियादी आवश्यकताएं पूरी की जा सकें। इस प्रकार कृषकों की

प्राथमिक चिंता न्यूनतम उत्पादन की होती है और जो खाद्यान्न एवं अन्य वस्तुएं वे पैदा करते हैं, उनमें से अधिकतर का उपभोग वे स्वयं कर लेते हैं।

(द) कृषक समाज पुरानी प्रौद्योगिकी और न्यून कृषि उत्पादकता पर आधारित है। दुनिया के सभी भागों में कृषकों की कृषि की उत्पादकता कम है। कृषक अर्थव्यवस्था से कृषि, आसान प्रौद्योगिकी, जीवनयापन के लिए उत्पादन पर जोर, सीमित संख्या में फसलें उगाना और पर्यावरण पर प्रत्यक्ष निर्भरता का पता चलता है। इसकी प्रौद्योगिकी में नवपाषाण काल से कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है।

(ध) कृषक समाज अपने आर्थिक व्यवहार को तत्काल उपभोग एवं उत्सवधर्मिता की भौतिक मांगों की पूर्ति की दिशा में चलाता है। पहली बात तो यह है कि कृषक समाज के चारित्रिक गुणों में विलंबित परितोषण की कमी है। जैसे बचत के बजाय खर्च करने की प्रवृत्ति, कल के बजाय आज खर्च करना। दूसरी बात यह है कि हरेक कृषक समाज उत्सव के मौके पर बनाए जाने वाले व्यंजनों, आतिशबाजी, धूप-अगरबत्ती, पारंपरिक भुगतानों तथा दायित्वों, करों, हिस्सेदारियों तथा अन्य देनदारियों तथा किराये आदि की मद में धार्मिक समारोहों और सामाजिक हैसियत की भौतिक मांगों को पूरा करने की कोशिश करता है।

(च) कृषक समाज का नगरीय केंद्रों से संचार हमेशा बना रहता है। यह विनिमय योग्य अतिरिक्त खाद्यान्न सीमित मात्रा में पैदा करते हैं जो कि कस्बों और शहरों का पेट भरने के लिए वहां भेजा जाता है और वहां से गांवों को निर्मित अथवा प्रसंस्करित सामान (Processed goods) की कुछ किस्में और सेवाएं हासिल होती हैं। इस प्रकार के लेनदेन को आम तौर पर कस्बों और नगरों में स्थापित मंडी प्रणालियों के जरिए अक्सर आयोजित करके उसका निर्वाह किया जाता है। इसकी कई संस्थाएं राष्ट्रीय संस्थाओं का ही स्थानीय संस्करण है, जैसे आर्थिक लेनदेन में और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली में राष्ट्रीय मुद्रा का प्रयोग होता है। इसके अलावा ग्रामीण स्तर का जीवन नगरीय केंद्रों के धार्मिक, बौद्धिक एवं नैतिक जीवन से भी प्रभावित होता है और इन्हीं से कृषक समुदाय व्यापक समाज से जुड़ता है।

(छ) कृषक समाज परिवर्तन विरोधी या अत्यंत धीमी गति से परिवर्तनकारी है। कृषक हजारों वर्षों से ऐसी प्रौद्योगिकी की श्रृंखला के बलबूते

जिंदा हैं, जिसके कारण वे आसानी से किसी की निगाह में नहीं आते। कृषकों को यह समझाना मुश्किल है कि वे अपने इस सुरक्षात्मक कवच को एक झटके से उतार कर फेंक सकते हैं। कृषकों की यह विशेषता है कि अर्थशास्त्रियों की आह व राजनैतिकों का पसीना निकलवा सकते हैं और मॉस्को और वाशिंगटन, पेइचिंग तथा दिल्ली सहित पूरी दुनिया में नीति निर्धारकों की नीद हराम कर सकते हैं।

शक्ति संरचना एवं वर्ग स्तरण

सामाजिक संरचना का वर्णन करने का सार्वभौमिक तरीका जन्म आधारित संस्थाओं जैसे परिवार, नातेदारी तथा जाति पर आधारित है। इसके वर्णन का दूसरी तरीका वर्ग पर आधारित है। इस प्रकार कृषि पर निर्भर वर्ग के ढांचे को भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना में सत्तात्मक संरचना एवं वर्ग स्तरण को समझने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके बावजूद भारत में कृषक सामाजिक संरचना की मीमांसा के लिए जाति एवं वर्ग दोनों ही आवश्यक हैं। इससे ग्रामीण भारत में सत्तात्मक संरचना का भी पता चलता है। इस प्रकार से जब हम कृषि पर निर्भर वर्ग के वर्गीकरण की बात करते हैं तो हमें ग्रामीण भारत की बेहतर तस्वीर दिखाई देती है, जिसे प्राचीन काल से ही सिर्फ जातीय वर्गीकरण के नजरिए से देखा जाता रहा है। के. एल. शर्मा (1980) संपूर्ण मुद्दे को समुचित परिदृश्य में रखते हुए ये गहन टिप्पणी करते हैं कि 'जाति में वर्ग का तत्व भी शामिल है और वर्ग का सांस्कृतिक (जातीय) तरीका है। इसलिए दोनों प्रणालियों को विश्लेषणात्मक रूप में भी आसानी से अलग नहीं आंका जा सकता।'

मोटे तौर पर भारत में कृषक वर्ग की संरचना ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन में गढ़ी गई थी। यह भू-राजस्व प्रणाली का परिणाम थी, जिसे अंग्रेजी राज में ही तैयार और लागू किया गया था। तब तीन वर्ग थे-(1) भू-स्वामी, (2) बटाईदार, (3) खेतिहर मजदूर।

डेनियल थॉर्नर (1973) ने अपने बहुमूल्य कार्य में इन तीन वर्गों को इस प्रकार परिभाषित किया है:

(1) भू-स्वामी (Proprietors)

(2) कामकाजी कृषक (Working Peasants)

(3) मजदूर (Labourers)

कामकाजी भाषा में उन्होंने इनको मालिक, किसान तथा मजदूर कहा है। भूस्वामी अथवा मालिक प्राचीन काल से ही ऊंची जाति के समूहों के थे। वे लगान जमा करते थे और खेत के भू-स्वामी होने के बावजूद स्वयं खेत को जोतते-बोते नहीं थे। थॉर्नर (वही) का मानना था कि भू-स्वामी या मालिक की श्रेणी ऐसे परिवारों के संदर्भ में बनाई गई थी जहां कृषि आमदनी प्राथमिक तौर पर (हालांकि प्राय: पूर्णत: नहीं) धरती के मालिकाना हकों से प्राप्त की जाती थी। इसका मतलब यह है कि पारिवारिक आय के भले ही कोई अन्य स्रोत हों जैसे-कोई व्यवसाय या व्यापार मगर कृषि से मुख्य आमदनी पारिवारिक मालिकाने वाली भूमि पर होने वाली पैदावार में हिस्से के रूप में होती थी। यह हिस्सा पहले से ही किराए के रूप में वसूला जाता था। आम तौर पर किराया नकद लिया जाता था मगर यदि बटाईदारी फसल के बंटवारे के आधार पर तय होती थी तो किराये के बदले उपज भी ले ली जाती थी। अपने खेतों को बटाई पर देने के बजाय भू-स्वामी मजदूरों से उन पर अपने लिए खेती भी करवाया करते थे। दिहाड़ी पर रखे गए इन मजदूरों की निगरानी वे खुद भी करते थे और अपने कारिंदों से भी करवाया करते थे। कभी-कभी वे खुद भी खेतों में जाकर मजदूरों के साथ मिलकर खेतीबाड़ी संबंधी कार्य किया करते थे। इसमें मुख्य भूमिका उनके आमदनी के स्रोत की मानी जानी चाहिए-यदि उनकी अपने हाथों में जोते-बोने जाने वाले खेत के उस हिस्से से बटाई पर दी गई भूमि से होने वाली आमदनी के मुकाबले कम होती थी जिसे वे खुद जोते-बोते थे या मजदूरों से उसमें काम करवाते थे। मालिकों के इस समूह या वर्ग के अंतर्गत दो उपसमूह छांटना संभव है। इसमें एक समूह के अंतर्गत वे बड़े अनुपस्थित भू-स्वामी आते हैं जिनकी एक से अधिक गांवों में जमीन है। दूसरे उपसमूह में वे अपेक्षाकृत लघु भू-स्वामी (absentee landlords) आते हैं जो उसी गांव में खुद रहते हैं जहां उनकी जमीन है और उस पर खेती करने के आंशिक प्रबंध एवं नियंत्रण का प्रयास भी करते हैं। इस वर्ग के अधिकतर लोग ऊंची जातियों के होते हैं।

कामकाजी कृषकों के दूसरे वर्ग (किसान के रूप में उल्लेखित) का भी भूमि में घोषित स्वामित्व हित है (थॉर्नर, वही)। वे लघु मालिक या किसान भी हो सकते हैं, जिनकी सुरक्षा का स्तर अनिश्चित है। कुल

मिलाकर (लेकिन हरेक राज्य में नहीं) उनके कानूनी और प्रथागत अधिकार एक ही गांव में मालिकों से कुछ ही कम होंगे। इसमें भी प्रमुख भेद इस बात पर आधारित है कि किसके पास कितनी जमीन है। किसानों के मामले में खेत सिर्फ इतना ही बड़ा होता है कि उससे सिर्फ एक परिवार का गुजारा चल सके और परिवार के एक या अधिक सदस्य ही खेत पर मजदूरी करते हैं। वास्तव में किसान के स्वामित्व वाली जमीन में होने वाली पैदावार की आमदनी शायद उनके परिवार के खर्चे पूरे करने के लिए समुचित नहीं है लेकिन उससे कम से कम उसे दूसरे लोगों की जमीन पर मजदूरी करने आदि अन्य खेतिहर स्रोतों से होने वाली आमदनी के मुकाबले कहीं बड़ा हिस्सा प्राप्त हो जाता है। यहां परिभाषित किसान ऐसे ग्रामीण हैं जो प्राथमिक तौर पर अपने खेत खुद ही जोतते और बोते हैं। वे कभी-कभार जोतने या फसल काटने के मौसम के अलावा मजदूर नहीं रखते, न ही उन्हें किराये से नियमित आमदनी होती है। वे मुख्यत: मध्यम स्तर के कृषक या कारीगर वर्ग के होते हैं और इनमें से अधिकतर अन्य पिछड़े वर्ग या पिछड़ी जाति के होते हैं।

कृषि पर निर्भर तीसरा वर्ग जिसे मजदूर कहा गया है, ऐसे ग्रामीण हैं जो मुख्यत: दूसरे लोगों के खेतों पर काम करके आजीविका कमाते हैं। इस वर्ग के परिवारों के पास भले ही पुश्तैनी बटाई का अधिकार हो या मालिकाना हक भी हो, मगर खेत इतने छोटे होते हैं कि उन्हें जोतने, बोने या बटाई पर देने से होने वाली आमदनी मजदूरी से होने वाली कमाई से भी कम होती है। मजदूरी के बदले पैसा या कोई वस्तु भी मिल सकती है। यदि वस्तु के रूप में मजदूरी मिलती है तो वह पूर्व निर्धारित होती है या फिर पैदावार में एक हिस्से के रूप में भी तय हो सकती है। व्यवहार में किसानों का निम्नवर्ग या अपनी मर्जी से बटाईदारी करने वालों की स्थिति लगभग मजदूरों जैसी है। उन्हें अस्थाई तौर पर इस वर्ग में शामिल किया जाएगा। इस वर्ग के अधिकतर सदस्य प्राचीन काल से ही भूमिहीन, वंचित, निचली अछूत जातियों और पिछड़ी जातियों के होते हैं।

थॉर्नर (वही) ने यह ठीक ही कहा है कि भूहितों की इस सोपानात्मक (hierarchial) संरचना को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि पैदावार का एक मोटा हिस्सा कृषि के लिए कोई भी श्रम न करने वाले वर्ग

के लिए सुरक्षित रखा जाए। विभिन्न उच्च वर्ग के मालिकों को देने के बाद किसान के पास जो कुछ भी बचता था उसमें से भी उन्हें वसूली के लिए या फिर साहूकार के कर्ज को चुकाने के लिए हिस्सा देना पड़ता था। इस प्रकार खेती पर निर्भर वर्गों में सत्ता अथवा शक्ति संरचना अधिकतर शोषण और वंचना पर आधारित है।

डी.एन. धनाग्रे (1983) ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक में कहा है कि थॉर्नर द्वारा प्रतिपादित श्रेणियां और उपसमूह भारत के कृषि पर निर्भर समाज की सामाजिक संरचना के यथार्थ से काफी मिलते हैं, लेकिन इन श्रेणियों को ऐसे व्यापक और अधिक एकीकृत तरीके से फिर से समायोजित अथवा समूहों में बांटने और कृषक समाजों के अध्ययन में सामूहिक रूप से प्रयुक्त अवधारणाओं तथा मापदंडों के आधार पर पुनर्निर्धारित करने की आवश्यकता है। ऐसा नमूना लेनिन और मार्क्स के कार्यों से तैयार किया जा सकता है। विशेषकर क्रमशः रूस और चीन के समाज में कृषि पर निर्भर वर्गों के विश्लेषण से संबंधित कार्यों में से लिया जा सकता है। यह वर्ग मोटे तौर पर निम्नलिखित श्रेणियों में समाहित किए जा सकते हैं:

(1) जमींदार
(2) अमीर किसान
(3) मझोले किसान
(4) गरीब किसान
(5) भूमिहीन मजदूर

धनाग्रे (वही) का यह भी कहना है कि भारत के विभिन्न अंचलों में कृषि पर निर्भर इन वर्गों की जातियों, धार्मिक या प्रजातीय समूहों आदि के रूप में विशिष्ट स्तरीय समूहों में सामाजिक संरचना इतनी अधिक जटिल है कि इन्हें किसी सीधे-साधे फार्मूले में नहीं ढाला जा सकता। इसके बावजूद ढीलेढाले और व्यापक वर्गीकरण के लिए इसे आधार बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए जमींदार और अमीर भू-स्वामी उत्तर भारत में (जमीन न जोतने-बोने वाले नगरीय साहूकारों/मालिकों सहित) ब्राह्मण, ठाकुरों या बनिया जैसे ऊंची जातियों के थे। आंध्र प्रदेश में कम्मा, रेड्डी और राव, मैसूर में वोक्कालिग्गा और लिंगायत, गुजरात क्षेत्र में पाटीदार, महाराष्ट्र में मराठा तथा देशमुख का उदाहरण स्थानीय प्रभुतासंपन्न भूस्वामी जातियों के रूप में दिया

जा सकता है। मझोले और गरीब किसान अधिकतर कर्ज के बोझ से दबे रहते हैं और ये मूलत: किसानों, कारीगरों आदि की पारंपरिक जातियों से थे। भूमिहीन मजदूर अधिकतर अछूत जातियों, अनुसूचित जातियों आदि से थे।

आजादी के बाद के युग में भारत में कृषक वर्ग की संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। भूमि सुधार और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के सहारे नयी परिवर्तनकारी ताकतें उभरी हैं। दरअसल राष्ट्रवादी आंदोलन में उभार के साथ ही सामंतवादी वर्ग संरचना को चुनौती मिलनी शुरू हो गई थी। इन परिवर्तनों का विश्लेषण करते हुए योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि भारत में कृषि पर निर्भर वर्ग संरचना सभी जगह सामंतवादी चरित्र की थी। सामंतवादी वर्ग संरचना को राष्ट्रवादी आंदोलन से चुनौती मिलनी शुरू हुई, क्योंकि तब कृषक वर्गों की परिवर्तनकारी विचारधारा को स्वीकार किया गया और राष्ट्रीय नेतृत्व ने भी शोषित कृषक समाज का पक्ष लिया और देश के विभिन्न भागों में किसान आंदोलनों का नेतृत्व किया। इसलिए आजादी के बाद अधिकतर राज्यों में भूमि सुधार कार्यक्रम शुरू किए गए और कृषक वर्ग की संरचना को बदलने के लिए एक शुरुआत की गई। कृषक वर्ग संरचनाओं के अधिकतर सामाजिक अध्ययनों में सामाजिक परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं का जिक्र किया गया है। इसके साथ ही ऐसे अध्ययनों में उल्लिखित महत्वपूर्ण संकेत हैं:

(अ) आजादी के संघर्ष के दौरान प्रतिपादित भूमि सुधार के सिद्धांतों और बाद में भूमि सुधार के लिये उठाये गये वास्तविक कदम से भी गांव की वर्ग संरचना में कोई समाजवादी परिवर्तन नहीं आया है।

(ब) इस कमी को आंशिक तौर पर भारतीय राजनैतिक और प्रशासनिक अभिजात की वर्ग संरचना के विश्लेषण से समझा जा सकता है, जो कि आवश्यक आमूलचूल सुधारों की राह में बाधक है।

(स) वर्तमान भूमि सुधारों से जो प्रक्रिया शुरू हुई उसके द्वारा अमीर किसानों की सुरक्षा और आर्थिक संपन्नता बढ़ गई है। लेकिन आर्थिक स्तर पर तथा पट्टेदारी की स्थिरता दोनों ही लिहाज से लघु किसानों की हालत खराब हुई है।

(द) सामंतवादी और प्रथागत बटाईदारी इसमें कम हुई है और ठेका मजदूरी या दिहाड़ी मजदूर-जमींदारी प्रणाली जैसी पूंजीवादी प्रथा शुरू हो गई है।

(ई) उच्चतम और न्यूनतम वर्गों के बीच वर्गीय विषमताएं घटने के बजाय बढ़ी हैं।

(ए) भूमि सुधारों के लाभ अभी तक खेतिहर मजदूरों या पूर्व जमींदारों के बजाय तेजी से उभर रहे मझोले कृषक समाज को अधिक मिले हैं।

(ऐ) कृषक वर्ग की संरचना में इन विसंगतियों के परिणामस्वरूप ग्रामीण सामाजिक प्रणाली में तनाव बढ़ गये हैं और भविष्य में उनके और बढ़ने की आशंका है, और अंत में

(उ) गांवों में चल रहे वर्तमान वर्गीय परिवर्तनों के पीछे कुछ के बुर्जुआकरण और कई सामाजिक वर्गों के सर्वहाराकरण की सामाजिक प्रक्रिया का हाथ है।

पी.सी. जोशी (1971) ने अपने मशहूर अध्ययन में कृषक वर्ग की संरचनात्मक प्रवृत्तियों के बारे में बहुत सटीक टिप्पणियां की है। इनमें से कुछ का सारांश निम्नलिखित है :

(अ) इससे सामंतवादी और प्रथागत बंटाईदारी का विघटन हुआ है। इसकी जगह और अधिक शोषक तथा असुरक्षित पट्टेदारी व्यवस्था ने ले ली है।

(ब) इससे एक नये व्यवसाय-आधारित अमीर किसान (Commercial Farmers) वर्ग का उदय हुआ जो आंशिक रूप से मालिक और आशिंक रूप से बंटाईदार थे। उनके भीतर व्यावसायिक खेती करने की उद्यमशीलता और संसाधन थे।

(स) इससे सामंतवादी जमींदार वर्ग का पतन हुआ है तथा व्यावसायिक किसानों के नये वर्ग का उदय हुआ, जिनके लिए कृषि एक कारोबार था। उन्होंने गैर प्रथागत बंटाईदारी का प्रयोग किया।

इस प्रकार ग्रामीण भारत ने सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रिया को देखा और अब भी देख रहा है। ग्रामीण भारत में आ रहे परिवर्तनों का और एक परिणाम यह है कि लघु और सीमांत किसान से खेतीबाड़ी का धंधा छूट रहा है।

जजमानी प्रणाली

यह हिंदू जातीय प्रणाली का सामाजिक-आर्थिक आधार रहा है और भारत में कृषक सामाजिक संरचना का अन्तर्निहित हिस्सा है। ऐसा कहा जाता है कि जजमानी प्रणाली नामक यह मुहावरा भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक

नृतत्वशास्त्र को विलियम वाइजर की देन है। उन्होंने यह मुहावरा अपने अन्वेषकीय कार्य 'द हिंदू जजमानी सिस्टम' (1936) में सबसे पहले प्रयोग किया था। उन्होंने यह अध्ययन उत्तर प्रदेश के करीमपुर गांव में किया था। अपने इस मौलिक योगदान में वाइजर ने यह विस्तारपूर्वक बताया है कि माल और सेवाओं के उत्पादन और विनिमय में विभिन्न जातियां किस प्रकार एक दूसरे से लेनदेन करती हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में हालांकि इस मुहावरे के क्षेत्रीय उपनाम हैं मगर जजमानी प्रणाली समाजशास्त्रीय साहित्य में एक मानकीकृत शब्द बन गया है।

जजमानी प्रणाली के अंतर्गत गांव में हरेक जातीय समूह को अन्य जातियों के परिवारों को कुछ मानकीकृत सेवाएं (standardised services) देनी होती है। आम तौर पर इस मुहावरे का प्रयोग भूस्वामी उच्चजातियों और भूमिहीन सेवारत जातियों के बीच माल और सेवाओं के लेनदेन के सूचक के रूप में भी किया जाता है। ये जातियां हमेशा ही प्राचीन व्यावसायिक परंपरा निभाने के कारण व्यावसायिक रूप से निपुण हो जाती हैं। इसलिए इन्हें कारीगर जातियों के रूप में भी जाना जाता है। लुहार, सुनार, बुनकर, तेली, मोची, नाई, धोबी, गायक जैसी कारीगर जातियां और व्यावसायिक निपुणता वाले अन्य कई समूह, खेतिहर मजदूरी करने वाले प्राचीन काल से ही भूमिहीन अछूत जातियों के लोग 'सेवक जातियों' में आते हैं। इन्हें कमीन, प्रजन और देश के विभिन्न हिस्सों में कई अन्य नामों से पुकारा जाता है। भू-स्वामी ऊंची जातियों को मोटे तौर पर जजमान (संरक्षक) कहा जाता है (पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाले ये सेवा आधारित संबंध जजमान-प्रजन संबंध कहलाते हैं)।

जजमानी प्रथा बुनियादी तौर पर उत्पादन एवं माल सेवाओं के वितरण की कृषि आधारित प्रणाली है। जजमानी संबंधों के माध्यम से यह कारीगर जातियां प्रभुत्तासंपन्न जातियों के संपर्क में आती हैं। भूस्वामी जातियां अपनी कारीगर अथवा सेवक जातियों के प्रति उच्चता एवं पालनहार का-सा रुख अपनाती हैं।

करीमपुर गांव के इस अध्ययन में वाइजर (वही) निम्नलिखित क्रम में इस गांव में रहने वाली 24 जातियों के सदस्यों के बीच माल और सेवाओं

के विनिमय की प्रणाली का वर्णन करते हैं। देश के लगभग सभी हिस्सों में कमोबेश यही प्रथा प्रचलित है।

1. ब्राह्मण-पुजारी एवं शिक्षक
2. भाट-पारिवारिक चारण और शजर (band & geneologist)
3. कायस्थ-लेखाकार
4. सुनार-सुनार
5. माली-फूल लाने वाला
6. काछी-सब्जी पैदा करने वाला
7. लोधा-चावल उत्पादक
8. बढ़ाई एवं लुहार-लकड़ी का कारीगर और लोहे का कारीगर
9. नाई-दाढ़ी, बाल काटने वाला
10. कहार-पानी भरने वाला
11. गड़रिया-ढोर चराने वाला
12. भड़भुजा-भुना अनाज तैयार करने वाला
13. दर्जी-कपड़े सिलने वाला
14. कुम्हार-मिट्टी के बर्तन बनाने वाला
15. महाजन-व्यापारी
16. तेली-तेल पेरने वाला
17. धोबी-कपड़े धोने वाला
18. धनुक-चटाई बुनने वाला
19. चमार-चमड़ा निकालने वाला
20. भंगी-झाड़ू लगाने वाला
21. फकीर-पीढ़ी दर पीढ़ी मुसलमान भिखारी
22. मनिहार-मुसलमान चूड़ी बेचने वाला
23. धुनिया-मुसलमान रुई धुनने वाला
24. तवायफ-मुजरा करने वाली

करीमपुर में जजमानी व्यवस्था और अधिकार पर अपनी चर्चा में वाइजर ने निम्नलिखित विवरण दिया है :

1. **प्राप्ति के माध्यम** (Means of Realization)
   (क) सेवाएं
   (ख) निर्धारित भुगतान

(1) दिहाड़ी

(2) मासिक

(3) द्विवार्षिक

(4) प्रत्येक वस्तु के काम के हिसाब से

(5) विशेष अवसर

(ग) रियायतें

(अ) रहने की मुफ्त व्यवस्था

(ब) मुफ्त की लकड़ी

1. भवन निर्माण एवं मरम्मत के लिए
2. औजारों के लिए
3. ईंधन के लिए
4. अंत्येष्टि के लिए

(घ) मुफ्त भोजन

(1) हरी सब्जियां

(अ) फल

(ब) अनाज

(1) जंगली चावल

(2) खेत का बचा-खुचा अनाज

(3) चने का सीधा उपहार

(4) पका हुआ भोजन और कच्ची चीनी

(ङ.) मुफ्त कपड़ा

(च) मवेशियों के लिए मुफ्त खाना

(1) चराने का अधिकार

(2) चारा

(छ) मुफ्त गोबर

(1) ईंधन के लिए

(2) दीवारों और फर्श की लिपाई के लिए

(3) खाद के लिए

(ज) किराया माफ भूमि

(झ) कर्ज की सुविधाएं

(ञ) पूरक रोजगार की संभावनाएं

(1) पुरुषों के लिए

(2) महिलाओं के लिए

(ट) औजारों, हल आदि और जोतने वाले पशुओं का मुफ्त प्रयोग
(ठ) कच्चे माल का मुफ्त प्रयोग
(ड) मुफ्त की खाल
(ढ) चिता जलाने के लिए मुफ्त भूमि
(त) आकस्मिक अवकाश
(थ) मुकदमे में सहायता
(द) खुराक की किस्म
(ध) स्वास्थ्यप्रद स्थान

II. रख-रखाव के साधन

(1) प्रथाएं एवं मान्यताएं
(2) गांव के बुजुर्गों का प्रभाव
(क) काम करने वाले से संबंधित
(ख) जजमान से संबंधित
(3) हिंदुओं की पवित्र पुस्तकें
(क) दुनिया में मानव का स्थान
(ख) दुनिया में मानव के कर्त्तव्य
(ग) दुनिया में मानव का सर्वोच्च लक्ष्य

4. राज्य का कानून

ऑस्कर लुई (1956) ने यह सही कहा है कि इस प्रणाली के अंतर्गत गांव में रहने वाले हरेक जाति समूह को अन्य जातियों के परिवारों को एक निश्चित मानदंड के अनुसार सेवाएं प्रदान करनी होती है। पॉलिन कोलियेन्डा (1963) इस प्रणाली को वितरणपरक बताती हैं जिसके अंतर्गत ऊंची जातियों के भूस्वामी परिवार जिन्हें जजमान कहा जाता है, उन्हें विभिन्न नीची जातियों द्वारा सेवाएं एवं उत्पाद उपलब्ध कराए जाते हैं। यह प्रणाली इस प्रकार भारतीय कृषि आधारित गांव में श्रम के कार्यानुसार विभाजन को स्पष्ट करती है जिसमें भूमिका (role), संबंधों और भुगतान को शृंखला बनती है। यह व्यवस्था परंपरा के अनुसार ही चलती रही है और आपसी विश्वास तथा एक-दूसरे पर निर्भरता इसका सातत्व बनाए हुए है। इसलिए इसे भारतीय कृषि पर निर्भर प्रणाली में जाति पर आधारित कामकाजी अंतरनिर्भरता की योजना भी कहा जा सकता है। जजमानी प्रणाली की सामाजिक गतिशीलता का वर्णन करते हुए एस.पी. दूबे (1953) कहते हैं कि किसी कृषक के

लिए अपने परिवार से जुड़े किसी परिवार को हटाकर किसी दूसरे की सेवाएं प्राप्त करना आसान नहीं। जातीय पंचायत द्वारा सजा दिए जाने के डर से उसके बदले कार्य करने के लिए अन्य कोई तैयार नहीं होगा। डेविड मेंडलबॉम (1972) भारतीय गांवों के गहन अध्येता रहे हैं और उन्होंने जजमानी प्रथा की भीतरी कार्यप्रणाली पर ध्यान दिया है। उनका कहना है कि जजमानी संबंध मूलतः पारिवारिक स्तर पर ही संचालित होते हैं। भू-स्वामी राजपूत परिवार के जजमानी रिश्ते ब्राह्मण, नाई, बढ़ई आदि के एक-एक परिवार से रहते हैं तथा सेवक जातियों में से प्रत्येक का एक परिवार जजमानों के विशिष्ट परिवारों को अपनी सेवाएं देता है, लेकिन जजमानी नियमों को जातीय पंचायतें क्रियान्वित कराती हैं।

जजमानी रिश्ते अटूट होते हैं। जजमानी अधिकार को पिता से पुत्र के हाथ में जायदाद के हस्तांतरण का एक प्रकार भी माना जा सकता है। यह संबंध एक प्रकार से स्थानीय परंपराओं से ही अधिकतर संचालित होते हैं। कुल मिलाकर जजमानी प्रणाली में आधिपत्य, शोषण एवं संघर्ष ही प्रमुख तौर पर निहित हैं। भू-स्वामी प्रभुतासंपन्न संरक्षकों तथा उनकी सेवा करने वाले गरीब कारीगरों और भूमिहीन मजदूरों के बीच सत्ता के प्रयोग में भारी खाई विद्यमान है।

जजमानी प्रणाली की एक और महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जजमानी संबंधों का संचालन हालांकि ग्रामीण स्तर पर ही होता है फिर भी अक्सर वे किसी एक गांव तक ही सीमित नहीं रहते। क्योंकि सभी गांवों में सभी कारीगर जातियां नहीं होतीं इसलिए कारीगर जातियों की सेवाएं अन्य गांवों से भी अक्सर उधार ली जाती हैं। इसके अलावा सुनारों, लुहारों और बढ़ई जैसी कारीगर जातियों के लिए एक ही गांव से पूरे साल रोजगार योग्य काम जुटाना संभव नहीं है। इसलिए ऐसी जातियां एक सीमित क्षेत्र में कई गांवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। उपसंहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि जजमानी प्रथा युगों पुरानी सामाजिक संस्था है जो भारतीय गांवों में प्रचलित अंतरजातीय तथा अंतरपारिवारिक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक संबंधों को परिलक्षित करती है। यह भारत में कृषि के सामाजिक संगठन के सबसे महत्वपूर्ण अवयवों में शामिल है।

जजमानी प्रथा का पतन

भारतीय अर्थव्यवस्था के धीरे–धीरे हुए आधुनिकीकरण के समांतर जजमानी प्रथा का भी पतन हो रहा है लेकिन आजादी के बाद की अवधि में इस प्रथा का तेजी से पतन हुआ है। मोटे तौर पर जजमानी प्रथा के पतन को निम्नलिखित शीर्षकों में बताया जा सकता है:

(अ) सरकार (राज्य) की भूमिका

(ब) प्रौद्योगिकीय अन्वेषणों और औद्योगीकरण की शुरुआत

(स) दलितों और पिछड़ी जातियों की राजनैतिक लामबंदी

प्राचीन काल से ही जजमानी प्रथा पर चलने वाले गांवों की अर्थव्यवस्था प्रारंभिक स्तर पर गुजर–बसर की अर्थव्यवस्था थी, जिसका लक्ष्य स्थानीय आबादी की उपभोग संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। स्थानीय आत्मनिर्भरता और श्रम एवं पूंजी में ठहराव के कारण कृषि का व्यवसायीकरण और पूंजीवादी रूपांतरण नहीं हो पाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जानबूझकर नियोजित ढंग से यह प्रयास किया गया कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय मंडियों से जोड़ा जाए। इस कार्य को सुचारू बनाने के लिए सरकार ने परिवहन एवं संचार श्रृंखलाओं के विस्तार के लिए बड़े पैमाने पर पूंजी निवेश किया। सरकार की नीतियों से ग्रामीण भारत में अर्थव्यवस्था का तेजी से मौद्रीकरण हुआ। भारी आबादी का पेट भरने के लिए सरकार की कार्यसूची में कृषि में उत्पादकता का संवर्द्धन प्राथमिकता का विषय था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद अपनाए गए नियोजित विकास की प्रक्रिया से कृषि क्षेत्र में पूंजीगत रूपांतरण हुआ। इसके अलावा सरकार ने ऋण सुविधाएं, प्रौद्योगिक जानकारी, खाद, सिंचाई और अधिक उपजाऊ बीज आदि उपलब्ध कराने की भी पहल की। इसके कारण भूस्वामी वर्ग की मानसिकता में आमूलचूल परिवर्तन हुआ और बाजार की शक्तियों के आने के कारण सदियों पुरानी जजमानी प्रथा को जिन्दा रखने के बजाय उन्हें बिक्री के लिए अधिक उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिला। इससे भूस्वामी वर्गों तथा खेतिहर मजदूरों एवं कारीगरों के बीच ठेके पर आधारित संबंधों को बढ़ावा मिला। पारंपरिक अनौपचारिक संबंधों की जगह औपचारिक ठेकेदारी दायित्वों के अनुरूप औपचारिक संबंधों की शुरुआत होने लगी।

प्रौद्योगिकीय अन्वेषणों और औद्योगीकरण से एक ऐसी स्थिति आई जिसमें कामकाजी अंतरनिर्भरता की कोई संभावना ही नहीं बची। यांत्रिक पद्धति से तैयार सामानों के बाजार पर छा जाने और दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंच जाने के कारण ग्रामीण कारीगरों को सीधे यंत्रों से स्पर्धा करने पर मजबूर होना पड़ा। आइए, कुछ साधारण-सी प्रौद्योगिकीय खोजों का जायजा लें:

दाढ़ी बनाने के लिए सेफ्टी रेजर की विश्वसीनयता बढ़ने और उसके कारण उसका प्रयोग बढ़ने की वजह से अपने हाथ से दाढ़ी बनाने का रिवाज चल निकला और गांव के नाई का काम घट गया। स्टेनलेस स्टील के बर्तनों के आविष्कार से गांव के कुम्हार का महत्व घटा और गांव में बरमे यानि हैंडपंप लग जाने के कारण उच्च जातियों की कहारों (पानी खींचकर उसे घरों तक पहुंचाने वाले) पर निर्भरता कम हुई। इस सबके कारण अधिकतर कारीगर जातियां बेरोजगार हो गईं। इनमें से कई जातियों ने बाजार का रुख किया अथवा अपनी सेवाएं औपचारिक आर्थिक लेनदेन के अंतर्गत नकद भुगतान के बदले देनी शुरू कर दीं। इसके साथ ही सेवक जातियों के नए उभरते शहरी केंद्रों और औद्योगिक बस्तियों में पलायन का सिलसिला शुरू हो गया। गांव में छूट जाने वाले लोगों ने भूस्वामी अभिजात की जमीनों पर दिहाड़ी मजदूरी अपना ली। इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था अब अधिकांश शहरी और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से एकीकृत होने लगी।

आजादी से पहले राष्ट्रवादी आंदोलन में सामाजिक समानता के बारे में एक सैद्धांतिक और लगभग अर्द्धवैचारिक प्रतिबद्धता दिखाई दी थी। कमजोर वर्गों-दलित, आदिवासियों और पिछड़ी जातियों से समतामूलक और अन्याय तथा शोषण मुक्त नए समाज की स्थापना का वायदा किया गया था। इस दृष्टि से पिछड़ी जातियों के आंदोलनों ने भारत के दक्षिणी और पश्चिमी क्षेत्रों में अपना रंग जमा लिया था। संविधान के लागू हो जाने से सरकार उनके कल्याण और सशक्तीकरण के लिए प्रतिबद्ध हो गई।

वर्तमान भारतीय समाज में एक अत्यंत स्थायी महत्व का परिवर्तन दलितों एवं अन्य पिछड़े वर्गों में अपनी पहचान की नई भावना का प्रस्फुटन है। भारतीय जनसंख्या के पिछड़े वर्गों का लोकतंत्र में अपनी हिस्सेदारी के लिए संघर्ष और देश के विभिन्न हिस्सों में उनकी राजनैतिक लामबंदी

शोषणमूलक जजमानी प्रथा के लिए गंभीर चुनौती साबित हुई। जजमानी प्रथा भूस्वामी ऊंची जातियों के पारंपरिक कृषि पर निर्भर अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण के साथ ही उनके एकाधिकारवादी अधिकार पर आधारित थी। पिछड़े वर्गों द्वारा नए आत्मविश्वास और लोकतंत्र में हिस्सेदारी के लिए उनके संघर्ष से जजमानी प्रथा पतन के गर्त में जा रही है। इसके बावजूद इस तर्क में भी दम दिखाई दे रहा है कि कमजोर वर्गों द्वारा इस प्रकार प्राप्त किए गए अधिकारों का नई आर्थिक नीतियों और वैश्वीकरण से फिर हनन होने के आसार बन रहे हैं।

भारतीय गांवों पर बाजार अर्थव्यवस्था का प्रभाव

हम जब भारत के गांवों पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि प्राचीन काल से ही ग्रामीण अर्थव्यवस्था प्राथमिक तौर पर जीवनयापन उन्मुख अर्थव्यवस्था थी, जिसका लक्ष्य स्थानीय जनसंख्या की उपभोग संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करना था। जजमानी प्रथा आर्थिक संगठन का आधार थी। इसके अंतर्गत विभिन्न जातियों के स्थानीय लोग स्थानीय प्रथाओं के अनुसार माल और सेवा के विनिमय में लिप्त थे। लेकिन यह भी सच है कि जीवनयापन आधारित इस अर्थव्यवस्था में भी बाजार की मामूली भूमिका अवश्य थी। लोग स्थानीय होते थे, विभिन्न अवधियों में अनौपचारिक बाजार लगते थे लेकिन इनमें औपचारिक आर्थिक सौदों के बजाय सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकलापों पर अधिक जोर होता था। निर्धारित अवधि पर लगने वाली हाटों में गांवों के समूहों के बीच अंतरसंबंध स्थापित होने की संभावना भी बनती थी। ऐसे बाजारों में आर्थिक विनिमय खास तौर पर पुनर्वितरण अथवा वस्तु विनिमय जैसा होता था। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में औद्योगीकरण से पूर्व के नगरीय केंद्रों में सीमित मात्रा में नगदी अर्थव्यवस्था और बाजार विनिमय मध्यकाल से ही चला आ रहा है।

ब्रिटेन के आधिपत्य की शुरुआत और उसके बाद शुरू हुई आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण परिवर्तन की गति तेज हुई। अंग्रेजों के राज में औपनिवेशिक निजी स्वार्थों ने कृषि में एक नए प्रकार की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था थोप दी। भूमि भी वस्तु और जायदाद हो गई। मौद्रीकरण को बढ़ावा देने के लिए नए प्रकार की भूराजस्व प्रणाली लागू की गई। इसके साथ ही कृषकीकरण और विकृषकीकरण की प्रक्रिया भी देखी गई विशेषकर आदिवासी समुदायों

के बीच में। अंग्रेजी शासकों द्वारा भूराजस्व निर्धारित करने की जो प्रणाली लागू की गई थी, उसके अंतर्गत लगान का भुगतान नगद करना होता था। इससे अपनी फसल से अधिक से अधिक नकदी बटोरने या व्यावसायिक फसलें पैदा करने की तेजी से शुरुआत हुई। इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था नगरीय और बाद में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जुड़ी। यही भारतीय गांवों तक बाजार अर्थव्यवस्था के प्रसार और मौद्रीकरण की शुरुआत भी थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद परिवहन एवं संचार के आधुनिक साधन सरकार द्वारा खड़े करने शुरू किए गए। यह मुहिम बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास कार्यक्रमों के अंतर्गत चलाई गई, जिससे बाजार अर्थव्यवस्था का ग्रामीण भारत तक पूरी तरह विस्तार हुआ। इसके साथ ही शहरी बाजारों में उपलब्ध रोजमर्रा उपयोग की वस्तुएं जैसे साबुन, टूथपेस्ट, हौजरी आदि गांवों और कस्बों के बीच उपलब्ध हैं। दूसरी तरफ उत्तर भारत के किसी गांव से पोल्ट्री की चीजें दूरदराज के क्षेत्रों से महानगरों के बाजार तक पहुंच गई हैं। कृषक समाज में अमीर वर्ग बन जाने से गांवों में भी आराम के सामान की भारी मांग बन गई है। ए. आर. देसाई ने अपने मौलिक योगदान में ग्रामीण भारत में परिवर्तन की चार प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है:

(अ) कृषि पर निर्भर समाज का जीवनयापन आधारित अर्थव्यवस्था से बाजार अर्थव्यवस्था में त्वरित रूपांतरण,

(ब) आधुनिक प्रौद्योगिकी अपनाये जाने से आया त्वरित परिवर्तन,

(स) जमींदारों और बिसवेदारों जैसे बिचौलियों का पतन,

(द) नगरीय एवं राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय संगठनों से जुड़े संघों और संस्थाओं की स्थापना।

बाजार अर्थव्यवस्था की शुरुआत से उत्पादन और उपभोग की प्रकृति में परिवर्तन आया। अब कृषि उत्पादन के पीछे प्रमुख उद्देश्य मंडी में बेचने लायक अतिरिक्त फसल उगाना बन गया। इससे बाजार की शक्तियों के अधिक से अधिक प्रवेश का रास्ता बना। इससे ग्रामीण जनता में उपभोग उन्मुख जीवनचर्या को भी बढ़ावा मिला। नगरीय यांत्रिक पद्धति से निर्मित वस्तुओं की मांग तेजी से बढ़ी। इन वस्तुओं का उपभोग और उन्हें घर में रखा जाना हैसियत के सूचक (status symbols) बन गए। इस प्रकार बाजार अर्थव्यवस्था द्वारा संचालित ग्रामीण रूपांतरण को निम्नलिखित रूप में संक्षेप

में बताया जा सकता है:

(अ) नई बाजार अर्थव्यवस्था ने अमीर किसानों, बड़े व्यापारियों, छोटे अधिकारियों और राजनैतिक कार्यकर्ताओं का नया वर्ग पैदा किया।

(ब) इससे बड़ी संख्या में नई सुविधाएं भी स्थापित हुईं, खासकर ऋण की सुविधा।

(स) अब ग्रामीण समाज में क्रेडिट कार्ड भी पहुंच गए हैं।

(द) अब बेहतर उपादानों जैसे ट्रैक्टरों, पानी खींचने के पंपों, हार्वेस्टर आदि का प्रयोग भी हो रहा है।

(ध) कृषकों के अमीर भूस्वामी वर्ग और बेहद गरीब भूमिहीन मजदूरों के बीच की खाई और भी गहरी हो गई।

(च) मौद्रीकरण से सामाजिक गतिशीलता के अवसर बढ़ गए हैं। इसका संयुक्त परिवार जैसी पारंपरिक सामाजिक संस्थाओं पर गहरा असर पड़ा। संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों की आमदनी जुटाने की भिन्न-भिन्न क्षमता के कारण छोटे-छोटे परिवारों की स्थापना का चलन शुरू हुआ।

(छ) इससे कामकाज बदलने (व्यावसायिक गतिशीलता) और नया धंधा अपनाने का चलन शुरू हुआ।

(ज) व्यवसाय मुक्त जातीय संरचना (occupation free caste structure) बनने लगी, जिससे पारंपरिक जजमानी प्रथा को गहरा झटका लगा।

(झ) आर्थिक उन्नयन व गतिशीलता में जातीय बाधाएं ध्वस्त हो रही हैं।

(य) स्वास्थ्य सेवाओं और शिक्षा के नए अवसर ग्रामीण जीवन में पहुंच रहे हैं।

(ल) इससे महिलाओं के सशक्तीकरण को अप्रत्यक्ष बढ़ावा मिला है।

इन सभी विशेषताओं में हाल की कुछ घटनाएं सबसे अधिक चर्चित रही हैं। ये घटनाएं कृषि पर निर्भरता से होने वाली निराशा और उसके कारण हुई किसानों की आत्महत्याओं की हैं। ये आत्महत्याएं हरित क्रांति वाले क्षेत्रों जैसे-पंजाब, हरियाणा, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश आदि क्षेत्रों में भी होना चिंता का विषय है। ए. आर. वासवी (1999) ने कृषकों की आत्महत्या की गुत्थी का विश्लेषण करते हुए बताया है कि इसकी कुछ आम प्रवृत्तियां और कारण हैं। उन्होंने यह ठीक ही कहा है कि अर्द्धबंजर क्षेत्रों में भी संकर

बीजों, रासायनिक खाद एवं कीटनाशकों के उपयोग के द्वारा नगदी फसलों को बढ़ावा दिए जाने के कई दुष्परिणाम हुए हैं। कुल मिलाकर उन क्षेत्रों की पारिस्थितिकी प्रकृति (ecological specificity) और व्यावसायिक कृषि प्रथाओं के बीच तालमेल नहीं बन पा रहा। जलवायु में परिवर्तनों, खासकर वर्षा में आए परिवर्तनों के कारण वहां कृषि में अनिश्चितता और जोखिम बढ़ रहा है जिसकी वजह से कृषि पारिस्थितिकी संकट का शिकार हो रही है। पारिस्थितिकी संकट के साथ आर्थिक संकट ने हालात और भी खराब कर दिए हैं। व्यावसायिक कृषि को हालांकि बाहरी कच्चे माल के उपयोग के आधार पर संचालित किया जाता है, मगर इस कच्चेमाल को खरीदने के लिए सांस्थानिक कर्ज (institutional credit) की सांस्थानिक सुविधाएं कृषकों को बहुत सीमित मात्रा में (अधिकतर बड़े भू-स्वामियों को) उपलब्ध हैं। ज्यादातर कृषक व्यावसायिक खेती करने के लिए भारी कर्ज उठा लेते हैं। लघु और सीमांत कृषकों को चूंकि सांस्थानिक कर्ज तुरंत और आसानी से नहीं मिल पाता, इसलिए वे आधुनिक कृषि को अपनाने अथवा खेती का धंधा बरकरार रखने के लिए ऊँची ब्याज दरों पर निजी सूदखोरों से कर्ज लेने पर मजबूर होते हैं। स्थानीय सूदखोर और साहूकारों से उन्हें आसानी से कर्ज मिल जाता है जो कि ब्याजखोरी पर ही फलते-फूलते हैं। पारिस्थितिकीय संकट के दौर में कीटों की मार पड़ने या फसलों में बीमारी लग जाने पर ऐसे किसानों को और ज्यादा कर्ज लेना पड़ता है।

मूलतः सूखे कृषि क्षेत्रों में व्यावसायिक कृषि शुरू किए जाने का प्रभाव सामाजिक ताने बाने पर भी पड़ा है। इस प्रकार की कृषि में स्थानीय अथवा देसी जानकारी के सिद्धांतों और जातीय एवं कुटुंबीय संबंधों से कोई सहायता नहीं मिलती। ऐसी खेती में कृषि व्यवसाय के एजेंट और एजेंसियां तथा कृषि विस्तार कार्यकर्ताओं की भूमिका ही प्रमुख रहती है और जानकारी देने वाले पारंपरिक संस्थानों की कोई पूछ नहीं होती। इसका नुकसान यह होता है कि ये बाहरी तत्व अनपढ़ कृषकों के हितों के प्रति अकसर कोई ध्यान नहीं देते।

कीमतों में भारी उतार-चढ़ाव बाजार अर्थव्यवस्था का हिस्सा है और इससे समस्याएं और बढ़ जाती हैं। सरकारी एजेंसियों द्वारा निश्चित खरीद अथवा समर्थन मूल्य के अभाव में उत्पादन की अधिक लागत के कारण

किसान अकेले पड़ जाते हैं। किसान कीटनाशकों में बड़े पैमाने पर मिलावट और नकदी फसलों के बीजों की कई किस्मों की गारंटी न होने की भी शिकायत करते हैं। लगातार दो फसलों के खराब हो जाने पर किसानों का भट्ठा बैठ जाता है। बदलती कृषि प्रथाओं, सरकार और प्रशासन से मिलने वाली सहायता में गिरावट, बाजार की शक्तियों के आगे किसानों की घटती ताकत, कृषि में बढ़ता जोखिम और समाज के समर्थन में कमी जैसी परिस्थितियों में इस बात का आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि कृषिकों को कितना निजी तनाव झेलना पड़ता होगा। फसल खराब हो जाने या उनके नियंत्रण से बाहर दामों में भीषण उतार-चढ़ाव की नौबत आने पर सुरक्षा के लिए बिना किसी सहारे के किसानों पर बाजार एवं पूंजी की मार छोटे किसानों को तो तबाह करके कंगाल बना देती है। आत्महत्या की घटनाएं जिस प्रकार किसी क्षेत्र में फैली निराशा की प्रतीक हैं, उसी तरह जिंदा रहने के लिए खाए जाने वाले अनाज से वंचना को भी गम्भीरतापूर्वक लिया जाना चाहिए। सूसन जॉर्ज (1985) ने जैसा कहा है कि किसी भी निर्धारित क्षेत्र में बिना पर्याप्त वैकल्पिक आर्थिक आधार बने मुख्य अनाजों का गायब हो जाना, खाद्य सुरक्षा के लिए खतरे की घंटी है और उसमें स्थानीय समुदाय भी असुरक्षित हो जाता है। इस प्रकार आत्महत्या की घटनाएं बाजार अर्थव्यवस्था से जुड़े आर्थिक कारणों से सीधे संबद्ध हैं।

◆◆◆

आठवाँ अध्याय

भारत में कमजोर वर्ग

(Worker Sections in Indian Society)

292

खण्ड आठ

भारत में कमजोर वर्ग

(Worker Sections in Indian Society)

24

अनुसूचित जातियां

(Scheduled Castes)

'अनुसूचित जाति' (Scheduled Caste) शब्द लगभग आधी शताब्दी से प्रचलित है। पहली बार इसका प्रयोग 1935 के **भारत सरकार अधिनियम** में हुआ था। अप्रैल 1936 में अंग्रेज सरकार ने **भारत सरकार (अनुसूचित जाति)** आदेश जारी किया था जिसमें असम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मध्य प्रान्त, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन प्रान्तों की कुछ जातियों व जनजातियों को 'अनुसूचित' विनिर्दिष्ट किया गया था। इसके पहले यह जातियां 'दलित वर्ग' (Depressed Classes) कहलाती थी। 1931 की जनगणना में दलित वर्ग को सुव्यवस्थित ढंग से वर्गीकृत किया गया था। 1936 में जारी की गयी 'अनुसूचित जातियों' की सूची दलित वर्गों की पहली सूची जैसी ही थी। 1950 में जो सूची बनाई गई वह पहली सूची में परिवर्धन करके बनाई गयी थी। संविधान की उद्घोषणा के बाद इन सूचियों को अनुच्छेद 341 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा अधिसूचित किया गया। इस बीच गैरसरकारी इस्तेमाल में 'हरिजन' शब्द भी काफी प्रचलित रहा।

संविधान के अनुच्छेद 341 में कुछ पिछड़ी हुई जातियों और समुदायों को, जो अस्पृश्यता एवं अन्य कई सामाजिक निर्योग्यताओं का शिकार थीं, 'अनुसूचित जातियां' घोषित किया गया था। अनुसूचित जातियों की मौजूदा सूची में कोई भी संशोधन संसदीय अधिनियमन द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अनुसूचित जाति' नाम की उत्पत्ति प्रशासनिक है, न कि सामाजिक या समाजशास्त्रीय।

जनसंख्या और वितरण

अनुसूचित जातियों की आबादी भारत की कुल आबादी की 15.8

प्रतिशत है। यह आबादी लगभग एक हजार जातियों में विभाजित है जिनमें से बहुतों के नाम पर्यायवाची हैं। इनमें से कुछ अनुसूचित जातियों की जनसंख्या करोड़ों में है। अधिक जनसंख्या वाली अनुसूचित जातियों में चमार (जिनकी संख्या अनुसूचित जातियों की कुल आबादी का एक चौथाई है), भंगी, आदि- द्रविड़, पासी, मदीगा, दुसाध, माली, परायन, कोली/कोरी, माहर, आदि- कर्नाटक, नामशूद्र आदि आते हैं। प्रत्येक राज्य की अनुसूचित जातियों की अपनी अलग सूची है।

अगली तालिका में प्रचुर संख्या में विभिन्न राज्यों में बसने वाली अनुसूचित जातियों की संख्या दर्शाई गयी है।

राज्य का नाम	अनुसूचित जातियों की संख्या
1. कर्नाटक	95
2. उड़ीसा	88
3. राजस्थान	76
4. तमिलनाडु	74
5. मध्य प्रदेश	60
6. महाराष्ट्र	60
7. उत्तर प्रदेश	60
8. पश्चिम बंगाल	60
9. आन्ध्र प्रदेश	60

अनुसूचित जातियों की आबादी की जनसंख्या को देखने पर अनेक दिलचस्प और महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, अनुसूचित जातियों की आबादी का लगभग आधा हिस्सा पांच हिन्दी भाषी राज्यों में रहता है जिनके नाम हैं उत्तर प्रदेश (235 लाख), बिहार (100 लाख), मध्य प्रदेश (73 लाख), राजस्थान (58 लाख) और हरियाणा (25 लाख)। दक्षिण के राज्यों में इनकी सर्वाधिक आबादी तमिलनाडु में (88 लाख) और आंध्र प्रदेश (79 लाख) है, पूर्वी भारत में यह आबादी पश्चिम बंगाल में 120 लाख है। महत्वपूर्ण बात यह है कि राज्यों की कुल आबादी में अनुपात की

दृष्टि से अनुसूचित जातियों की आबादी पंजाब में 27 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश में 25 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल में 22 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में 21 प्रतिशत और हरियाणा में 19 प्रतिशत है। अनुसूचित जातियों का आबादी का अधिकांश (84 प्रतिशत) ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है। उनमें ज्यादातर खेतिहर मजदूर, खेतों पर बटाई पर काम करने वाले तथा सीमान्त कृषक हैं।

सामाजिक-आर्थिक समस्याएं और सामाजिक निर्योग्यताएं (Socioeconomic Problems and Social Disabilities)

चूंकि अनुसूचित जातियों की उत्पत्ति ही जाति प्रथा की अत्यधिक भेदभाव वाली और कभी-कभी तो अमानवीय प्रकृति के परिणामस्वरूप हुई है, इसलिए कोई भी व्यक्ति जाति तंत्र को भलीभांति समझे बिना अनुसूचित जातियों की समस्याओं को न तो समझ सकता है और न ही उसके समाधान के लिए आवश्यक उपायों को प्रस्तावित कर सकता है। अस्पृश्यता, आनुष्ठानिक पवित्रता/प्रदूषण जाति प्रथा की अत्यधिक भेदभाव वाली प्रकृति का अपरिहार्य आधार है। आबादी के एक संपूर्ण हिस्से को कूड़ा या मल उठाने, चमड़ा उतारने, साफ करने या रंगने जैसे अस्वच्छ पेशे देकर उन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया गया। अस्पृश्य होने का तात्पर्य यहीं तक सीमित नहीं रहा कि इसका आनुष्ठानिक कारणों से स्पर्श न किया जाए बल्कि अस्पृश्यता ने इंसान को एक ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण और तुच्छ दुनिया में भेज दिया जिसमें निराशा ही निराशा थी। एक समस्या से दूसरी समस्या उपजती है और एक निर्योग्यता से दूसरी। उदाहरणार्थ, यदि समाज के एक भाग विशेष के लिए मंदिर जैसे पवित्र स्थान में प्रवेश वर्जित किया गया और यदि परम्परागत व्यवस्था में शिक्षा मंदिर-परिसर में दी जाती हो तो समाज का वह भाग निश्चित रूप से शिक्षा से स्वतः वंचित रह जायेगा। यदि कोई रीति या प्रथा लागू करके उसके बल पर समाज के एक हिस्से के लिए भूमि का स्वामी होना प्रतिबन्धित कर दिया जाता है तो निश्चय ही उसकी आर्थिक शक्ति कभी-भी न बन सकेगी। इसके अलावा एक खेतिहर समाज में जहां भूमि के स्वामित्व से ही समस्त शक्तियों का प्रादुर्भाव व प्रसार होता है, भूमिहीन होने से सभी प्रकार की वंचनाओं का दुष्चक्र (vicious circle) चलने लगता है। यदि समाज के एक भाग के लिए सोने का स्पर्श या उसका

इस्तेमाल वर्जित कर दिया जाए तो वह आर्थिक संकट आने पर सोना गिरवी रखकर या उसका कोई जेवर बेचकर उस संकट से बचने का अवसर भी खो देता है। ऐसे में बस एक ही मार्ग शेष रह जाता है उसके पास कि वह हर तरह शोषण का शिकार हो। सबसे बड़ी बात यह है कि कर्मकांडीय प्रदूषण संबंधी कारणों से उसे धोबी, नाऊ, पुरोहित आदि की सेवाएं भी नहीं मिलती।

अनुसूचित जातियों की आबादी का अधिकांश भाग जिन निर्योग्यताओं (disabilities) से प्रताड़ित है, उनमें से कुछ प्रमुख हैं :

1. अपना व्यवसाय चुनने की आजादी का अभाव।
2. भूमिहीन होना।
3. बेगार।
4. शिक्षा साधनों और सुविधाओं का अभाव
5. पृथक या विलगित (Isolated or segregated) आवास
6. राजनीतिक अधिकारों को इस्तेमाल करने की आजादी का अभाव

स्पष्ट है कि इन सभी निर्योग्यताओं की जननी आनुष्ठानिक शुद्धता, आनुष्ठानिक सोच और उन दोनों के परिणामस्वरूप प्रचलित अस्पृश्यता का पाप सदियों से निरंतर चली आ रही अत्यधिक भेदभाववाली सामाजिक व्यवस्था है। अनुसूचित जातियों की आबादी का ज्यादातर हिस्सा जिन सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से जूझता रहा है, उनमें से कुछ प्रमुख हैं :

1. दुःसाध्य ऋण ग्रस्तता।
2. भूमिहीनता/भूमि हस्तांतरण।
3. अशिक्षा।
4. बलात श्रम या बेगार और वैश्यावृत्ति।
5. 'न्यूनतम मजदूरी' की व्यवस्था का अभाव।
6. बाल श्रम आदि।

परम्परागत भूमिहीनता और असाध्य ऋणग्रस्तता अनुसूचित जातियों की

सहचरी समस्याएं हैं। उन्हें देश की आज़ादी के बाद ज़मींदारी उन्मूलन और उसके बाद के भूमि सुधारों के फलस्वरूप थोड़ी भूमि मिली भी थी, उनमें बहुत से भूमि हस्तांतरण के शिकार हो उसे गंवा बैठे। चाहे वह भूमिहीन हो या सीमान्त कृषक ग्रामीण क्षेत्र में अनुसूचित जाति के औसत व्यक्ति की दशा दयनीय बनी हुई है क्योंकि उसे शोषण और वंचनाएं झेली पड़ती हैं। उनके लिए बच्चों को स्कूल भेजने का अर्थ परिवार की आय में उनके द्वारा लाए गए अंश या योगदान से वंचित होना होता है। ऐसी स्थिति में उनके लिए स्कूल खोलने या उन्हें निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था व्यर्थ ही होगी क्योंकि वहां उन सुविधाओं का लाभ उठाने वालों का ही अभाव होगा। जहां सामन्तवादी प्रवृत्तियां मौजूद हैं और खेतिहर मजदूर संगठित नहीं है (जैसा कि हमारे देश में है)। बलात-श्रम या बेगार अथवा बहुत कम दर की मजदूरी एक सामान्य बात है। अनेक कारणों से ग्रामीण क्षेत्रों में भी जजमानी व्यवस्था विगत चार दशकों से निरन्तर लड़खड़ा रही है। इसने भी ग्रामीण क्षेत्रों में अन्तर्जातीय संबंधों और जातिगत समीकरणों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है।

कानूनों को बनाने का तात्पर्य अनुसूचित जातियों के अधिकारों की रक्षा करना है। उनके हित में समाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति और अनुसूचित जातियों की न्यायसंगत एवं विधि-सम्मत मांगों का समर्थन करने वाला वातावरण तैयार करना है जो अनके सरकारी विभागों, लोक क्षेत्रीय एवं वामपंथी संगठनों के कार्यों के फलस्वरूप उभर कर अस्तित्व में आया है तथा 'प्रगतिशील प्रेस' ने उनके सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन को सक्रिय और जीवन्त बनाने में योगदान दिया है।

संवैधानिक संरक्षण (Constitutional Safeguards)

जब हमारे 'संस्थापक पितामह' स्वतंत्र भारत का संविधान बना रहे थे तब उन्होंने इस बारे में पूरी सतर्कता बरती कि अनुसूचित जातियों के संरक्षण और उनकी रक्षा के उपायों की, खास तौर पर और आम नागरिकों के अधिकारों के रूप में पूर्णतः सुनिश्चि कर दिया जाए जिससे उनके शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को बढ़ावा मिले और वे अपनी सामाजिक निर्योग्यताओं से

मुक्त हो सकें। संविधान में अनुसूचित जातियों के हितों का संरक्षण और उन्नयन करने वाले महत्वपूर्ण अनुच्छेद निम्नलिखित हैं :

1. **अनुच्छेद** 15(4) में कहा गया है कि इस अनुच्छेद 29 के खंड (2) की कोई बात राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई सुविधा उपलब्ध करने से नहीं रोकेगी।

2. **अनुच्छेद** 16(4) में स्पष्ट किया गया है कि अनुच्छेद की कोई बात राज्य को पिछड़े हुए नागरिकों के किसी वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के आरक्षण के लिए उपलब्ध करने से वंचित नहीं करेगी।

3. **अनुच्छेद** 17 द्वारा अस्पृश्यता के उन्मूलन की बात कही गई है और किसी भी रूप में उसके आचरण को निषिद्ध किया गया है।

4. **अनुच्छेद** 25(2) के तहत हिन्दुओं के सार्वजनिक धार्मिक स्थलों को हिन्दुओं के सभी वर्गों और अनुभागों के लिए खोलने का उपबन्ध किया गया है।

5. **अनुच्छेद** 15(2)

हैं, जो दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सामाजिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या पूर्णतः या अंशतः राज्य-निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नान घाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग से संबंधित है।

6. **अनुच्छेद** 29(2) में कहा गया है कि राज्य द्वारा पोषित या राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को वंचित नहीं किया जायेगा।

7. **अनुच्छेद** 46 में कहा गया है कि राज्य, जनता के दुर्बल वर्गों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय एवं सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

8. **अनुच्छेद 330 और 332** द्वारा लोकसभा और राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों (असम, नागालैंड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम के जनजातिय क्षेत्रों को छोड़कर) के लिए स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था की गयी है।

9. **अनुच्छेद 338** के जरिये एक विशेष अधिकारी (अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का आयुक्त) की नियक्ति की व्यवस्था की गयी। इस विशेष अधिकारी का कर्तव्य है कि वह संविधान के अधीन उपबन्धित रक्षा उपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे और उन रक्षा उपायों के कार्यकरण के संबंध में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे। संविधान के 65वें संशोधन द्वारा विशेष अधिकारी के स्थान पर 1992 से **अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग** स्थापित किया गया है।

10. **अनुच्छेद 341** राष्ट्रपति को किसी भी जाति, मूल वंश या जनजाति को अनुसूचित जाति घोषित करने का अधिकार देता है।

अस्पृश्यता के विरुद्ध विधान और सिविल अधिकारों की रक्षा

लक्ष्य परिधि में विस्तार करने तथा दण्ड उपबंधों को अधिक कड़ा बनाने की दृष्टि से 1955 के **अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम** को व्यापक रूप से संशोधित करके 1976 में **अस्पृश्यता (अपराध) संशोधन तथा प्रकीर्ण उपबंध अधिनियम** बनाया गया। यह 19 नवम्बर 1976 से लागू हुआ।

इस अधिनियम में अस्पृश्यता के आधार पर किसी को उन अधिकारों का, जो अस्पृश्यता उन्मूलन के फलस्वरूप उसे प्राप्त हुए हैं, उपभोग करने से वंचित करने वालों के लिए दण्ड या जुर्माने की व्यवस्था है। पश्वात्वर्ती अपराधों के लिए अधिक दण्ड या जुर्माने की व्यवस्था है।

1951 के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की आठवीं धारा में इस बात का अनुबंध है कि जो व्यक्ति इस अधिनियम के तहत दोषी सिद्ध होता है वह दोष सिद्धि की तिथि से आगामी छह वर्षों तक के लिए संसदीय या विधानसभा के चुनाव के लए अयोग्य घोषित कर दिया जायेगा।

सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 की धारा 15ए(2) के उपबंध के अनुसार राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों को केन्द्रीय सहायता दी जाती है। 20 राज्यों द्वारा पी.सी.आर. अधिनियम संबंधी मामलों में अनुसूचित जाति के आहत व्यक्ति के लिए क़ानूनी सहायता की व्यवस्था भी की गई है। 19 राज्यों में पी.सी.आर. अधिनियम के उपबंधों को लागू कराने के लिए तथा उसमें बाधा डालने या तोड़ने वालों को दण्ड दिलाने के लिए विशेष प्रकोष्ठ एवं दस्ते बने हुए हैं। अट्ठारह राज्यों में विभिन्न स्तरों पर ऐसी समितियां बनी हुई हैं जो अस्पृश्यता की समस्याओं और उससे संबंधित मामलों की अवधि विशेष पर समीक्षा करती हैं। आंध्र प्रदेश, बिहार, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान और तमिलनाडु के उन जिलों में जहां अस्पृश्यता और अत्याचार की घटनाएं आमतौर से होती रहती हैं, मामलों को जल्दी निपटाने के लिए तिरपन विशेष अदालतें और विशेष सचल अदालतें हैं। पी.सी.आर. अधिनियम के उपबंधों को प्रभावी ढंग से लागू कराने के लिए राज्यों को समय-समय पर आवश्यक मार्गदर्शन, सिद्धांत और हिदायतें भेजी जाती हैं। उसके लिए राज्यों को कार्य के अनुरूप केन्द्रीय सहायता भी दी जाती है। इसके अन्तर्गत मेहतरों को टट्टी कमाने के काम से छुटकारा दिलाने के लिए पुरानी कमाऊ टट्टियों का रूपान्तर करने का काम भी शुरू किया गया है। कुछ चुने हुए नगरों में ट्टी कमाने वाले परिवारों के लिए दूसरे रोज़गारों की व्यवस्था भी की जा रही है।

अनुसूचित जातियों पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए कार्यवाहियां

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के विरुद्ध होने वाले अपराधों से प्रभावी ढंग से निपटने तथा इस महत्वपूर्ण समस्या का डटकर मुकाबला करने के लिए प्रशासकीय तंत्र को चुस्त-दुरुस्त करने की दृष्टि से ऐसी व्यापक और विस्तीर्ण मार्गदर्शक-व्यवस्था मौजूद है जिसमें संघ राज्य क्षेत्रों की सरकारों को अमल करना पड़ता है। फिर भी, इस समुदाय पर एक न एक अत्याचार होता ही रहता है। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों को अन्याय और अत्याचार से बचाने के लिए सरकार ने **अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम** 1989

बनाया। यह अधिनियम 30 जनवरी 1990 को लागू हुआ। इसमें वे सभी अपराध विनिर्दिष्ट किये गये हैं जिन्हें अत्याचार समझा जाता है और उन सबके लिए उसमें विभिन्न प्रकार के उपयुक्त दण्डों का निर्देश किया गया है। अधिनियम में निवारक उपाय भी बताये गये हैं और राज्यों को अन्य कार्यवाहियों के साथ-साथ इस प्रकार के पीड़ित और आपदाग्रस्त लोगों के आर्थिक एवं सामाजिक सुधार तथा पुनर्वास के लिए योजनाएं भी बनानी पड़ती हैं।

कल्याण और परामर्शदात्री एजेन्सियां

1. कल्याण मंत्रालय अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिए संपूर्ण नीति बनाने और कार्यक्रमों का नियोजन एवं उनमें समन्वय करने वाली शीर्ष एजेन्सी थी। कल्याण मंत्रालय विभिन्न केन्द्रीय मंत्रालयों और राज्य सरकारों के बीच परस्पर संपर्क बनाये रखने का काम भी करता था। अब यह मंत्रालय **सामाजिक न्याय व सशक्तिकरण मंत्रालय** के नाम से जाना जाता है।

2. सरकार ने 1966, 1971 और 1973 में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याणर्थ संवैधानिक रक्षा उपायों के कार्यान्वयन की जांच के लिए तीन बार संसदीय समितियां बनाई थीं। बाद में इस समिति को स्थायी कर दिया गया। उसके सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष का होता है।

3. राज्य सरकारों और संघ राज्य क्षेत्र की सरकारों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण संबंधी कार्यों के लिए अलग-अलग विभाग हैं। इन प्रशासन तंत्रों में भिन्नताएं है।

4. अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिए अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं भी काम करती हैं। अनुसूचित जातियों के बीच कल्याण कार्य करने वाले गैरसरकारी स्वयंसेवी संगठनों को उनके साधनों के अतिरिक्त सरकार से सहायता और अनुदान भी मिलता है।

5. सरकार समाज विज्ञान संबंधी अनुसंधान की उन सुप्रसिद्ध एजेन्सियों

और संस्थानों को शत-प्रतिशत वित्तीय सहायता देती है जो अनुसूचित जातियों के आर्थिक विकास, उनकी समस्याओं व आवश्यकताओं के साथ-साथ सरकार द्वारा संचालित विभिन्न आर्थिक कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के प्रभाव और परिणामों के अध्ययन में अपनी प्रमाणिक विशेषज्ञता के लिए प्रसिद्ध हैं।

विकास के प्रयास

देश की आजादी के पहले अनुसूचित जातियों के कल्याण का कार्य नियोजित ढंग से नहीं किया जाता था और जो उपाय अपनाये जाते थे वे तदर्थ होते थे। स्वतंत्रता के बाद अनुसूचित जातियों की समस्याओं की समय-समय पर अनेक आयोगों और समितियों द्वारा समीक्षा की गयी और उनके सामाजिक एवं आर्थिक उन्नयन के लिए कदम उठाये गये। अनुसूचित जातियों के विकास और कल्याण के लिए आजकल जो कार्रवाइयां की जा रही हैं, संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

अनुसूचित जातियों के विकास के लिए एक त्रिमुखी नीति बनाई गयी जो इस प्रकार है :

1. केन्द्रीय मंत्रालयों व राज्य सरकारों की विशेष संघटक योजनाएं

2. राज्य की अनुसूचित जातियों के लिए विशेष संघटक योजनाओं को विशेष केन्द्रीय सहायताएं।

3. राज्यों में अनुसूचित जाति विकास निगम की स्थापना।

◆◆◆

25

अनुसूचित जनजातियां

(Scheduled Tribes)

जनजाति क्या है? किसी मानव समूह को एक जनजाति मानने के लिए यथार्थ रूप से कौन-सी कसौटियां हैं? जनजातीय जीवन की क्या विलक्षणता है?

यह रोचक किन्तु दु:खद है कि मानवशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता, प्रशासक तथा ऐसे ही दूसरे लोग जो जनजातियों तथा उनकी समस्याओं से सैद्धांतिक स्तर अथवा व्यावहारिक आधार पर जुड़े रहे हैं, विषय वस्तु की अपनी अवधारणा एवं परिभाषा के विषय में एकमत नहीं हैं। आर्थर विल्के इत्यादि (1979) समस्या को उचित परिप्रेक्ष्य में यह कहकर प्रस्तुत करते हैं कि वर्षों तक भारत में जनजातीय लोगों के आधिकारिक आलेख व चित्रण को संदिग्धता ने जकड़ रखा था। उदाहरणार्थ, सन् 1917 से 1931 की जनगणना तक जनजातियों के नामकरण सन्दर्भों में उत्तरोत्तर संशोधन होते रहे, जैसे आदिवासी अथवा 'दलित वर्ग।' सन् 1941 की जनगणना तक इन विशिष्ट विशेषणों को त्याग दिया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् 'अनुसूचित जनजातियों, तथा 'आदिवासी' (जैसा उन्हें सामान्यत: पुकारा जाता है) का अभिप्राय ग्रहण करने की प्रथा चलती रही। इस प्रकार का प्रमाणीकरण भी संदिग्धता को पूर्णतया समाप्त नहीं कर पाया।

निस्सन्देह समय बीतने के साथ 'जनजाति' की अवधारणा तथा परिभाषा संबंधी मतभेद कुछ हद तक निश्चित रूप से कम हो गये, किन्तु इस समस्या को उचित परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए सद्धान्तिक विचार-विमर्श आवश्यक है।

वर्तमान अध्याय में विचार-विमर्श के आधार स्वरूप यहां जनजाति की कुछ परिभाषाएं दी जा रही हैं :-

'जनजाति' समान नाम धारण करने वाले परिवारों का एक संकलन है, जो समान बोली बोलते हों, एक ही भूखण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हों अथवा दखल रखते हों तथा जो साधारणतया अन्तर्विवाही न हों यद्यपि मूल रूप में चाहे वैसे रह रहे हों।

-इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया

'जनजाति' विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरण में लोगों का एक समूह है जो एक मुखिया की सत्ता स्वीकारते हों तथा साधारणतया अपना एक समान पूर्वज मानते हों।

-आक्सफोर्ड शब्दकोश

सरलतम रूप में 'जनजाति' ऐसी टोलियों का समूह है जिसका एक सान्निध्य वाले भूखण्ड अथवा भूखंडों पर अधिकार हो और जिनमें एकता की भावना, संस्कृति में गहन समानता, निरन्तर सम्पर्क तथा कतिपय सामुदायिक हितों में समानता से उत्पन्न हुई हो।

-राल्फ लिंटन

'जनजाति' समान संस्कृति वाली जनसंख्या का एक स्वतंत्र राजनीतिक विभाजन है।

-लूसी मेयर

'जनजाति' समान नाम के तले एकत्रित एक जनसमूह है जिसमें कि समूह के सदस्य इस बात पर गर्व महसूस करते हैं कि वे समान भाषी, समान भूखण्ड स्वामी हैं तथा जो लोग उनके नाम के अंशधर नहीं हैं वे बाहरी ही नहीं बल्कि शत्रु हैं।

-जी. डब्ल्यू. बी. हाण्टिगफोर्ड

'जनजाति क्षेत्रीय संबंध युक्त तथा अंतर्विवाही सामाजिक समूह है जिसके कार्यों में कोई विशेषज्ञता नहीं होती, जो जनजातीय अधिकारियों द्वारा शासित, वंशानुक्रम अथवा अन्य बोली में जुड़े हुए, अन्य जनजातियों अथवा जातियों से सामाजिक दूरी को मान्यता देने वाले, अपने प्रति किसी प्रकार की सामाजिक असमानताओं को नहीं जोड़ते (जैसा कि जाति संरचना में होता है), जो जनजातीय परम्पराओं में विश्वास रखते हैं तथा प्रथाओं का पालन करते हैं, विदेशी स्रोतों के विचारों के

प्राकृतिकीकरण में अनुदारता तथा सबसे अधिक सजातीयता और क्षेत्रीय अखण्डता में विश्वास करते हैं।

-डी. एन. मजूमदार

आदर्श रूप में, जनजातीय समाज आकार में छोटे, अपने सामाजिक, विधिक तथा राजनीतिक संबंधों की स्थानिक एवं कालिक परास (temporal range) में प्रतिबिन्धत होते हैं तथा नैतिकता, धर्म तथा तद्नुरूप आयामों की विश्व-दृष्टि रखते हैं। अभिलाक्षणिकता की दृष्टि से भी जनजातीय भाषायें अलिखित होती हैं, अस्तु संचार की सीमा काल और दोनों ही दृष्टियों से अवश्यम्भावी रूप से संकीर्ण हैं। इसके बावजूद जनजातीय समाज आलेखों में मितव्ययिता प्रदर्शित करते हैं तथा अपने में एक ऐसी अभिसंकुचन एवं आत्मनिर्भरता रखते हैं जिसका आधुनिक समाज में अभाव है।

-एल. एम. लेविस

मजूमदार (1967) ठीक कहते हैं, कि जब कोई विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को देखता है तो उसका जनजाति के संघटक तत्त्वों संबंधी विचारों की असमानता से प्रभावित न होना असंभव है। नातेदारी व्यवस्था, समान भूखण्ड, समभाषा, स्वामित्व, एक राजनैतिक संगठन, आंतरिक संघर्ष की अनुपस्थिति आदि सभी का वर्णन एक जनजाति की मुख्य विशेषताओं में रूप में किया गया है। कुछ मानवशास्त्रियों ने न केवल कुछ उपरोक्त विशेषताओं को स्वीकार किया है अपितु उनमें से कुछ को एक जनजाति की विशेषताओं के रूप में स्वीकार करने का भी दृढ़ता से विरोध किया है। इस प्रकार रिवर्स ने एक समान भूखण्ड में निवास करने को जनजातीय संगठन के महत्वपूर्ण लक्षण के रूप में वर्णित नहीं किया है, यद्यपि पेरी जैसे अन्य विद्वानों ने यह कहकर इस पर जोर दिया है कि यहां तक कि यायावर (घुमक्कड़) जनजातियां भी एक निश्चित क्षेत्र में ही विचरण करती हैं। रैड क्लिफ ब्राउन ने अपने आस्ट्रेलियायी आंकड़ों से जनजाति की एक टुकड़ी के दूसरे से लड़ने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार के विद्वत् विचारों की विभिन्नता से कोई व्यक्ति केवल यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि प्रत्येक मानवशास्त्री के जनजाति संबंधी विचार उस प्रकार के आंकड़ों से उत्पन्न होते हैं, जिनसे वह सर्वाधिक सुपरिचित होता है। इसलिए कोई

व्यक्ति विश्वव्यापी (व्यापक) विशेषताओं वाली एक सूची तैयार कर सकता है, जिनमें से कुछ किसी भी स्थान की जनजाति को परिभाषित कर सकती है। इस प्रकार पूर्ववर्ती पृष्ठ पर दी गई अपनी परिभाषा की विश्वव्यापी प्रयोज्यता का दावा मजूमदार करते हैं।

जनजाति की परिभाषा करने में एक सबसे बड़ी बाधा कृषक वर्ग (Peasantry) से जनजाति का विभेद करने की समस्या है। आन्द्रे बीते (1973) का कहना है कि जनजाति तथा कृषक नामकरण का प्रयोग इस प्रकार के सामाजिक संगठन के लिए करना तथा एक दूसरे से वैषम्य करके चरित्रांकन करना निस्संदेह सम्भव है। किन्तु जनजातीय समाजों के अध्ययन में मानवशास्त्रियों द्वारा निवेशित समस्त प्रयासों के बावजूद एक जनजातीय समाज को परिभाषित करने का वास्तव में कोई मार्ग नहीं है। भारतीय सन्दर्भ में इसका अर्थ यह होता है कि मानवशास्त्रियों ने कुछ अस्पष्ट प्रकार से एक से अन्य के वैषम्य का प्रयास किया है जो स्वयं भी उतना ही अस्पष्ट है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज की परिभाषा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया बल्कि खामोशी से मान लिया कि आस्ट्रेलिया, मेलानेशिया व अफ्रीका में जो उनके द्वारा अध्ययन किए जा रहे हैं वह ही जनजातीय समाज के विविध रूप हैं। जनजाति को कुछ अस्पष्ट रूप से समान सरकार, समान बोली व समान संस्कृति रखने वाला कमोबेश समजातीय समाज मान लिया गया। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति आन्द्रे बीते की मान्यता से सहमत नहीं होगा लेकिन उसका यह कथन इस समस्या का निकटता से दृढ़ अध्ययन करने वाले अनेक विचार समुदायों में से एक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपरोक्त परिचर्चा से यह प्रदर्शित होता है कि जनजाति अथवा जनजातीय समाज की निष्कर्षात्मक परिभाषा सहज नहीं है तथा इस संबंध में किसी प्रकार का मानकीकरण प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। इसलिए जनजाति की अवधारणा के क्षेत्रीय गुणार्थ को दृष्टि में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी स्तर से हट जाना अधिक अच्छा होगा तथा अपनी समस्याओं के समाधान हेतु भारतीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत ही मानकीकरण प्रस्तुत करने की ओर ध्यान केन्द्रित करना ठीक होगा। ऐसा करना इस परिस्थिति में कदापि उचित लगता है क्योंकि विश्वव्यापी प्रयोज्यता वाली परिभाषाएं यां तो बहुत

विस्तृत तथा पोली हैं अथवा अत्यन्त संकीर्ण तथा सीमित हैं। इस संदर्भ में आंद्रे बीते की टिप्पणी उचित है कि बेली सम्भवत: भारतीय क्षेत्र में कार्य करने वाला एकमात्र मानवशास्त्री है जिसने खण्डीय सिद्धांतों के आधार पर जनजातियों का चरित्रांकन किया है किन्तु जिस वैषम्य में वह रुचि रखता था वह जनजाति तथा कृषक वर्ग के मध्य का वैषम्य नहीं वरन् ''जनजाति'' तथा ''जाति'' के बीच का वैषम्य है। इसके आगे बेली को छोड़कर अधिकांश भारतीय मानवशास्त्रियों ने जनजातीय समाज की एक-सी परिभाषा का सृजन करने की समस्या की ओर गंभीर चिन्तन नहीं किया जो भारतीय संदर्भों में उपयुक्त होता है।

अब हम इस समस्या का परीक्षण विशिष्ट रूप से भारतीय सन्दर्भों में करें।

टी. बी. नायक (1960) ने जनजातीय जीवन की कसौटियों तथा सूचकांकों की बात विशिष्ट रूप से भारतीय संदर्भ में करके इस समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। जनजातीय जीवन की क्या कसौटियां तथा सूचकांक होने चाहिए? वनों में रहना? सूरत के डुबला तथा बहुत से अन्य जनजातीय लोग वनों में नहीं रहते, वे उर्वरक मैदानों में रहते हैं, तथापि वे अनुसूची में सम्मिलित किये गए हैं। आदिम धर्म? किन्तु आप नहीं जानते हैं कि भारत में आदिम धर्म क्या है। क्योंकि यहां भारत के अधिकांश उन्नत समुदायों के धर्मों में अत्यन्त गूढ़ दर्शन से लेकर जनजातीय देवताओं तथा अन्धविश्वास से परिपूर्ण विश्वासों में एक निरन्तरता पाई जाती है। इस सूचना के भ्रामक तथा यथातथ्य न होने के कारण पयाप्त नहीं हैं। भौगोलिक निस्संगता व अलगाव से सैकड़ों जनजातीय समूह पृथक् जीवन नहीं जी रहे हैं। अनेक कृषक समूह समान आदिम (जनजातीय) आर्थिक प्रणाली द्वारा जीवनयापन कर रहे हैं। इस प्रकार नायक जनजाति के लिए स्वयं अपनी कसौटियां प्रस्तुत करते हैं। ये कसौटियां निम्नलिखित हैं-

1. किसी जनजाति को जनजाति होने के लिए समुदाय के भीतर न्यूनतम प्रकार्यात्मक पारस्परिक निर्भरता होनी चाहिए। (हिन्दू जाति व्यवस्था परस्पर निर्भरता का एक उदाहरण है)।

2. उसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा होना चाहिए जिसका अर्थ है कि-

(क) उसके सदस्यों को मुद्रा व सिक्कों वाले अर्थशास्त्र के संपूर्ण महत्व का ज्ञान नहीं होना चाहिए।

(ख) प्राकृतिक साधनों के समउपायोजन के लिए आदिम साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(ग) जनजाति की अर्थव्यवस्था अल्प विकसित चरण पर होनी चाहिए।

(घ) उसको अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का अनुसरण करना चाहिए।

3. उसकी अन्य लोगों से तुलनात्मक भौगोलिक पृथकता होनी चाहिए।

4. सांस्कृतिक दृष्टि से एक जनजाति के सदस्यों की एक बोली होनी चाहिए जिसमें क्षेत्रीय विभिन्नता पाई जा सकती है।

5. एक जनजाति को राजनैतिक दृष्टि से संगठित होना चाहिए तथा उसकी सामुदायिक पंचायत को एक प्रभावशाली संस्था होना चाहिए।

6. जनजाति के सदस्यों में परिवर्तन की न्यूनतम अभिलाषा होनी चाहिए। उनमें एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक रूढ़िवादिता होनी चाहिए जो उन्हें उनकी प्राचीन प्रथाओं से चिपकाये रखे।

7. एक जनजाति में परम्परागत नियम होने चाहिए तथा उसके सदस्यों को इन कानूनों के कारण न्यायालय में हानि उठानी पड़ सकती है।

नायक अपने दृष्टिकोण की और अधिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी भी समुदाय को जनजाति होने के लिए सभी उपरोक्त गुणों का होना आवश्यक है। उसमें पर संस्कृति (एकलचुरेशन) हो सकता है किन्तु परसंस्कृतिग्रहण के प्रभाव का निर्धारण उसकी रूढ़ियों, देवताओं, भाषा आदि के सन्दर्भ में होना चाहिए। बहुत अधिक मात्रा में उत्संस्करण स्वत: ही उसे एक जनजाति होने से वर्जित कर देगा।

एहरेनफेल्स यह कहकर कुछ पूर्व चर्चित बिन्दुओं की व्याख्या करते हैं कि–

1. एक समुदाय, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, एक भौगोलिक क्षेत्र में अन्य समुदायों से पृथक रह सकता है। यह एक जाति तथा एक जनजाति दोनों पर लागू होता है। एक ''वास्तविक'' जनजाति के सदस्य सामान्यत: पारस्परिक हिन्दू जाति के अधिक्रम में सम्मिलित नहीं किये जाते तथा बारम्बार एक समान बोली बोलते हैं, समान विश्वासों को ग्रहण करते

हैं, समान व्यावसायिक तरीकों का पालन करते हैं तथा (सबसे महत्वपूर्ण) अपने को एक छोटे किन्तु अर्द्धराष्ट्रीय एकाई का सदस्य मानते हैं।

2. मैं उपरोक्त परिभाषा से "अधिक पिछड़ापन", 'आदिम साधन' व "अल्पविकसित चरण" जैसे शब्दों को निकाल दूंगा तथा उसके स्थान पर "आत्मनिर्भर" (खासी, गोंड, भील, अगरिया तथा अन्य जो अंशत: आर्थिक दृष्टि से अपने गैर जनजातीय पड़ोसियों की अपेक्षाकृत अधिक विशेषीकृत हैं) शब्द रखूंगा। यद्यपि किसी जनजाति का प्रत्येक व्यक्ति अपने पारिवारिक समूह के लिए कार्य कर सकता है और अन्य जनजातीय सदस्यों से प्रकार्यात्मक रूप से स्वतंत्र रह सकता है, फिर भी यह देखना होगा कि किस सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति समग्र रूप से अपनी जनजाति के साथ अपेक्षाकृत जनजातीय हिन्दुओं के जातीय वंशक्रम में सहभागीदार के रूप में एकात्मकता में रहता है।

3. मैं भौगोलिक पृथकता की परिभाषा से सहमत हूं, यद्यपि प्रत्येक जनजाति लोगों की पृथक्कीकरण इकाई नहीं है, (उदाहरणार्थ- भील, संथाल, इरुला इत्यादि) किन्तु यदि जनजाति की अपनी अर्थ प्रणाली है तो इसकी एकात्मकता निस्संदेह अधिक स्थाई होगी।

4. असम तथा मध्य क्षेत्रों में समान बोलियां अथवा भाषाएं वहां की जनजातियों की विशेषता है किन्तु भारत के दक्षिणी तथा पश्चिमी राज्यों में यह बात लागू नहीं होती किन्तु जनजातीय चेतना का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक नहीं है पूर्व परसंस्कृतिग्रहण (pre-acculturation) के दिनों में अधिकांश जनजातियों की मौलिक कर्मिक अवधारणाएं उनके हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान अथवा ईसाई पड़ोसियों से भिन्न थीं किन्तु अब ऐसा होना जरूरी नहीं है।

5. एक जनजाति को न तो सदैव राजनैतिक दृष्टि से संगठित होना आवश्यक है न ही सामुदायिक पंचायत का रखना। वह एक अकेला मुखिया रख भी सकता है और नहीं भी, अथवा कुछ बुजुर्ग जिनका समुदाय में कमाबेश प्रभाव व शक्ति हो, रख सकती है।

6. मैं उपरोक्त प्रासंगिक अनुच्छेद को निकाल दूंगा तथा उसके स्थान पर यह कहूंगा कि "एक जनजाति के सदस्य एक समूह से संबंधित होने की भावना रखते हैं जिसका अस्तित्व मूल्यावान् है।"

7. लगभग सभी जनजातियों के रूढ़िगत कानून एवं व्यवहार होते हैं जो कमाबेश अपने जनजातीय पड़ोसियों से भिन्न होते हैं। प्रायः उन्हें इस कारण ही न्यायालयों तथा अंतर्जातीय लोगों के साथ संपर्क स्थितियों में हानि उठानी पड़ती है।

टाटा समाज विज्ञान संस्थान ने भारतीय जनजातियों पर अपनी रिपोर्ट में उन्हें भी सम्मिलित कर लिया है जो इस समस्या के संबंध में मानवशास्त्रियों के दृष्टिकोण की आलोचना करते रहे हैं। इसका कहना है कि मानवशास्त्रीय कसौटियां आदर्श जनजातीय समुदायों पर लागू होती हैं जैसाकि मानवशास्त्रियों ने सैद्धान्तिक प्रयोजन के लिए इसकी कल्पना की है। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि अनुसूचित जनजाति श्रेणी में पायी जाने वाली बहुत-सी जनजातियां वास्तविक रूप में जनजाति नहीं कहलाई जा सकतीं। इसका तार्किक निहितार्थ यह लगता है कि जो समुदाय उपरोक्त कसौटियों को सन्तुष्ट नहीं करते उन्हें "जनजाति" नहीं माना जाना चाहिए यद्यपि उन्हें अनुसूचित जनजातियों की सूची में सम्मिलित किया गया है। आर्थर विल्के इत्यादि (1979) का अन्य लोगों के समान मत है कि मानवशास्त्र के अध्ययन के बौद्धिक स्वरूप में यदि बहुत नहीं तो कुछ सीमा तक कठिनाई अंतर्निहित है। अयप्पन इस प्रकार के विवरणों से उत्तेजित होकर अपेक्षाकृत संशयात्मक रूप से टिप्पणी करते हैं तथा हमें टेटरिंगन द्वारा दी गई जनजातियों (स्पेशीज) की जानी-मानी परिभाषा की याद दिलाते हैं। इस परिभाषा को स्वीकार करते हुए उन्होंने (अयप्पन) कहा कि जनजाति एक ऐसा मानव समूह है जिसे एक समर्थ (अक्षय) मानवशास्त्री "जनजाति" माने। यदि प्रशासक एक स्पष्ट परिभाषा चाहता है जिसका वह आंख बंद करके प्रयोग कर सके तथा उससे भली प्रकार काम चला सके तो हमें उसे बताना चाहिए कि वह हमारे पास नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक जीव विज्ञानी ऐसी स्थिति में नहीं है कि वह जन्तु जातियों की सर्वप्रयोगार्थ परिभाषा दे सके।

"जनजाति" की परिभाषा की समस्या पर इस प्रकार के अलंकारिक एवं शैक्षिक अथवा शास्त्रीय वाद-विवाद के बावजूद इस कार्य में पर्याप्त मात्रा में मानकीकरण करने में सफलता प्राप्त हो चुकी है कि कौन-से लोग विशिष्ट सुरक्षा व सुविधायें पाने के अधिकारी हैं अथवा कौन-से लोग नहीं। यह उन्हीं मानवशास्त्रियों के प्रबल शैक्षिक प्रयासों से ही संभव हुआ है, जो चारों ओर से प्रताड़ित किये गये थे।

मजूमदार (1967) इस नये मूड की व्याख्या निम्नलिखित तथ्यों द्वारा करते हैं:-

1. जनजातीय भारत में ''जनजाति'' निश्चित रूप से एक क्षेत्रीय समूह है। एक जनजाति का पारम्परिक भूखण्ड होता है तथा उत्प्रवासी सदैव उसे अपना घर मानते हैं। असम के चाय बागानों में काम करने वाले संथाल, बिहार अथवा बंगाल के विशिष्ट क्षेत्रों का अपने घर के रूप में आज भी हवाला देते हैं।

2. एक जनजाति के सभी सदस्य एक-दूसरे के नातेदार नहीं होते हैं, किन्तु प्रत्येक भारतीय जनजाति के अन्तर्गत नातेदारी एक सुदृढ़ सहचारी, नियामक तथा एकीकरण सिद्धांत के रूप में कार्य करती है। इसका परिणाम जनजातीय अन्तर्विवाह तथा एक जनजाति का गोत्रों एवं उपगोत्रों में विभाजन के रूप में सामने आया है। यह गोत्र नातेदारी समूह होने के कारण बहिर्विवाही होते हैं।

3. एक भारतीय जनजाति के सदस्य एक समान भाषा बोलते हैं, स्वयं उनकी अपनी अथवा अपने पड़ोसियों की। सामूहिक पैमाने पर अन्तर्जातीय संघर्ष भारतीय जनजातियों के लक्षण नहीं है। संपत्ति का संयुक्त स्वामित्व जहां भी है, उदाहरणार्थ, होत लोगों में, अपवर्जित नहीं है। राजनैतिक दृष्टि से, भारतीय जनजातियां राज्य सरकारों के नियन्त्रण में हैं किन्तु एक जनजाति के भीतर एक ग्राम अथवा आसन्न ग्रामों की संघटक जनसंख्या की प्रजातीय तथा सांस्कृतिक विषमजातीयता के अनुरूप, अनेक पंचायते हो सकती हैं।

भारतीय जनजातियों के अन्य बहुत से दूसरे विशिष्ट लक्षण हैं। इस प्रकार उनके युवागृह, बालकों एवं बालिकाओं में संस्थागत शिक्षा की अनुपस्थिति, जन्म विवाह तथा मृत्यु के संबंध में विशिष्ट प्रथायें, हिन्दुओं तथा मुसलमानों से भिन्न नैतिक संहिता, धार्मिक विश्वासों की विशिष्टतायें जनजातियों को निम्न जातीय हिन्दुओं से भी भिन्न करती हैं।

इस चर्चा को समाप्त करते हुए आर्थर (विल्के) का सन्दर्भ नितान्त उचित लगता है जिनका मत है कि नौकरशाही के निर्णय लेने की बाध्यता तथा प्रशासन के सर्वोच्च होने के कारण मानव समाज को रंगारंगी में विविधताओं की अनदेखा करने की प्रवृत्ति सदा मौजूद रही है। शासन की अपनी मजबूरियां जिसमें राजनैतिक कारक भी शामिल हैं, तथा संपूर्ण जनजातीय

भारत में घटने वाली सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों ने ''जनजाति'' के किसी आदर्श प्रतिमान के अस्तित्व को असम्भव बना दिया है।

संविधान और अनुसूचित जनजातियां (Constitution and Scheduled Tribes)

संविधान में कहीं भी 'जनजाति' शब्द की सुव्यक्त परिभाषा नहीं है। वस्तुत: इसकी संपूर्ण और सुस्पष्ट व्याख्या कहीं भी नहीं मिलती। आम आदमी के लिए यह शब्द अपने विलक्षण 'आचरणों एवं रीति-रिवाजों के साथ पर्वतों और जंगलों में रहने वाले सीधे-सरल जनसमूह' की ओर इंगित करता है। जिन्हें कुछ अधिक जानकारी है वे इस शब्द का अर्थ लोक समुदाय के उन मनोरंजक लोगों से लगाते हैं जो अपने नृत्य, गीत और वनौषधियों के लिए विख्यात हैं। प्रशासन की दृष्टि में यह नागरिकों का वह वर्ग है जिनकी विशेष जिम्मेदारी भारत के राष्ट्रपति पर है और मानवशास्त्री के लिए यह एक सामाजिक वर्ग के अध्ययन का विशिष्ट क्षेत्र है। अपने-अपने दृष्टिकोण में ये सभी धारणाएं सही हैं।

संविधान में जनजाति की परिभाषा को सीमांकित करते हुए कहा गया कि अनुसूचित जनजातियां वे हैं जिन्हें 'राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 342 की लोक अधिसूचना द्वारा जनजातियों या जनजाति-समुदायों अथवा जनजातियों या जनजाति समुदाय के भागों में विनिर्दिष्ट किया है। यह अनेकार्थता कभी-कभी जनजातियों की किसी आबादी को अनुसूचित जनजाति घोषित करने के लिए उसकी पहचान स्थापित करने या उसका वर्गीकरण करने के काम में विभ्रम अवश्य पैदा करती है किन्तु इसे जनजाति कल्याण कार्यक्रम के परिपालन में बाधा नहीं समझा जाना चाहिए (देखिए- जनजाति की परिभाषा एवं अवधारणा और उनमें अंतर्ग्रस्त समस्याओं से संबंधित पिछला अध्याय)।

स्वाधीनता के उदय और स्वतंत्र भारत का संविधान स्वीकृत हो जाने के बाद उनके विकास और कल्याण का दायित्व राष्ट्रपति एवं राज्यपाल के माध्यम से लोकप्रिय सरकारों को सौंपा गया। निदेशक तत्त्वों का अनुगमन करने के लिए अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याणार्थ विशेष अनुच्छेदों की व्यवस्था की गयी। इनमें से ज्यादातर दोनों वर्गों के लिए एक समान हैं। किन्तु ऐसे भी हैं जो इन दोनों में से किसी एक पर लागू होते हैं। निम्नलिखित विषय-वस्तु के आधार पर इन संवैधानिक उपबन्धों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है।

1. संरक्षण संबंधी उपलब्ध
2. विकास संबंधी उपबंध

संरक्षण संबंधी उपबंध, जो उनके विकास के लिए आवश्यक हैं, उन्हें सामाजिक एवं आर्थिक शोषण तथा अन्याय से संरक्षण प्रदान करते हैं। अनुसूचित जनजातियों के विकास से सम्बद्ध उपबंधों का उद्देश्य उन्हें उनकी सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के लिए वास्तविक सुविधाएं और सुअवसर प्रदान करना है। ये संवैधानिक उपबंध संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

संरक्षी उपबंध

अनुच्छेद 15(4) : सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक हितों को प्रोत्साहन- यद्यपि अनुच्छेद 15 द्वारा धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव का निषेध किया गया है फिर भी इसी अनुच्छेद के खड 4 से एक छूट की व्यवस्था है जिसके अनुसार राज्य को अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों एवं सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े नागरिकों की उन्नति एवं प्रगति के लिए कोई भी उपबन्ध बनाने का अधिकार दिया गया है। यह उपबंध अनुच्छेद 46 में परिकल्पित इस नीति के अनुरूप है कि राज्य को पूरी जिम्मेदारी के साथ कमजोर वर्गों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहित करना एवं सामाजिक अन्याय से उनकी रक्षा करना चाहिए। इस उपबंध को विशेष रूप से इसलिए भी शामिल किया है कि यदि राज्य सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की उन्नति के उद्देश्य से कोई विशेष व्यवस्था करे तो उसे नागरिकों में भेदभाव के आधार पर किसी न्यालालय में चुनौती न दी जा सके।

अनुच्छेद 16(4) : पदों और नौकरियों में आरक्षण और अनुच्छेद 19(5) : संपत्ति के मामलों में जनजातियों के हितों की सुरक्षा- हालांकि संविधान में प्रत्येक नागरिक को भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संरचरण, उसके किसी भी भाग में बसने, निवास करने और संपत्ति का क्रय-विक्रय करने के अधिकार की गारंटी दी गयी है तो अनुच्छेद 19(5) के अंतर्गत राज्य अनुसूचित जनजाति के लोगों के हितों की रक्षार्थ विशेष प्रतिबंध लगा सकता है चूंकि इस समाज के साथ सभी प्रकार की ...बाजी करना और इसका शोषण करना आसान है इसलिए ऐसी व्यवस्थाएं ... गयी हैं जिनके अन्तर्गत ये लोग कुछ विशेष परिस्थितियों को

छोड़कर अपनी निजी संपत्ति किसी को हस्तान्तरित नहीं कर सकते। उनके अपने हित में कानून बनाकर उसका सामान्य नागरिकों की भांति सर्वत्र संचरण, किसी क्षेत्र विशेष में बसना अथवा वहां संपत्ति हस्तगत करना रोका भी जा सकता है।

अनुच्छेद 23 : मानव का अवैध व्यापार और बलात श्रम का निषेध आदि- इसके द्वारा मानव का दुर्व्यवहार, बेगार और अन्य प्रकार के बलात श्रम निषिद्ध किये गये हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण उपबंध है क्योंकि अनुसूचित जनजातियों का शोषण करना बड़ा आसान है और उनके लोगों को बंधुआ बनाया जा सकता है। वास्तव में, देश की जनजातियों के सदस्यों का एक बड़ा हिस्सा बंधुआ होने के कारण बहुत ही विषादमय जीवन बिता रहा है।

अनुच्छेद 29 : सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार

अनुच्छेद 29 (2) अनुच्छेद 15 की धारा से नियंत्रित है। प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 द्वारा संविधान में सम्मिलित। इसने अनुच्छेद 15 और 29 को अनुच्छेद 16(4), 46 और 340 के अनुकूल बना दिया है। इस प्रकार राज्य द्वारा सरकारी शैक्षिक संस्थानों में पिछड़े वर्ग के लिए पदों का आरक्षण संविधानसम्मत हो गये हैं। अनुच्छेद 29 के अनुसार भारतीय नागरिकों के किसी भी ऐसे अनुभाग को जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार है। यह अनुच्छेद अनुसूचित जनजातियों को अपनी भाषाओं और संस्कृतियों को बनाये रखने के लिए संरक्षण प्रदान करता है। राज्य द्वारा कानून बनाकर उन पर कोई संस्कृति या भाषा लादी नहीं जा सकती।

अनुच्छेद 46 : अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों की अभिवृद्धि।

अनुच्छेद 164 : बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश राज्यों में जनजातियों के कल्याण के भारसाधक मंत्री की नियुक्ति : इन राज्यों में जनजातियों के लोगों की खासी आबादी है और जनजाति के कल्याण के लिए विशेष रूप से एक मंत्री की व्यवस्था, जनजाति के हितों की सुरक्षा के लिए संविधान निर्माताओं की चिंता की साक्षी है।

अनुच्छेद 330, 332 और 334 : लोकसभा एवं विधानसभाओं में आरक्षण

अनुच्छेद 335 : आरक्षण के दावे व सीमायें

अनुच्छेद 338 : विशेष अधिकारी की नियुक्ति

अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए एक विशेष अधिकारी की व्यवस्था है जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करता है। इस विशेष अधिकारी का कर्तव्य है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए संविधान के अधीन उपबन्धित रक्षात्मक उपायों से संबंधित सभी विषयों का अन्वेषण करे। वह रक्षात्मक उपायों के कार्यकरण के संबंध में, ऐसे अंतराल पर जो राष्ट्रपति निर्दिष्ट करें, राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे। राष्ट्रपति ऐसी सभी रिपोर्टों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेंगे। यह विशेष अधिकारी- ''अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त'' कहलाता था। 65वें संशोधन के पश्चात अब इसके स्थान पर **अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों का राष्ट्रीय आयोग** गठित हो चुका है।

अनुच्छेद 339 (1) : आयोग की नियुक्ति- राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के बारे में प्रतिवेदन देने के लिए एक आयोग की नियुक्ति, आदेश द्वारा किसी भी समय कर सकेगा और इसे संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर करेगा। केवल एक ऐसा आयोग 28 अप्रैल 1960 को नियुक्त किया गया था जिसका नाम ''अनुसूचित क्षेत्र एवं अनुसूचित जनजाति आयोग'' था। इस आयोग ने अक्टूबर 1961 में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। इसके अध्यक्ष स्व. श्री. यू.एन. ढेबर थे। इसलिए यह 'ढेबा आयोग' के नाम से प्रसिद्ध है। 2003 में इसी प्रकार का एक दूसरा आयोग श्री डी.एस. भूरिया की अध्यक्षता में गठित किया गया था।

आर्थिक विकास के उद्देश्य से की गयी व्यवस्थाएं

अनुच्छेद 275 और 339

अनुसूचित जनजातियों के आर्थिक विकास के लए की गयी व्यवस्थाएं मुख्यत: अनुच्छेद 275 और 339 के अन्तर्गत हैं। अनुच्छेद 275 के अन्तर्गत संविधान के उपबंधों की पूर्ति के लिए राज्यों की संघ से अनुदान मिलने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 339(2) की स्थापना है कि संघ की कार्यपालिका

शक्ति का विस्तार किसी ऐसे राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा जो उस राज्य की अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए निर्देश में आवश्यक बताई गयी स्कीमों के बनाने और उनके निष्पादन के बारे में है।

पांचवीं और छठी अनुसूचियां

संविधान के दसवें भाग में अनुच्छेद 244 और 244(क) के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन से संबंधित व्यवस्थाएं हैं। संविधान में अनुसूचित क्षेत्रों और जनजाति क्षेत्रों का एक विशिष्ट अर्थबोध है। अनुसूचित क्षेत्रों का शासन पांचवीं अनुसूची के उपबंधों के अनुसार होता है इसलिए इन क्षेत्रों को ''पांचवीं अनुसूची क्षेत्र'' भी कहा जा सकता है। जनजाति क्षेत्रों का शासन छठी अनुसूची के उपबंधों के आधार पर होता है।

पांचवी अनुसूची

अनुसूचित क्षेत्रों और उनके प्रशासन पर पांचवीं अनुसूची के उपबन्ध लागू होते हैं। यहां उन क्षेत्रों से मतलब है जिन्हें राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया गया है। संसद को इस अनुसूची में कोई भी संशोधन करने का अधिकार है और उसे अनुच्छेद 368 हेतु संविधान का संशोधन नहीं माना जाएगा।

अनुसूचित क्षेत्रों का इतिहास ''अनुसूचित जिला एक्ट 1874'' से प्रारम्भ होता है जिसके अन्तर्गत जिलों में दीवानी और फौजदारी के मामलों में न्याय करने, बस्तियों की देखभाल, सरकारी राजस्व की उगाही, लगान आदि से संबंधित मामलों और अन्यथा परिस्थितियों में अधीक्षण करने तथा प्रशासन चलाने की व्यवस्था की गयी थी। इसके उपरान्त ये क्षेत्र ''भारत सरकार एक्ट 1919'' तथा ''भारत सरकार एक्ट 1935'' (बहिर्गत और अंशत: बहिर्गत क्षेत्र एक्ट) के दौर से गुजरते हुए अब वर्तमान संविधान में पांचवीं अनुसूची के अन्तर्गत हैं।

अनुसूचित क्षेत्रों का गठन दो बहुत ही स्पष्ट उद्देश्यों से किया गया है: (क) बिना किसी बाहरी विघ्न या रुकावट के जनजाति के लोगों को अपने मौजूदा अधिकारों का पूरा-पूरा लाभ उठाने में सहायता देना और (ख) अनुसूचित जनजातियों का विकास करना तथा अनुसूचित जनजातियों के हितों को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान करना।

राष्ट्रपति के आदेश से आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र,

उड़ीसा, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को **अनुसूचित क्षेत्र** घोषित किया जा चुका है। पांचवीं अनुसूची की प्रमुख विशेषताएं हैं : (क) राज्यपाल की विशिष्ट विधायी शक्तियां (ख) राष्ट्रपति को राज्यपाल का प्रतिवेदन और (ग) 'जनजाति सलाहकार परिषद्' का गठन।

छठी अनुसूची

छठी अनुसूची असम, मेघालय, मिजोरम और त्रिपुरा राज्यों के जनजाति क्षेत्रों पर लागू होती है। इन जनजाति क्षेत्रों की प्रमुख विशेषताएं हैं : (क) अपने अधिकार क्षेत्र के मामलों में ये पूर्णतः स्वशासी हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें ''राज्य के भीतर राज्य'' की संज्ञा दी जा सकती है, (ख) स्वशासी जिला और स्वशासी प्रदेशों के जरिये जनजातियों का अपना प्रबंध अपने आप करने की अधिकार शक्ति और (ग) इन क्षेत्रों की स्वायत्तता इस सीमा तक है कि संसद अथवा राज्य विधान मंडल का कोई सभादेश उनके यहां तब तक स्वतः मान्य नहीं होता जब तक कि सम्बद्ध अधिनियम का (पूर्णतः या अंशतः) विस्तार राज्यपाल द्वारा विशेष रूप से क्षेत्र विशेष के लिए अधिसूचित नहीं किया जाता। ऊपर बताये गये चार राज्यों में जनजाति क्षेत्रों के नौ स्वशासी जिले हैं। यहां राज्यपाल का पद स्वशासी जिलों की भांति अपने ढंग का अनोखा है। अनेक मामले में उसका पद वैसा ही है जैसा कि राज्यों के मामले में राष्ट्रपति का होता है।

नागालैण्ड, असम और मणिपुर के जनजाति क्षेत्रों व पर्वतीय क्षेत्रों से संबंधित विशेष उपबंध

अनुच्छेद 371-क (नागालैण्ड)

इस अनुच्छेद के अनुसार ऐसा कोई भी अधिनियम जो (क) नागाओं की धार्मिक या सामाजिक प्रथाओं, (ख) उनकी परम्परागत विधि और प्रक्रिया, (ग) उनकी परम्परागत विधि के अनुसार विनिश्चत होने वाले दीवानी एवं फौजदारी के न्याय-प्रशासन और (घ) भूमि और उसके संपत्ति स्रोतों के स्वामित्व एवं अंतरण से संबंधित है, नागालैंड राज्य पर तब तक लागू नहीं होगा जब तक नागालैण्ड की विधानसभा विशेष संकल्प द्वारा वैसा विनिश्चय नहीं कर देती।

अनुच्छेद 371- ख (असम)

राष्ट्रपति के आदेश द्वारा असम राज्य की विधानसभा की एक समिति के गठन और कृत्यों के लिए उपलब्ध कर सकेगा। यह समिति जैसा कि छठी अनुसूची में बताया गया है, जनजाति क्षेत्रों से निर्वाचित वहां के विधानसभा के सदस्यों से तथा उसी विधानसभा के उतने अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगी, जितने राष्ट्रपति के आदेश में विनिर्दिष्ट किये गये हों. इस समिति के व्यवस्था का उद्देश्य राज्य के स्तर पर जनजाति समुदाय के हितों का संरक्षण और उसकी देखरेख करना होता है।

अनुच्छेद 371-ग ((मणिपुर)

इस अनुच्छेद के अन्तर्गत राष्ट्रपति के आदेश से एक समिति के गठन और कृत्यों के संयोजन की व्यवस्था है। राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों से निर्वाचित विधानसभा के सदस्य इस समिति के सदस्य होते हैं। राज्यपाल को प्रतिवर्ष या जब कभी राष्ट्रपति वैसी अपेक्षा करें, राष्ट्रपति को मणिपुर राज्य के पर्वतीय क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में प्रतिवेदन देना होता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उक्त क्षेत्रों के बारे में राज्य को निर्देश देने तक है।

अनुसूचित जातियों के लिए संवैधानिक व्यवस्थाओं के इस संक्षिप्त विवरण को पढ़ने के बाद उनकी वर्तमान स्थिति की एक खुशनुमा तस्वीर मस्तिष्क में उभरती है किन्तु अफसोस की बात यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के पिछले छह दशकों में जनजाति समुदाय की जो दुखद और दयनीय दशा रही है और जिसका विशुद्ध चित्रण प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है वह इस कटु सत्य का साक्षी है कि संविधान निर्माताओं के आदर्श विचारों को अब तक यथार्थ का रूप नहीं दिया जा सका है।

◆◆◆

26

अन्य पिछड़े वर्ग

(Other Backward Classes)

भारत का संविधान भारतीय समाज में तीन 'पिछड़े' घटकों को मान्यता देता है- अनुसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां तथा 'अन्य पिछड़े वर्ग।' आरम्भ से ही प्रथम दो श्रेणियों पर कोई मतभेद नहीं रहा है लेकिन तीसरी श्रेणी, अस्पष्टता से घिरी रही है। लेकिन आम तौर पर यह माना गया कि इस श्रेणी में मध्य स्तर की उन सभी जातियों को रखा जा सकता है जिनकी सामाजिक प्रस्थिति अनुसूचित जातियों से ऊपर है। सरल तथा लोकप्रिय अर्थों में **अगड़े** के अंतर्गत ब्राह्मण तथा क्षत्रीय वर्ण से निकली हुई जातियां आती हैं जिन्हें 'द्विज' कहकर भी पुकारा जाता है। इस श्रेणी में उत्तर भारत के कायस्थ, बंगाल के वैद्य और केरल के नायर भी आर्थिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक शक्ति प्राप्त करके शामिल हो गये। इसके विपरीत पिछड़े वर्ग के अंतर्गत अस्पृश्य जातियों को छोड़कर उन सभी निम्न जातियों को शामिल किया जा सकता है जिनका शक्ति के स्रोतों- राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक पर अधिकार नहीं रहा है। अनुसूचित जातियां तथा अनुसूचित जनजातियां संविधान की सूची में शामिल हैं। इस प्रकार के गैर-द्विज, गैर-अनुसूचित जातियां जो संविधान में सूचित नहीं हैं 'अन्य पिछड़े वर्गों' के अंतर्गत रखी जा सकती हैं। इस जनसंख्या में लगभग 3,700 जातियां रखी जा सकती हैं।

यह बात कम महत्वपूर्ण नहीं है कि संविधान निर्माताओं ने भारतीय जनसंख्या के इस पिछड़े घटक को 'जातियों' के रूप में नहीं बल्कि 'वर्गों' के रूप में वर्णित किया है। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण शायद ऐतिहासिक प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है जब आजादी के पहले 'Depressed Classes' (दलित वर्ग) का प्रयोग सभी निम्न व वंचित जातियों

के लिये किया जाता था जिनमें अस्पृश्य (वर्तमान की अनुसूचित जातियां) भी सम्मिलित थीं। दूसरा कारण हो सकता है कि आधुनिक भारत के निर्माताओं व प्रहरियों के लिए Caste (जाति) शब्द रूढ़िवादिता से जुड़ा हुआ था और इसलिए वे जाति की अवधारणा के पोषण को हतोत्साहित करना चाहते थे। तीसरा कारण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। चूंकि अनुसूचित जातियों की श्रेणी में केवल हिन्दू अस्पृश्य जातियों को ही शामिल किया गया था और उसके समकक्ष मुस्लिम व ईसाई दलित जातियां छूट गई थी इसलिए इस 'अन्याय' को सुधारने के लिए ऐसी गैर हिन्दू जातियों को किसी तीसरी श्रेणी में ही शामिल किया जा सकता था। चूंकि मुस्लिम व ईसाई समाजों में 'जाति' को सामाजिक धार्मिक मान्यता नहीं है इसलिए ऐसी पिछड़ी जातियों के लिये 'जाति' शब्द का इस्तेमाल न करके 'वर्ग' का प्रयोग किया गया जिसमें ऐसी सभी हिन्दू, मुस्लिम, सिख व ईसाई पिछड़ी जातियों को शामिल कर लिया गया।

गैर-द्विज मध्य स्तर की या निम्न जातियां (अनुसूचित जातियों को छोड़कर) भी जाति व्यवस्था का शिकार रही हैं। ऐसी अधिकतर पिछड़ी जातियां दस्तकार (artisans) या छोटे कृषक हैं। गरीबी व वंचन की मार सहते हुए इनका जीवन-यापन होता रहा है। मोटे तौर पर 'अन्य पिछड़े वर्गों' को दो प्रकार की पिछड़ी जातियों में बांटा जा सकता है। पहली श्रेणी में पिछड़ी कृषक जातियां रखी जा सकती हैं जबकि दूसरी में दस्तकार या शिल्पकार जातियां जैसे बुनकर, बढ़ई, लोहार, सुनार आदि आती हैं। यद्यपि जनसंख्या की दृष्टि से ऐसी कृषक जातियां 60-70 प्रतिशत से अधिक हैं। लेकिन उनमें भी अधिकतर कृषकों के पास छोटी जोतें हैं या बटाईदार व खेतिहार मजदूर हैं। इस प्रकार पहली श्रेणी की पिछड़ी जातियों की अर्थव्यवस्था कृषि पर ही निर्भर है। उत्तर प्रदेश, बिहार की यादव व कुर्मी जैसी जातियां व दूसरे क्षेत्रों में भी कुछ ही पिछड़ी जातियों के पास अच्छी मात्रा में भूमि है। दस्तकार पिछड़ी जातियों की स्थिति अधिकतर दयनीय है। बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण व मशीनीकरण के कारण उनकी पारम्परिक कलायें विनाश के कगार पर पहुंच चुकी हैं। बनुकरों, कुम्हारों, बढ़ई, मछुआरे व मल्लाह, लोहार, सब्जी बेचने वाले, मांस बेचने वाले तथा अनेकों ऐसी जातियों की

स्थिति ग्रामीण भारत में अच्छी नहीं है। शैक्षिक वंचन ने स्थिति को और खराब किया है। संगठित औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वालों को आसान ऋण, संसाधनिक समर्थन और करदाताओं की कीमत पर अनेकों लाभ व सुविधायें उपलब्ध हैं लेकिन दस्तकार पिछड़ी जातियों के लिए राज्य समर्थित प्रयास बहुत कम व कमजोर रहे हैं। इन हालात के परिणामस्वरूप यह कमजोर वर्ग गरीबी व वंचन की चक्की में पिस रहा है। देश के विभिन्न क्षेत्रों में किए गए सर्वेक्षणों व अध्ययनों से पता चला है कि 'अन्य पिछड़े वर्गों' की पहुंच रोजगार व शिक्षा में बहुत कम है, इनमें साक्षरता दर निम्न स्तर की है और यह चिरकालिक ऋणग्रस्तता से ग्रस्त रहे हैं। इनमें ऋणग्रस्तता की ऊंची दर फैली हुई निरक्षरता व अशिक्षा, गरीबी व सामाजिक प्रथाओं के द्वारा भी समझी जा सकती है।

अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक-आर्थिक उन्नयन के लिए 1953 में एक पिछड़ा वर्ग आयोग की स्थापना अनुच्छेद 340 के अन्तर्गत राष्ट्रपति के आदेश द्वारा की गई। चूंकि इस आयोग के अध्यक्ष काका साहेब कालेकर थे इसलिये इसका वर्णन अक्सर **कालेकर आयोग** के नाम से भी किया जाता है। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1955 में सरकार को दे दी। विभिन्न विवादास्पद मुद्दों को ध्यान में रखते हुए आयोग ने सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों को चिन्हित करने के लिए निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किये:

1. हिन्दू समाज की पारम्परिक जाति पदसोपनी में निम्न स्थान
2. किसी जाति या समुदाय विशेष के बड़े वर्ग में शैक्षिक उत्थान की कमी
3. सरकारी सेवाओं में प्रतिनिधित्व का अभाव या बिल्कुल न होना
4. व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग में प्रतिनिधित्व का अभाव

महत्वपूर्ण बात यह है कि आयोग संपूर्ण सहमति से रिपोर्ट नहीं दे सका। अधिकांश सदस्य जिनमें आयोग के अध्ययन भी शामिल थे जाति को पिछड़ेपन से जोड़ने के विरुद्ध थे। वे जाति के आधार पर नौकरियों में आरक्षण भी पंसद नहीं करते थे। आयोग की मुख्य संस्तुतियों को रद्द करते

हुए केन्द्र सरकार ने निर्णय लिया कि पिछड़े वर्गों की कोई अखिल भारतीय सूची नहीं बनाई जा सकती और केन्द्रीय सेवाओं में पिछड़े वर्गों के किसी भी समूह के लिए, अनुसूचित जातियों व जनजातियों को छोड़कर, आरक्षण को व्यवस्था नहीं की जा सकती। फिर भी केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों को सूचित किया कि वे पिछड़ेपन के अपने आधारों पर ऐसे पिछड़े वर्गों की सूचियां बनाने के लिए स्वतंत्र हैं और इस संदर्भ में आवश्यक कदम उठा सकती हैं। परिणामस्वरूप, कई राज्य सरकारों ने अपने आयोग व समितियां गठित कीं जो पिछड़ेपन के आधारों को तय कर सकें और उन्हें दूर करने के उपाय ढूंढ सकें। एक के बाद दूसरे राज्य ने, प्रादेशिक स्तर के अपने आयोग गठन किये और 'अन्य पिछड़े वगा' की सूचियां प्रस्तुत कीं।

केन्द्रीय स्तर पर दूसरा आयोग गठित किया गया और यह 'दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग' 1978 में बी.पी. मंडल की अध्यक्षता में गठित हुआ जिसको आमतौर पर **मंडल आयोग** के नाम से जाना गया। इसको निम्नलिखित बातें तय करनी थीं।

(i) सामाजिक व शैक्षिक तौर पर पिछड़े वर्गों को परिभाषित करने के उद्देश्य से आधार सुनिश्चित करना।

(ii) इस प्रकार से चिन्हित सामाजिक व शैक्षिक पिछड़े वर्गों के उन्नयन के लिए संस्तुतियां प्रस्तुत करना।

(iii) नागरिकों के ऐसे पिछड़े वर्गों के लिए नौकरियों में आरक्षण के प्रावधान पर गौर करना जिनका सार्वजनिक सेवाओं में प्रतिनिधित्व संतोषजनक नहीं है।

(iv) राष्ट्रपति को अपने द्वारा खोजों से अवगत कराना और अपनी नजर से उपयुक्त संस्तुतियों को प्रस्तुत करना।

इस आयोग को 31 दिसम्बर 1980 तक अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को कहा गया। कार्य की विशालता और अनुपयुक्त समय के कारण आयोग ने तेजी के साथ काम किया। विभिन्न राज्यों के आर्थिक व सांख्यिकीय ब्योरों की सहायता से इसने पूरे देश के 405 जिलों का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण किया। सर्वेक्षण के दौरान एकत्रित की गई सूचनाओं को कम्प्यूटरीकृत

किया गया तथा प्रत्येक राज्य के बारे में 31 प्राथमिक सारणियां तैयार की गईं। तत्पश्चात् इन सारणियों के आधार पर सामाजिक व शैक्षिक पिछड़ेपन को समझने के लिए तीन heads सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक- के अंतर्गत 11 मानक (indicators) निर्धारित किये गये ज निम्नवत् हैं:

(क) सामाजिक

(1) जातियां/वर्ग जो दूसरों के द्वारा सामाजिक रूप से पिछड़े माने जाते हैं।

(2) जातियां/वर्ग जो अपनी जीविका के लिए मुख्यत: शारीरिक श्रम पर ही आश्रित हैं।

(3) जातियां/वर्ग जो राज्य के औसत से ग्रामीण क्षेत्र में 10 प्रतिशत पुरुष व 25 प्रतिशत महिलाएं 17 वर्ष से पूर्व विवाह कर लेते हों तथा इसी क्रम में नगरीय क्षेत्रों में 5 प्रतिशत पुरुष व 10 प्रतिशत महिलाएं विवाह करते हों।

(4) जातियां/वर्ग जहां राज्य के औसत से 25 प्रतिशत अधिक महिलाएं काम करती हैं।

(ख) शैक्षिक

(5) जहां 5 से 15 वर्ष के बीच जातियों/वर्ग के कभी स्कूल न जाने वाले बच्चों का प्रतिशत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से अधिक हो।

(6) जातियां/वर्ग जहां 5-15 वर्ष के बीच स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों का प्रतिशत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से अधिक हो।

(7) जातियां/वर्ग जहां मैट्रिक पास लोगों का प्रतिशत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से नीचे है।

(ग) आर्थिक

(8) जातियां/वर्ग जिसमें परिवार की कुल संपत्ति की कीमत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से कम है।

(9) जातियां/वर्ग जिनमें कच्चे मकान में रहने वालों का प्रतिशत राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से अधिक है।

(10) जातियां/वर्ग जिनके 50 प्रतिशत से अधिक घरों के लोगों को आधा से एक किलोमीटर दूर पानी लेने जाना पड़ता है।

(11) जातियां/वर्ग जिसमें राज्य के औसत से 25 प्रतिशत से अधिक लोगों ने उपभोगता ऋण (consumption loan) ले रखा हो।

प्रत्येक समूह में मूल्यांकन हेतु कुछ संकेत दिये गये हैं। सामाजिक कारकों को 3 अंकों, शैक्षिक कारकों को 2 अंकों व आर्थिक कारकों को 1 अंक के साथ रखा गया है। इस तरह कुल मिलाकर 22 अंक होते हैं। ये सभी 11 कारक प्रत्येक राज्य में हुए सर्वे में अन्य पिछड़ी जातियों पर लागू किये गये हैं। जिन जातियों को इस पैमाने पर कम से कम 11 अंक मिले हैं उन्हें सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग में रखा गया है। इस प्रकार कमीशन ने 3,743 जातियों को चिन्हित किया है। आयोग के अनुमानानुसार अन्य पिछड़ी जातियों का औसत देश की पूरी जनसंख्या का 52 प्रतिशत से थोड़ा अधिक है।

समाजशास्त्रियों और मानवविज्ञानियों की भी एक शोध टीम का गठन इस कमीशन की मदद के लिए किया गया था। वर्तमान समय की पिछड़ी जातियों के सामाजिक-शैक्षिणिक पिछड़ेपन के आधार के चलते देश के इन जाने-माने समाजशास्त्रियों व मानवशास्त्रियों की टीम ने अनेक उपाय सुझाये तथा अनेकों अध्ययनों का इस्तेमाल किया। उन्होंने कुछ परम्परागत पिछड़ी जातियों में उपरिगामी गतिकी (upward mobility) का भी नमूना प्रस्तुत किया है। टीम के अन्य सुझावों में अनुभाविक अध्ययन के दौरान यह तथ्य भी शामिल हैं :

(क) सामाजिक-अनुष्ठानिक सेवाएं जो अन्य जनजातीय समूहों द्वारा दी जाती हैं।

(ख) किसी श्रेणी के रोजगारों की समाज की समाज में निम्न स्थिति,

(ग) क्षेत्र (गांव, पंचायत, ब्लॉक, तालुक) में अन्य जातीय समूहों की तुलना में कुछ जातीय समूहों का स्वयं को निम्न समझना,

(घ) गांव पंचायत/ब्लॉक/तालुक में अन्य आसपास के समूहों से कम शैक्षिक योग्यता,

(ङ) जातियों और समुदायों का आर्थिक स्तर,

(च) जातियों का सरकारी/गैर-सरकारी या स्वैच्छिक सेवाओं में प्रतिनिधित्व।

(छ) ऐसे व्यवसाय जिनमें बालश्रम का काफी निवेश है।

शोध योजना टीम के अतिरिक्त समाजशास्त्रियों, राजनीतिविज्ञानियों और भूगोल विशेषज्ञों की भी एक विशेषज्ञ समिति गठित की गयी थी। जब मंडल-कमीशन ने अनेक सुझावों के साथ अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं तब कई समाजशास्त्रियों ने इन सिफारिशों का विरोध किया। वे इसके लिए आधारभूत कारकों, कारकों के निर्धारण के तरीकों और सिफारिशों से असहमत थे क्योंकि इस कवायद में अन्य पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए उन्होंने जिन सुझावों को कमीशन के सम्मुख प्रस्तुत किया था उनकी अनदेखी की गई। अन्य पिछड़े वर्गों के सामाजिक-आर्थिक उत्थान के लिए आयोग ने कुछ संस्तुतियां प्रस्तुत कीं जो निम्नलिखित हैं :

(1) ओ.बी.सी. का लोक सेवाओं में प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है अतः उन्हें आरक्षण का लाभ मिलना चाहिए।

(2) अनुच्छेद 15 (4) व 16 (40 के अंतर्गत सूंपर्ण आरक्षण 50 प्रतिशत से कम होना चाहिए। ऐसी स्थिति में ओबीसी का आरक्षण 27 प्रतिशत होना चाहिए।

(3) जिन क्षेत्रों में ओबीसी का जनसंख्या घनत्व अधिक है वहीं शैक्षिक सुविधाएं बढ़ाकर सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण की बेहतरी के लिए कार्य होना चाहिए।

(4) ओबीसी छात्रों की रोजगारोन्मुख व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिए। तकनीकी और व्यावसायिक संस्थानों में उन छात्रों को विशेष सुविधाएं देनी चाहिए ताकि वे भी अन्य सामान्य छात्रों के साथ मुकाबला कर सकें।

(5) ग्रामीण कारीगरों की योग्यता बढ़ाने हेतु विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम

होने चाहिए और आर्थिक संस्थानों को इस वर्ग के लोगों के लिए विशेष ऋण सुविधाएं उपलब्ध करानी चाहिए ताकि वे लघु उद्योग लगा सकें।

(6) औद्योगिक व व्यापार गतिविधियों में इस वर्ग की भागेदारी बढ़ाने के लिए राज्य सरकारों द्वारा आर्थिक और तकनीकी संस्थाओं का एक विशेष संजाल बनाना चाहिए।

(7) उत्पादन के आधार पर बने संबधों (production relations) के आधार पर पिछड़ी जातियों में अधिकांश छोटी जोतों वाले किसान, खेतिहर मजदूर, बटाई पर काम करने वाले, ग्रामीण कारीगर इत्यादि हैं, जो ज्यादातर बड़े कृषकों पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। इस परिप्रेक्ष्य में अन्य पिछड़ी जातियां आर्थिक और मानसिक रूप से प्रमुख जातियों व वर्गों की बंधुआ बनी रहती हैं। जब तक इस व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता और भूमि सुधार कार्यक्रम पूरी तरह लागू नहीं होता अन्य पिछड़ी जातियां मुक्त नहीं हो पायेंगी। इस संदर्भ में राज्यों को भूमि सुधार कार्यक्रम पर सर्वाधिक ध्यान देना होगा।

13 अगस्त 1990 को एक मेमोरेंडम के माध्यम से भारत सरकार द्वारा मंडल कमीशन की सिफारिशें मान ली गयी हैं। मंडल कमीशन के विरोध में स्थान-स्थान पर उग्र हिंसक प्रदर्शन हुए। विभिन्न न्यायालयों में इनके खिलाफ वाद दायर किये गये। सुप्रीम कोर्ट ने अन्य पिछड़ी जातियों के संदर्भ में **क्रीमीलेयर** (ओबीसी में शैक्षिक व सामाजिक रूप से उच्च वर्ग) को छोड़कर अन्य के लिए मंडल कमीशन की सिफारिशों को मान लिया। सुप्रीम कोर्ट के आदेशानुसार सरकार ने पटना हाईकोर्ट के न्यायाधीश जे.एन. प्रसाद की अध्यक्षता में गठित विशेषज्ञ समिति को सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ों का निर्धारण करने का कार्य दिया। इस समिति ने 10 मार्च 1993 को अपनी रिपोर्ट पेश की। भारत सरकार ने इस विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट स्वीकार करते हुए लोक सेवाओं व पदों पर 27 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था इस वर्ग के लिए स्वीकार कर ली। इसमें क्रीमीलेयर को अलग रखा गया। 8 सितंबर 1993 से हुई भर्तियों में यही आरक्षण व्यवस्था लागू की गयी।

क्रीमीलेयर (मलाईदार परत)

क्रीमिलेयर आधार के अन्तर्गत निम्न श्रेणियों के पुत्र/पुत्री को आरक्षण के लाभ से वंचित किया गया:

- संवैधानिक पदों पर कार्य कर रहे लोग।
- जिन बच्चों के माता-पिता में से कोई एक प्रथम श्रेणी अधिकारी (class-I officer) है।
- माता-पिता दोनों वर्ग-दो में अधिकारी हैं।
- माता या पिता दोनों में से कोई एक सेना में कर्नल या समान पद पर नौसेना, वायुसेना या पैरा-मिलिट्री बल में है।
- परिवार जिनके पास 85 प्रतिशत या अधिक सिंचित भूमि राज्य सीमांत (ceiling) नियम के अंतर्गत है।
- जिनकी वार्षिक आय एक लाख या अधिक है या तीन लगातार वर्षों से संपत्ति कर दे रहे हैं।

खेती योग्य भूमि से आय और वेतनभोगी आय की गणना अलग-अलग होगी। प्रथम चरण में आरक्षण का लाभ उन जातियों को दिया गया जो मंडल कमीशन और राज्य सरकारों की लिस्ट दोनों में शामिल थीं।

गैर-हिन्दू जातियों में अन्य पिछड़े वर्ग

चूंकि जातिप्रथा, सिख, ईसाई और बौद्धों में भी अपने आवश्यक तत्वों के साथ विद्यमान है इसलिए उनकी पिछड़ी जातियों को भी मंडल कमीशन की सिफारिश में शामिल किया गया। अन्य पिछड़ी जातियों के चुनाव में आई बाधाओं को देखते हुए कमीशन ने गैर-हिन्दू पिछड़ी जातियों के लिए यह मानक निर्धारित किये:

(1) सभी हिन्दू अछूत जातियां जो गैर-हिन्दू जातियों में धर्म परिवर्तन करके शामिल हो गईं।

(2) परम्परागत व्यवसायिक समुदाय जो वंशानुगत रूप से अपने पेशे से जाने जाते हैं। ऐसे समुदायों के वे लोग जिनके हिन्दू समकक्ष हिन्दू पिछड़े वर्गों की सूची में शामिल किये जा चुके हैं जैसे धोबी, तेली, धीमर, नाई, गुजर, कुम्हार, लोहार, दर्जी, बढ़ई इत्यादि।

अन्य पिछड़ी जातियों से संबंधित नये संस्थान

एन.सी.बी.सी. एक्ट 1993 के अन्तर्गत 'नेशनल कमीशन फार बैकवर्ड क्लासेज' की स्थापना हुई जिसके चलते इस वर्ग के लोगों से संबंधित सुझाव और शिकायतें कमीशन की परिधि में लायी गयीं। कोई भी जाति जो अपने को अन्य पिछड़ा वर्ग की श्रेणी में शामिल करवाना चाहती है या कोई अन्य समस्या हो तो वह इस कमीशन की शरण में जा सकती है। एक अन्य आर्थिक संस्थान 'द नेशनल बैकवर्ड क्लासेज फाइनेंस एंड डेवलपमेंट कारपोरेशन' की भी स्थापना की गई। एनसीबीएफडीसी की 1992 में स्थापना का उद्देश्य पिछड़े वर्गों में आर्थिक विकास मूलक गतिविधियों को बढ़ावा देना है।

सामाजिक एवं शैक्षिक रूप से पिछड़ी जातियों का अभिनिर्धारण (Identification of Socially and Eeducationally Backward Castes-SEBCs)

न्यायिक निर्णयों के विश्लेषण के आधार पर इण्डियन ला इंस्टीट्यूट ने ऐसी पिछड़ी जातियों की पहचान के लिए निम्नलिखित लक्षणों को प्रासंगिक पाया है।

1. अपने पिछड़ेपन के संदर्भ में इन पिछड़ी जातियों की तुलना अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों से की जा सकती है।

2. पिछड़ेपन की अवधारणा सापेक्षिक नहीं है। कोई भी वर्ग अपने समुदाय के सबसे अधिक विकसित वर्ग की तुलना में पिछड़ा होने पर 'पिछड़ी' श्रेणी में रखा जा सकता है। इसलिए 'पिछड़े वर्गों' व 'अति पिछड़े' में वर्गीकरण असंवैधानिक है।

3. पिछड़ापन, सामाजिक व शैक्षिक दोनों के संदर्भ में होना चाहिए न कि सामाजिक अथवा शैक्षिक।

4. संविधान के अनुच्छेद 15(4) के आधार पर जाति आधारित कोई भी वर्गीकरण जो किन्हीं प्रासंगिक कारकों के संदर्भ से बाहर हो स्वीकार्य नहीं है। फिर भी कोई जाति जो पूर्णतया, सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़ी हो उसको अपने जातिसूचक नाम से भी 'पिछड़े वर्गों' में शामिल

करना अनुच्छेद 15(4) का उल्लंघन नहीं है। हां, राज्य के पास इस तथ्य को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त सूचना होना चाहिए।

5. सामाजिक पिछड़ापन जो गरीबी का प्रसारण (off shoot) है, गरीबों की जातिमूलक समस्याओं से और बढ़ जाता है: यह पिछड़ेपन के निर्धारण में जाति व गरीबी दोनों की प्रासंगिकता को दर्शाता है।

6. सामाजिक पिछड़ेपन के निर्धारण में कुछ वर्गों द्वारा अपनाये गये ऐसे व्यवसाय, जिन्हें समाज हीन भाव से देखता है तथा जो अशुद्ध माने जाते हों, महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

7. आरक्षण का लाभ सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के केवल जरूरतमंदों को ही मिले, परिवार की आयु सीमा निर्धारित कर देना वैध है।

8. पूरी की पूरी ग्रमीण जनसंख्या को सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़ा वर्ग नहीं माना जा सकता। हां, पिछड़े हुए पहाड़ी क्षेत्र ऐसे वर्ग में शामिल किए जा सकते हैं।

9. किसी वर्ग का पिछड़े वर्गों में शामिल किया जाना सदा के लिये नहीं होना चाहिए।

10. किसी समुदाय में पिछले दो तीन हाईस्कूल के क्लास प्रति 1000 व्यक्ति शैक्षिक पिछड़ेपन के निर्धारण में वैध पाये गये हैं। हां, किसी वर्ग को अंततः पिछड़ा होने के लिए राज्य के औसत से काफी नीचा होना चाहिए। जैसे कोई भी वर्ग राज्य के औसत से 50 प्रतिशत नीचा होने पर पिछड़ा माना जायेगा।

इस प्रकार न्यायिक निर्णयों का संक्षिप्त विवरण व समीक्षा या दर्शाती है कि समुदाय के आधार के अतिरिक्त भी, विभिन्न न्यायालयों ने सामाजिक व शैक्षिक पिछड़ेपन के व्यवसायिक व क्षेत्रीय आधार को वैध कर दिया है। लेकिन ''मंडल आयोग ने या तो इसकी अनदेखी की है या अदालतों के निर्णयों का इस्तेमाल स्पर्शरेखीयता (tangentially) के साथ किया है।''

इस समीक्षा में यह भी कहा गया कि मंडल आयोग ने कई समाजविज्ञानियों

को शोध व विश्लेषण का फ्रेम तैयार करने के लिए अवैतनिक रूप से अपने साथ जोड़ा था लेकिन उनकी संस्तुतियों को केवल आंशिक रूप में ही लागू किया गया तथा उनकी चर्चाओं व टिप्पणियों को चयनात्मक ढंग से (selectively) ही प्रकाशित किया गया। इस प्रकार जैसा कि डी. एल. सेठ (1991) कहते है विशेषज्ञों व लोक संस्थाओं के बीच रिश्तों को लेकर एक मौलिक मुद्दा या प्रश्न उठाया जा सकता है।

◆◆◆

27

धार्मिक व भाषाई अल्पसंख्यक

(Religious and Linguistic Minorities)

भारत विभिन्न प्रजातियों और संस्कृतियों के संगम के रूप में सर्वत्र मशहूर है। आश्चर्यजनक सांस्कृतिक बहुलता वाली इस धरती पर सैकड़ों भाषाएं और बालियां बोलने वाले लोग और दुनिया के सभी प्रमुख धर्मों के अनुयायी रहते हैं। इसके बावजूद भारत में प्रमुख धर्मों के अनुयायी समुदायों के सामाजिक-आर्थिक और जनसंख्या की रूपरेखा (demographic profiles) में भारी अंतर दिखाई देता है। इसका प्रमुख कारण सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है। भाषाई समुदायों का जीवन स्तर भी मोटे तौर पर इन्हीं कारकों से संबंधित है। भारत के संविधान में 'अल्पसंख्यक' शब्द का उल्लेख तो है, मगर उसे परिभाषित नहीं किया गया। 'अल्पसंख्यक' शब्द को कुछ समझने के लिए समाज विज्ञानियों के कार्यों और व्याख्या और न्यायिक निर्णयों का सहारा लेना पड़ता है। 'अल्पसंख्यक' (Minority) शब्द दरअसल लातिनी शब्द, 'माइनर' और प्रत्यय 'इटी' का समास है जिसका अन्य बातों के साथ मतलब है, 'मिलकर एक संपूर्ण प्रणाली बनाने वाले दो समूहों में से संख्या में कम'। वेबस्टर के शब्दकोष में इसे इस प्रकार परिभाषित किया गया है, 'अलग पहचान की भावना और सामाजिक स्तर की जागरूकता की विशेषता वाला समूह, आम तौर पर बड़े समूह से अलग जिसका यह अंश होता है या हिस्सा माना जाता है। ''ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोष में अल्पसंख्यक को यूं परिभाषित किया गया है, 'छोटे होने की स्थिति या तथ्य' या 'ऐसी संख्या जो पूरी संख्या की आधी से कम है'। ऊपर उल्लिखित अर्थ और परिभाषाओं का एक ही मानक है, जिसे सांख्यिकीय आधार कहते हैं। सांख्यिकीय आधार के अलावा 'अल्पसंख्यक' शब्द को उसमें शामिल सदस्यों के निश्चित सामूहिक गुणों के आधार पर भी परिभाषित

किया जा सकता है। इस अर्थ में इस शब्द से यह स्पष्ट होता है कि कुछ साझी विशेषताओं के आधार पर संगठित लोगों के समूह जिन्हें लगता है कि वे एक ही साझी इकाई के अंश हैं। ऐसे समूह एक वंश, शारीरिक विशेषताओं, परंपराओं, प्रथाओं, भाषा या धार्मिक आस्था या इन सबके तालमेल के कारण एक साथ जुड़े हो सकते हैं' (जी.एस. शर्मा, 1973)। इसलिए हर प्रकार से परिचित होने की भावना, सामुदायिक भावना या समूह अथवा समूहों में प्रचलित एकता जो उन्हें क्षेत्र के बहुसंख्यक निवासियों से अलग पहचान प्रदान करती है। समूह के भीतर अपनेपन की यही भावना और बहुसंख्यकों से अलग अस्तित्व की चेतना विभिन्न राजनैतिक और अन्य प्रकार के दावों का आधार बनते हैं।

ऐसे भी मामले हो सकते हैं, जिनमें सिर्फ अलग व्यवहार ही एक मात्र ऐसा संकेत होता है जिससे अल्पसंख्यक सामाजिक स्तर निर्धारित हो सकता है। ऐसा विभाजनकारी व्यवहार इस समूह के प्रति कोई अन्य समूह या कई समूह कर सकते हैं या फिर 'अल्पसंख्यक' समूह ऐसा स्वयं पर खुद भी थोप सकते हैं।

सुमंत बनर्जी (1999) ने अल्पसंख्यक के अर्थ और उसकी व्याख्या में एक अत्यंत महत्वपूर्ण आयाम जोड़ते हुए कहा है कि "आज मानव अधिकारों के संदर्भ में अल्पसंख्यक शब्द बल पर आधारित नहीं बचा है बल्कि इसका अर्थ अब किसी राज्य अथवा समाज में प्रभुताविहीन और वंचित समूह भी हो सकता है। भले ही वह प्रजातीय हो या धार्मिक अथवा भाषायी। उदाहरण के लिए मुसलमान भारत में वंचित अल्पसंख्यक समूह है।" इस प्रकार समाज और राज्य के सत्तात्मक ढांचे में किसी जनसमूह का स्थान उसे 'अल्पसंख्यक' बनाने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भारत के संविधान में हालांकि 'अल्पसंख्यक' को परिभाषित नहीं किया गया है, इसके बावजूद उसमें दो प्रकार के अल्पसंख्यकों को मान्यता दी गई है। इसीलिए हम धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों की बात करते हैं। संविधान में अल्पसंख्यक/अल्पसंख्यकों का उल्लेख निम्न अनुच्छेदों में किया गया है। ये अनुच्छेद हैं: अनुच्छेद 29(1), 30, 350-ए और 350 बी।

अनुच्छेद 29 (1) : (अ) भारत के किसी भी क्षेत्र और उसके किसी

भी भाग में रहने वाले नागरिकों के किसी भी वर्ग को अपनी अलग भाषा, लिपि अथवा संस्कृति संरक्षण का पूरा अधिकार है।

(ब) धर्म, प्रजाति, जाति, भाषा या उनमें से किसी के भी आधार पर सरकार द्वारा चलाए जाने वाले या सरकारी कोष से सहायता पाने वाले शैक्षिक संस्थानों में किसी भी नागरिक को दाखिल करने से इंकार नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 30: (अ) सभी अल्पसंख्यक भले ही वह धर्म या भाषा पर आधारित हों उन्हें अपनी इच्छा के शिक्षा संस्थानों की स्थापना एवं उनके संचालन का अधिकार होगा।

(ब) सरकार शैक्षिक संस्थानों को आर्थिक सहायता देते समय किसी भी शिक्षण संस्था के विरुद्ध इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगी कि वह संस्था अल्पसंख्यकों द्वारा प्रबंधित है भले ही वे धर्म आधारित हों या भाषा आधारित।

अनुच्छेद 350-एः प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर स्थित प्रत्येक स्थानीय प्राधिकरण का प्रयास रहेगा कि भाषायी अल्पसंख्यक समूहों के बच्चों को प्राथमिक चरण की शिक्षा मातृभाषा में देने के समुचित प्रबंध किए जाएं और आवश्यक अथवा समुचित समझे जाने पर राष्ट्रपति किसी भी राज्य को निर्देश जारी कर सकते हैं कि संविधान के प्रावधान का पालन किया जाए।

350 (बो): (1) भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए एक विशेष अधिकारी होगा, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेंगे।

(2) विशेष अधिकारी का दायित्व होगा कि वह इस संविधान के अंतर्गत उल्लिखित भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए सुरक्षा के उपायों से संबंधित सभी मामलों की जांच करे और राष्ट्रपति के निर्देशानुसार बीच-बीच में राष्ट्रपति को रिपोर्ट दे। राष्ट्रपति सभी ऐसी रिपोर्ट संसद के हरेक सदन के पटल पर रखे जाने तथा संबद्ध राज्यों की सरकारों को भेजे जाने का प्रबंध करे।

इस प्रकार कोई औपचारिक या निश्चित परिभाषा न होने के बावजूद

हम प्राय: समय-समय पर की जाने वाली न्यायिक घोषणाओं का अनुसरण करते हैं। लेकिन एक बात पूरी तरह स्पष्ट है कि सभी अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त सिद्धांत भारत के संविधान में निहित है। व्यावहारिक स्तर पर भारत में 'अल्पसंख्यक' शब्द बार-बार धार्मिक संप्रदायों-मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी (जोरास्त्रियाई) और यहूदियों के संदर्भ में प्रयोग में लाया जाता है। इनमें बौद्ध और जैन भी शामिल हैं जिससे स्पष्ट है कि सभी अहिंदू संप्रदाय अल्पसंख्यक श्रेणी में आते हैं। धार्मिक अल्पसंख्यकों के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्तर का विवरण और महत्वपूर्ण तथ्य तथा आंकड़े निम्नलिखित हैं:

धार्मिक समुदाय	कुल जनसंख्या का %	लिंग अनुपात (प्रति 1000 पुरुषों पर महिलायें)
हिन्दू	82.0	925
मुसलमान	12.12	930
ईसाई	2.23	994
सिख	1.94	888
बौद्ध	0.76	952
जैन	0.40	946

मुसलमान

भारत में मुसलमान सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय है। हालांकि आंकड़ों की दृष्टि से ये अल्पसंख्यक हैं, मगर इनकी संख्या बहुत ज्यादा है। इंडोनेशिया के बाद दुनिया में मुसलमानों की जनसंख्या भारत में सबसे अधिक है। भारत की कुल जनसंख्या में मुसलमानों की 12 प्रतिशत संख्या है और सामाजिक ताने-बाने में इनका अहम हिस्सा है। ये देश भर में फैले हुए हैं और देश के हर इलाके, राज्य और संघ शासित क्षेत्रों में अलग-अलग संख्या में हैं। जम्मू और कश्मीर तथा लक्षद्वीप में मुसलमान बहुसंख्यक हैं और कई अन्य राज्यों में महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक हैं :

- असम, केरल और पश्चिम बंगाल में कुल जनसंख्या के 20 प्रतिशत से अधिक

- उत्तर प्रदेश, बिहार और कर्नाटक में 10 से 20 प्रतिशत
- आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान और गुजरात में 5 से 10 प्रतिशत
- आंकड़ों की दृष्टि से उनकी सबसे ज्यादा संख्या उत्तर प्रदेश और बिहार में है
- शेष राज्यों में वे कुल जनसंख्या में 1 से 5 प्रतिशत हैं
- सिक्किम, मिजोरम, मेघालय और नागालैंड जैसे राज्यों में इनकी संख्या 1 प्रतिशत से भी कम है
- यह एक विशेष तथ्य है कि जिन राज्यों में मुसलमानों का प्रतिशत अधिक है, वहां मुसलमानों की जनसंख्या अधिक नहीं है

मुसलमानों के बारे में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शहरी जनसंख्या दूसरों की तुलना में काफी अधिक है। करीब 35 प्रतिशत या उससे भी अधिक मुसलमान शहरी क्षेत्रों में रहते हैं और उनकी आर्थिक स्थिति एवं स्वास्थ्य देखभाल तथा शैक्षिक सुविधाओं पर इसकी गहरी छाप है।

आर्थिक परिदृश्य: सभी उपलब्ध अध्ययनों, सर्वेक्षणों और रिपोर्टों के अनुसार मुसलमान शैक्षिक और आर्थिक तौर पर पिछड़ा समुदाय है। मुसलमानों के प्रतिशत का बड़ा हिस्सा घोर गरीबी में जी रहा है। गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले मुसलमानों की संख्या 43 प्रतिशत है जो राष्ट्रीय औसत से कहीं ज्यादा है। ग्रामीण इलाकों में वे ज्यादातर भूमिहीन हैं और रोजगार के मौकों तक उनकी पहुंच दूसरों की तुलना में कम है। मुसलमानों की आबादी का बड़ा हिस्सा, 54 प्रतिशत, स्वरोजगाररत है और अपनी रोजी-रोटी, छोटे-मोटे व्यवसायों, लघु उद्योगों तथा कम मजदूरी वाले कामों से चलाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादातर मुसलमान खेतिहर मजदूर और दस्तकार हैं। शहरी क्षेत्रों में वे अपनी आजीविका दस्तकारी और उद्योगों में काम करके चलाते हैं। अन्य समुदायों की तुलना में इनमें कामकाज में महिलाओं की भूमिका काफी कम है। वे परिवार की अर्थव्यवस्था में आम तौर पर घर की चारदीवारी के अंदर होने वाले कामों के द्वारा ही सहयोग करती हैं। विशेष तौर पर शहरी इलाकों में व बीड़ी बनाने, लखनऊ में चिकनकारी और ऐसे ही अन्य कामों में लिप्त हैं।

मुसलामन दस्तकारी में निपुण होते हैं; इसे लेकर दो राय नहीं है।

सदियों से वे विभिन्न प्रकार की दस्तकारी में लगे हुए हैं। यही बात उनके लिए अभिशाप साबित हो रही है। मशीनीकरण और औद्योगीकरण की चुनौतियों, बाजार की नई ताकतों के बीच वित्तीय संस्थाओं से मदद न मिलने के कारण वे अब केवल दिहाड़ी श्रमिक बनकर रह गए हैं। ज्यादातर मामलों में ऐसी इकाइयों पर उनका स्वामित्व भी समाप्त हो चुका है लेकिन फिर भी निम्नलिखित उद्योगों में उनका हिस्सा ठीकठाक है:

चूड़ी, कांच इत्यादि	-	फिरोजबाद (उ.प्र.)
ऊन, लकड़ी का काम	-	सहारनपुर (उ.प्र.)
गलीचे	-	भदोही, मिर्जापुर (उ.प्र)
पीतल के बर्तन	-	मुरादाबाद (उ.प्र.)
लुंगी	-	चेन्नई (तमिलनाडु)
ऊनी शाल, गलीचे	-	कश्मीर
हथकरघा	-	चेन्नई, भिवंडी (महाराष्ट्र), मऊ (उ.प्र.)
चिकनकारी	-	लखनऊ (उ.प्र.)
ताले	-	अलीगढ़ (उ.प्र.)
जूते	-	कानपुर (उ.प्र.)
चमड़ा	-	कोलकाता, चेन्नई
कैंची	-	मेरठ (उ.प्र.)
रेशम	-	रामनगरम् (कर्नाटक)

सर्वेक्षण रिपोर्टों के अनुसार इन्हीं में से कुछ उद्योगों में उनका दबदबा अच्छा खासा है, ज्यादातर अन्य उद्योगों में वे मजदूरी करते हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण रिपोर्ट 1988 (National Sample Survey Organization), रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की रिपोर्ट 1992, अल्पसंख्यकों संबंधी गोपाल सिंह समिति की रिपोर्ट और कई अन्य अध्ययन भारत के मुस्लिम सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की तस्वीर पेश करते हैं।

❖ 52.3 प्रतिशत मुसलमान गरीबी की रेखा से नीचे 160 रुपए प्रतिमाह या उससे भी कम आमदनी में जीवनयापन करते हैं।

- ❖ 50.5 प्रतिशत मुसलमान निरक्षर हैं।
- ❖ भारत में हाई स्कूल तक शिक्षा पाने वाले लोगों में सिर्फ चार प्रतिशत मुसलमान हैं।
- ❖ भारत के स्नातकों में सिर्फ 1.6 प्रतिशत स्नातक मुसलमान हैं।
- ❖ सरकारी नौकरियों में सिर्फ 4.4 प्रतिशत मुसलमान हैं।
- ❖ व्यवसाय शुरू करने के लिए सरकार से वित्तीय सहायता पाने वाले भारतीयों में से सिर्फ 3.7 प्रतिशत मुसलमान हैं।
- ❖ सरकारी बैंकों से औद्योगिक ऋण प्राप्त करने वाले भारतीयों में सिर्फ 5 प्रतिशत मुसलमान हैं।
- ❖ सरकार से ऋण पाने वाले भारतीयों में सिर्फ 2 प्रतिशत मुसलमान हैं।

इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि ऊपर उल्लिखित अधिकतर आंकड़े सार्वजनिक क्षेत्र के हैं, जहां सांप्रदायिक पक्षपात ज्यादा कठिन है और रोजगार से संबंधित आंकड़े अपेक्षाकृत आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं, तथा जिन्हें छिपाना मुश्किल है। ताकतवर और विशाल निजी क्षेत्र ऐसा कहीं बड़े पैमाने पर, अधिक प्रभावी तरीके से तथा खुलेआम करता है। यह बात निंदनीय है कि ऊपर उल्लिखित आंकड़े और तथ्य जमा किए जाने के एक दशक से भी अधिक समय बीत जाने के बावजूद भारतीय मुसलमानों और अन्य संप्रदायों के बीच की खाई उतनी ही चौड़ी है, जितनी पहले थी। राष्ट्रीय सर्वेक्षण संगठन द्वारा किए गए ताजा देशव्यापी 55वें सर्वेक्षण (2001-2002) में भी निराशाजनक तथ्य ही हाथ लगे हैं।

यह सरकारी राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन का वही सर्वेक्षण है, जिसमें उपभोग, व्यय, रोजगार तथा सरकार द्वारा नीति निर्धारण के दैनंदिन उपयोग में आने वाले अन्य उपादानों के प्राय: भरोसेमंद अनुमान होते हैं। इसी सर्वेक्षण के कुछ प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हैं:

- ❖ सर्वेक्षण के अनुमानों से पता चलता है कि अन्य समुदायों के मुकाबले मुसलमानों का उपभोग का स्तर नीचा है। सबसे सही त्वरित आर्थिक मानक यह है कि कोई व्यक्ति खाने, कपड़े, मनोरंजन और उपभोग की अन्य वस्तुओं पर कितना खर्च करता है। परिवार के हर सदस्य द्वारा औसत उपभोग खर्च, ग्रामीण मुसलमानों में 29 प्रतिशत के यहां 300 रु. मासिक से भी कम था, जबकि ग्रामीण हिंदुओं में यह

अनुपात 26 प्रतिशत था। शहरों और कस्बों में यह अंतर और भी अधिक है।

- ग्रामीण भारत में यदि भूमि को जोतने-बोने को अब भी वहां की जनसंख्या के आर्थिक स्तर का द्योतक माना जाए तो मुसलमान वंचित दिखाई देते हैं। भूस्वामी मुसलमान परिवारों में से 51 प्रतिशत के पास या तो बहुत मामूली जमीन है और या फिर वे भूमिहीन हैं, जबकि अन्य समुदायों में ऐसे परिवारों की संख्या सिर्फ 40 प्रतिशत है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में मुसलमानों में बेरोजगारी भी अधिक है, मगर यह अपेक्षाकृत कस्बों में कुछ ही ज्यादा है।
- मुसलमानों के बीच निरक्षरता की दर भी अधिक है, ग्रामीण क्षेत्रों में सात वर्ष से अधिक उम्र के 48 प्रतिशत मुसलमान पढ़-लिख नहीं सकते जबकि शहरी क्षेत्रों में उनमें से 30 प्रतिशत ही इस श्रेणी में आते हैं।
- यदि 1999-2000 में भारतीय मुसलमान (ताजा जानकारी के अनुसार) उपभोग, शिक्षा, रोजगार और भूमि के स्वामित्व के मामले में ज्यादा पिछड़े हुए थे तो भी समय के साथ आये परिवर्तन यह नहीं जताते कि दोनों भारतीय धार्मिक समूहों के बीच यह फासला घट रहा है।
- भारतीय नमूना सर्वेक्षण संगठन से पता चलता है कि 90 के दशक में यह फासला या तो स्थिर था या फिर और बढ़ रहा था।
- उसी सर्वेक्षण के अनुमानों से पता चलता है कि भारत के गरीबों में से 90 प्रतिशत अनुसूचित जाति और आदिवासी, अन्य पिछड़ी जाति तथा मुसलमान समुदायों के सदस्य हैं।
- प्रशासनिक सेवाओं में भी मुसलमानों की संख्या बहुत कम है। भारतीय प्रशासनिक सेवा में उनकी संख्या सिर्फ 2.68 प्रतिशत, भारतीय पुलिस सेवा में 2 प्रतिशत, ए ग्रुप की सेवाओं में 3.04 प्रतिशत और बैंकों तथा अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रतिष्ठानों में दो प्रतिशत है। इसी तरह मेडिकल और इंजीनियरिंग कॉलेजों में भी उनकी संख्या बहुत कम है।

भारतीय मुसलमानों का अपेक्षाकृत काफी कम विकास मुसलमानों और भारत दोनों की ही समस्या है। योजना आयोग द्वारा अल्पसंख्यकों पर बनाए गए उपसमूह की रिपोर्ट से भी यही पता चलता है कि इसमें कोई उल्लेखनीय

सुधार नहीं हो रहा है। इसके बावजूद यह हर्ष का विषय है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में अपेक्षाकृत हाशिए पर होने के बावजूद कुछ भारतीय मुसलमान अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण दायरों में उपस्थिति दर्ज करवा रहे हैं। अजीम प्रेम जी और उनकी कंपनी विप्रो, सिपला एवं ऐसी कुछ दूसरी कंपनियों की सफलता के किस्से सबसे सटीक उदाहरण हैं। यह दर्शाता है कि भारतीय मुसलमानों में भी बहुत छोटा ही सही एक संपन्न अभिजात वर्ग का उदय हो चुका है।

ऊपर उल्लिखित तथ्यों के अनुसार साक्षरता और शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमानों की स्थिति राष्ट्रीय औसत से कम है। कुछ लोगों के अनुसार इसका कारण उनका आर्थिक पिछड़ापन है, जबकि कुछ का यह मानना है कि ऐसा उनकी धार्मिक मान्यताओं के कारण है। आम तौर पर यह भी माना जाता है कि इस्लाम में इहलौकिक (secular) शिक्षा की मनाही है और सिर्फ धार्मिक शिक्षा पर जोर दिया जाता है। और इसीलिए उनके द्वारा इतने सारे मदरसे और बहुत कम विद्यालय और कॉलेज चलाए जाते हैं। यदि धर्मनिरपेक्ष शिक्षा की राह में धर्म आड़े आता है तो ईरान जैसे धार्मिक देशों में जहां मुल्लाओं का शासन है, विज्ञान और प्रौद्योगिक की शिक्षा पर इतना अधिक जोर क्यों दिया जा रहा है या दुनिया में सबसे अधिक मुसलमान जनसंख्या वाले देश इंडोनेशिया में धर्मनिरपेक्ष शिक्षा पर इतना अधिक निवेश क्यों किया जा रहा है।

शिक्षा : मुसलमानों के शैक्षिक स्तर पर वर्ष 1947 में देश के बंटवारे का भारी असर हुआ। आधुनिक, शिक्षित मध्य और उच्च वर्ग के मुसलमान पाकिस्तान चले गए, खासकर उत्तर और पश्चिमी भारत से, और यहां बचे मुसलमान गरीब तथा अशिक्षित थे। यहीं रह जाने वाले लोगों में मध्यवर्गीय समुदाय की संख्या बहुत कम थी और अधिक तादाद कारीगरों, छोटे-छोटे व्यापारियों, कुली, रिक्शा चालक, तांगा वाले तथा शहरी क्षेत्रों में लम्पट तत्व और ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे किसान, भूमिहीन मजदूर तथा अन्य की बहुतायत थी। इतने पिछड़े आर्थिक स्तर के कारण उन्हें आधुनिक धर्मनिरपेक्ष (secular) शिक्षा ग्रहण करने से कोई खास लाभ नहीं दिखाई दिया। शैक्षिक पिछड़ेपन के कुछ अन्य कारण भी हैं: पहला तो यह कि शहरी क्षेत्रों में अधिकतर मुसलमान कारीगर और छीपी, बुनकर और मनिहार हैं। बच्चों को

स्कूल भेजने को वे अपनी हैसियत से बाहर ही नहीं बल्कि समय की बर्बादी भी मानते हैं, उनके बच्चे पुश्तैनी या मां-बाप के काम में हाथ बंटाते हैं। इसके बावजूद बच्चों को मदरसे तो सुबह और रात को भी भेजा जा सकता है। इसके अलावा मुसलमानों की कमजोर आर्थिक स्थिति और मां-बाप की इस मान्यता-उनके बच्चों को तो पढ़ने पर भी नौकरी नहीं मिलेगी-(भले ही यह हमेशा सही न हो) के कारण भी वे अपने बच्चों को विद्यालय या महाविद्यालय भेजने से कतरा जाते हैं। अपना जीवन स्तर सुधारने के लिए महत्वाकांक्षा या अवसरों की कमी भी उनकी इस कतराहट का कारण है। मां-बाप की गरीबी के कारण अधिकतर बच्चे पढ़ाई भी अधूरी छोड़ देते हैं। प्राथमिक स्तर के बाद ऐसे बच्चों की संख्या 60 प्रतिशत से भी अधिक है और इसलिए उनकी आबादी 12 प्रतिशत से अधिक होने के बावजूद उनमें स्नातकों का प्रतिशत बमुश्किल 4 प्रतिशत है।

बुरी तरह बदनाम और आलोचना के शिकार मदरसों ने मुसलमानों को शिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, विशेषकर मुसलमानों में साक्षरता के प्रसार में। मदरसों में दी जाने वाली शिक्षा में हालांकि पारंपरिक रूप से इस्लाम के धर्मशास्त्र, तर्क, दर्शन तथा इतिहास का ही ज्ञान दिया जाता है, मगर आधुनिक और धर्म-निरपेक्ष जानकारियां भी अब पाठ्यक्रम में जोड़ी जा रही हैं। वर्तमान मकतबों और मदरसों में सुधार की आवश्यकता है ताकि उनमें मजहबी तालीम के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा शुरू कराने की संभावनाएं बनाई जा सकें। कर्नाटक, केरल और आंध्र प्रदेश जैसे राज्यों तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार के भी कुछ मदरसों में विज्ञान, गणित, भूगोल और कंप्यूटर शिक्षण को पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया गया है। केंद्र सरकार और कई राज्यों की सरकारें राज्य मदरसा शिक्षा परिषद का गठन करके मदरसा शिक्षा के आधुनिकीकरण में सहायता कर रही हैं। मकतबों और मदरसों के प्रचलित होने का एक कारण यह भी है कि सरकार ने छोटे कस्बों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के भीतर धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के प्रसार के लिए समुचित उपाय नहीं किए हैं। इसलिए गरीब मुसलमान परिवारों के बच्चों का मजहबी तालीमघरों व मदरसों तथा हिंदुओं के बच्चों को हिंदू पाठशालाओं का रुख करना पड़ता है।

हाल के दिनों में कुछ सांप्रदायिक-राजनीतिक निहित स्वार्थों वाली शक्तियों ने मदरसों को लेकर घोर प्रचार किया है। यह राष्ट्रविरोधी गतिविधियों

के केंद्रों के रूप में प्रचारित किये गये हैं। हो सकता है कि कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रविरोधी गतिविधियों में लिप्त रहे हों लेकिन सारे मदरसों पर यह इल्जाम लगाना गैरजिम्मेदाराना हरकत है। अपने रूढ़िवादी तौर-तरीके व गैर आधुनिक शिक्षा प्रणाली व पाठ्यक्रम को लेकर मदरसों की आलोचना की जा सकती है लेकिन इस प्रकार का प्रचार एक पूरे समुदाय के साथ अन्याय होगा। यह बात सही है कि मुसलमानों के लिये शिक्षा एक चुनौती भी है और उनकी अधिकतर समस्याओं का समाधान भी।

सामाजिक परिस्थितियां

भारतीय मसुलमान एक 'सांस्कृतिक समुदाय' (cultural community) नहीं हैं क्योंकि उनकी न तो समान भाषा है और न ही वे एक समान जीवन पद्धति का पालन करते हैं। वे देश के किसी एक हिस्से में भी सीमित नहीं हैं। वे क्षेत्रीय समुदाय भी नहीं हैं। "वे भारत के विभिन्न भागों में पैदा होते, जीते और मरते हैं और विविध भाषाएं बोलते हैं। उनमें एक ही साझी खूबी है कि वे सभी एक ही धर्म के अनुयायी हैं जिसमें वे दुनियाभर के मुसलमानों के साथ भागीदार हैं। इसलिए धर्म को उनकी अस्मिता का प्रतीक माना जाना गलत तथा अतार्किक है" (टी.के. ऊमेन, 1998)। लेकिन विडंबना यह है कि धार्मिक अल्पसंख्यकों को चिह्नित करने के लिए धर्म पर आधारित सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं को बढ़ा-चढ़ाकर उनके खिलाफ इस्तेमाल किया जाता है।

कई लोग यह मानते हैं कि भारत के बंटवारे के लिए वे ही जिम्मेदार हैं। लेकिन यहां पर तीन महत्वपूर्ण तथ्यों की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। पहली यह कि बंटवारे के लिए मुसलमानों को दोषी ठहराए जाने का आरोप उत्तर भारत, विशेषकर उत्तर प्रदेश के अभिजात मुसलमानों पर ही लागू होता है। दूसरा यह कि मुसलमानों में से भी भारी संख्या में लोग उपनिवेश विरोधी स्वतंत्रता आंदोलन में शामिल थे। तीसरा यह कि बंटवारे के समय भारत के लिए निर्धारित सीमा में से बहुत ही कम संख्या में मुसलमानों ने पाकिस्तान में पलायन किया था; भारी संख्या में उन लोगों ने यहीं रहना पसंद किया था।

भारतीय मुसलमान, हिंदुओं और अन्य समुदायों की तरह, इस्लाम की विचारधारा के विपरीत जातीय सामाजिक भेद में फंसे हुए हैं। उनके बीच

भी उच्च और निम्न जातीय समूह हैं-सैयद और शेख जैसी उच्च जातियों के लिए *अशरफ* का उल्लेख किया जाता है और नीची जातियों के लिए *अजल्फ* का उल्लेख किया जाता है। वे अधिकतर विशिष्ट व्यवसायों से जुड़े जातीय और कारीगर समूह हैं, जैसे-जुलाहे (बुनकर), कसाई, रईन (सब्जी बेचने वाली), मनिहार (चूड़ी पहनाने वाले), बढ़ई (लकड़ी का काम करने वाले) आदि। इसके साथ ही उनके बीच पिछड़ी जातियों का मजबूत आंदोलन चल रहा है, जिससे अशरफ जातियां हाशिये पर आ रही हैं।

सैद्धांतिक विविधता (doctrinal variety), सामाजिक सोपानिकी तथा आर्थिक स्तरीकरण मुसलमानों के साथ भी काफी गहराई तक जुड़े हुए हैं-हालांकि वे हिंदुओं की तरह इतने सार्वजनिक, खुले, प्रत्यक्ष तथा प्रचारित नहीं हैं। शिया, सुन्नी और वहाबी या खोजा, बोहरा और आगाखानी धार्मिक और साथ ही अर्द्धधार्मिक मान्यताओं, प्रथाओं पर आधारित कई किस्म के भेदों के कुछ चुनिंदा उदाहरण हैं।

महिलाओं की स्थिति, बहुविवाह प्रथा, परिवार नियोजन तथा समान नागरिक संहिता बनाम शरीया कानून ऐसे मुद्दे हैं जो आमतौर पर सापेक्ष पूर्वाग्रहों, पूर्व निर्धारित मान्यताओं और निरर्थक अफवाहों पर आधारित हैं। उनकी सामाजिक स्थिति को ठीक से समझने के लिए इन मुद्दों की सही परिप्रेक्ष्य में तार्किक समझ आवश्यक है। मुसलमानों में महिलाओं की स्थिति पर जब हम गौर करते हैं तो हमें यह ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए कि पश्चिमी समाज के मुकाबले भारत में महिलाओं का स्तर आम तौर पर नीचा ही है। यदि मुसलमानों में महिलाओं की स्थिति का आकलन सिर्फ एक आधार पर जैसे-तलाक में आसानी अथवा 'तीन तलाक' पर किया जाए तो फिर हिंदुओं में व्यापक दहेज समस्या और महिलाओं से दुर्व्यवहार और बहुओं को जलाने के हादसों के बारे में क्या कहा जाए? कई मुसलमान देश में जहां महिलाएं अधिक सशक्त हैं और उनका सामाजिक दर्जा भी ऊंचा है, इस बात की ओर इंगित करते हैं कि मुसलमान औरत के सामाजिक उत्थान में धर्म कभी आड़े नहीं आता। इस तर्क के पक्ष में धार्मिक सत्ता शासित वर्तमान ईरान, मिस्र, इंडोनेशिया, तुर्की आदि का उदाहरण दिया जा सकता है। भारतीय मुस्लिम महिलाओं के शैक्षिक रूप से पिछड़े होने पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि पारंपरिक समाज में हमेशा उन्हें अशिक्षित रखने का

प्रयास किया गया या फिर सिर्फ बुनियादी मजहबी तालीम दी गयी ताकि वे अपने धार्मिक कर्तव्य पूरे कर सकें और इससे ज्यादा कुछ नहीं। लेकिन यह धार्मिक या विचारधारात्मक समस्या के बजाय सामाजिक समस्या है।

हमारा रुख धार्मिक या विचारधारा के कारणों की तरह ही सामाजिक कारणों से भी तय होता है। कई बार सामाजिक पहलू धार्मिक या विचारधारात्मक पहलुओं पर भी हावी हो जाते हैं। यदि उनके बीच शिक्षा का स्तर अपेक्षाकृत नीचा है तो इसका कारण धार्मिक से ज्यादा सामाजिक-आर्थिक है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि शिक्षा और समाजिक-आर्थिक स्तर एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं, लेकिन इसके पीछे किसी समाज में प्रचलित मूल्यों का भी बड़ा हाथ है। सच यह है कि इस्लाम से उन्हें जो भी मिला उसे पुरुषों के आधिपत्य वाले समाज में छीन लिया गया। लेकिन परिस्थिति तेजी से बदल रही है। आधुनिकता का मुसलमानों पर भी असर हो रहा है। मुसलमान लड़कियां आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर रही हैं, जीवन के हर क्षेत्र में वे भागीदार हैं, पारिवारिक स्तर पर निर्णय प्रक्रिया में उनकी भागीदारी पहले से कहीं अधिक है और उनमें से कई अब धार्मिक धमकियों को चुनौती भी देने लगी हैं।

भारत में राजनैतिक हित साधने के लिए मिथ्या प्रचार बड़ी गहराई से किया जाता है। इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है बहुपत्नीवाद और जनसंख्या में बढ़ोतरी के बारे में चल रहा सांप्रदायिक प्रचार। इसका सच जानने के लिए प्रत्यक्ष आंकड़ों का तार्किक और वस्तुनिष्ठ परीक्षण आवश्यक है। धार्मिक परम्पराओं और कानून के अनुसार कोई मुसलमान पुरुष एक से अधिक पत्नी रख सकता है। लेकिन क्या यह व्यावहारिक रूप से सच है? वर्ष 1991 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार भारतीय मुसलमानों में 1,000 पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की संख्या 930 है। ऐसी स्थिति में क्या बड़े पैमाने पर बहुपत्नीवाद संभव है? वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुरूप कोई भी जन्म-मृत्यु का गणितज्ञ इस दावे को खारिज कर देगा। भारत में महिलाओं की स्थिति पर राष्ट्रीय समिति (1971-74) की रिपोर्ट से निम्नलिखित आश्चर्यजनक जानकारियां उजागर हुईं तो इससे कई लोग अचंभित हुए:

भारत में बहुविवाह प्रथा की स्थिति

1. आदिवासी समुदाय-50.2 प्रतिशत

2. बौद्ध–7.8 प्रतिशत
3. जैन–6.7 प्रतिशत
4. हिंदू–5.8 प्रतिशत
5. मुसलमान–5.7 प्रतिशत

इन आंकड़ों की पुष्टि भारत के महापंजीकार और जनसंख्या आयुक्त के दफ्तर में भी उपलब्ध है तथा 'भारत में बहुपत्नी–एक सर्वेक्षण' इसका उदाहरण है।

इस रिपोर्ट में उल्लिखित तथ्यों के अनुसार बहुविवाह के लिए सांस्कृतिक कारणों के अतिरिक्त पत्नी का बांझपन, बेटा पैदा न हो पाना, भाई की विधवा से शादी की प्रथा आदि के अतिरिक्त ऐसे समुदायों में एक से ज्यादा पत्नी रखने का कारण आर्थिक भी है, जिनमें महिलाएं परिवार की आमदनी में भारी योगदान करती हैं। मुसलमान और हिंन्दू दोनों में ही कुछ कारीगर समूहों में यह प्रथा है कि एक अतिरिक्त आदमी रखने के बजाय एक अतिरिक्त पत्नी को रख लिया जाए तो वे सस्ती पड़ेगी। इस प्रकार बहुविवाही प्रथा का अपने समाजों में महिलाओं की स्थिति और भूमिका से सीधा संबंध है। जहां तक जनसंख्या वृद्धि का प्रश्न है तो यह सच है कि मुसलमानों में जन्म दर मामूली रूप से दूसरों से अधिक है। परिवार नियोजन के उपायों की स्वीकार्यता और जन्मदर कई कारणों पर निर्भर है। इनमें प्रमुख हैं–धंधा, आमदनी, प्रौद्योगिकीय सामर्थ्य, शिशुओं की जिन्दा बचने की दर, शिक्षा एवं कौशल, बच्चों का आर्थिक महत्व और बुढ़ापे की सुरक्षा (योजना आयोग के जनसंख्या नीति पर गठित कार्य समूह की रिपोर्ट)।

इन तथा अन्य कारणों से इस संभावना की पुष्टि होती है कि मुसलमानों में जन्मदर मामूली रूप से अधिक होने का कारण सभी क्षेत्रों में उनका अपेक्षाकृत अधिक वंचित होना है। यदि तथ्यों का बिना पूर्वाग्रह के परीक्षण किया जाए तो यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलेगा कि जनसंख्या वृद्धि में धर्म कोई बुनियादी या निर्णायक कारण नहीं है। इसी पृष्ठभूमि में यह बात भी महत्वपूर्ण है कि केरल के मालाबार क्षेत्र में जन्मदर उत्तर प्रदेश के मुकाबले बहुत कम है, जबकि मालाबार क्षेत्र में मुसलमानों की आबादी 40 प्रतिशत और उत्तर प्रदेश में उनकी आबादी सिर्फ 17 प्रतिशत है। इसी तरह कैथोलिक ईसाइयों की बड़ी आबादी के बावजूद गोवा में जन्मदर पूरे देश के मुकाबले

काफी कम है। ऐसे में यदि धार्मिक कारण इतना महत्वपूर्ण नहीं है तो फिर ऊपर उल्लिखित कारणों के अतिरिक्त भारतीय मुसलमानों की आबादी में बढ़ोतरी की दर लगातार अधिक रहने का क्या कारण है? स्वामीनाथन एस. अंकलेसरिया अय्यर (2001) निम्नलिखित कारण भी गिनाते हैं:

- ❖ पारंपरिक हिंदू विधवा विवाह नहीं होने देते, जबकि मुसलमान इसे बढ़ावा देते हैं।
- ❖ प्रवासी श्रमिकों में हिंदुओं की संख्या बहुत अधिक है और पुरुषों के घर से लंबे समय तक बाहर रहने के कारण महिलाएं कम बच्चे पैदा कर पाती हैं।
- ❖ मुसलमानों में साक्षरता दर कम है, विशेषकर मुसलमान औरतों में; और दुनिया भर में यह माना जाता है कि महिलाओं के निरक्षर होने पर बच्चे ज्यादा पैदा होते हैं।
- ❖ सरकार की नाकामी: दुनियाभर में लोगों को गर्भनिरोधक इस्तेमाल करने के लिए प्रवृत्त करने में सरकारी प्रयासों का विशेष महत्व रहा है।
- ❖ ईरान, लीबिया, बांग्लादेश तथा अन्य कई देशों में सरकारें मुसलमानों को गर्भनिरोधक अपनाने के लिए मनाने में सफल रही हैं। लेकिन भारत में मुसलमानों को सरकार इस बारे में बहुत नहीं मना पाई है। इसलिए इस सिलसिले में मुसलमानों की संस्कृति और धर्म पर दोष नहीं मढ़ा जाना चाहिए।

समान नागरिक संहिता बनाम शरीया कानून की बहस भी विवादास्पद मुद्दा रहा है और इसका आधार भ्रांति, समाजशास्त्रीय विरुपण और पूर्वनिर्धारित मान्यताएं रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भारत में इस्लाम विधिक प्रणाली के बजाय राजनैतिक सत्ता के रूप में प्रचलित रहा। मुसलमानों द्वारा सदियों से राज किए जाने के बावजूद शरीया कभी पूरी तरह लागू नहीं किया गया था। धार्मिक के बजाय, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक कारण अधिक महत्वपूर्ण रहे। रफीक जकरिया (1994) ने यह सही कहा है कि मुस्लिम पर्सनल लॉ, लॉर्ड मैकाले के उकसावे पर कुछ मौलवियों द्वारा तैयार किया गया दस्तावेज है। कई मामलों में यह फुतूहात-ए-आलमगीरी यानी मुगल बादशाह औरंगजेब के राज में सुनाए गए न्यायिक फतवों पर आधारित है। यह नवीनताओं (innovations) से भरपूर है और इसे मोहम्मदिया

कानून (Mohammadan Law) भी कहा जाता है जो कि अपने आप में भ्रामक है। इसे अंग्रेजों के राज में प्रिवी काउंसिल के फैसलों और बंटवारे से पहले की सेंट्रल एसेंबली के मुसलमान सदस्यों द्वारा पेश किए गए विधायी उपायों के सहयोग से काफी हद तक सुधारा गया था। इसके साथ ही कुछ वर्ग प्रथागत कानूनों (customary law) से शासित होते रहे। इसी प्रकार शरीया द्वारा प्रतिबंधित सूदखोरी पठानों और आप्रवासी अरबों जैसे रूढ़िवादी, मजहबी मुसलमानों द्वारा बड़े पैमाने पर अपनाई गयी। ऐसी इस्लाम विरोधी प्रथाओं की निंदा न करने में, व्यावहारिक मजबूरियों के कारण धर्मशास्त्रियों की मिलीभगत थी।

यदि हम भारतीय समाज के धर्मनिरपेक्ष वर्गों द्वारा अक्सर मुस्लिम पर्सनल लॉ को सुधारने के लिए की जाने वाली मांग पर ध्यान दें तो पाएंगे कि उसमें इसे पूरी तरह बदल देने की कोशिश निहित नहीं है, जबकि मुसलमानों की पहचान की विरोधी हिंदुत्ववादी ताकतों द्वारा की जाने वाली मांग इसके ठीक विपरीत है। प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष ताकतों द्वारा मुस्लिम पर्सनल लॉ में कुछ वांछित परिवर्तनों को लागू करने की मांग इस्लाम की भावना की विरोधी प्रतीत नहीं होती। बहुविवाह प्रथा और तलाक के मुद्दों को लेकर जो भी विवाद खड़ा किया गया है, उसके परिप्रेक्ष्य में यही कहा जा सकता है कि इस्लाम में कुछ निश्चित मर्यादाओं के भीतर बहुविवाह की अनुमति जरूर दी गई है लेकिन इसकी हरेक को अनुमति नहीं है। अधिकतर मुसलमान देशों में भी इस अधिकार पर कड़ी बंदिशें लागू हैं और यदि भारतीय संसद चाहे तो मुसलमानों तथा गैर मुसलमानों के लिए भी बहुविवाह पर पूरी तरह प्रतिबंध लगा सकती है। यह पूर्णतया इस्लाम की भावना के अनुकूल होगा। जहां तक तलाक का प्रश्न है, व्यवहार में मुसलमान महिलाओं के मुकाबले पुरुष फायदे में हैं। हालांकि महिलाओं द्वारा तलाक मांगने की अनुमति इस्लामी ग्रंथों में शुरू से ही है। इस सिलसिले में समान विवाह संविदा को अनिवार्य करके समानता आसानी से स्थापित की जा सकती है और इसमें सुरक्षात्मक उपायों का प्रावधान करके दोनों पक्षों को आर्थिक परेशानियों से भी बचाया जा सकता है।

सी.एस. नईम (1999) द्वारा बताया गया है कि मुसलमान सम्प्रदाय के वर्तमान नेताओं (अधिकतर स्वयंभू) द्वारा यह दावा किया जाना कि राष्ट्रीय

संसद यह परिवर्तन करने में सक्षम नही है, दुखदायी और खतरनाक है। उन्हें यह डर है कि यदि किसी एक मामले में संशोधन करने दिए गए तो अन्य क्षेत्रों में और परिवर्तनों का तांता लग जाएगा और मुस्लिम पर्सनल लॉ को वर्तमान हिंदू कोड में बदल दिया जाएगा। यह डर निराधार है। घोर मजहबी मुसलमानों द्वारा भी हरेक परिवर्तन का तब तक विरोध नहीं किया जाना चाहिए, जब तक उससे उनकी धार्मिक भावना का उल्लंघन न हो। इस्लाम द्वारा महिलाओं और समाज के कमजोर वर्गों को दिए गए अधिकारों को पुरुषों के आधिपत्य वाले समाज द्वारा छीनने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। क्या अल्पसंख्यकों के अधिकार मानवाधिकारों से अलग हैं?

राजनैतिक स्थिति

भारतीय मुसलमानों को भी भारत के सभी दूसरे नागरिकों के लिए संविधान में निहित सभी नागरिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त है। वे भी भारतीय समाज के सामाजिक, राजनैतिक तानेबाने का अटूट हिस्सा हैं। उनका चुनावी व्यवहार राजनीति विज्ञानियों के लिए गहन रुचि का विषय रहा है। यह देखकर खुशी होती है कि मुसलमानों ने आम तौर पर गैर सांप्रदायिक राजनीतिक दलों का साथ दिया है और केरल के अतिरिक्त (जहां मुस्लिम लीग का ढांचा और चरित्र दोनों ही अलग है) आजादी के बाद उन्होंने मुसलमान बहुल निर्वाचन क्षेत्रों में भी किसी सांप्रदायिक मुसलमान राजनैतिक दल का आमतौर पर कभी समर्थन नहीं किया। अन्य धार्मिक समुदायों के साथ-साथ मुसलमान भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भागीदार रहे हैं। लेकिन विशेषकर 1960 के दशक के बाद से बड़े पैमाने पर हो रहे सांप्रदायिक दंगों के कारण मुसलमानों में असुरक्षा का भाव आया है और उन्हें कभी-कभी सांप्रदायिकता का संकीर्ण आवरण ओढ़ने को विवश होना पड़ता है। फरवरी-मई 2002 के दौरान गोधरा कांड (गुजरात) के कथित विरोध में गुजरात में राज्य सरकार द्वारा प्रायोजित मुसलमान विरोधी दंगों से न सिर्फ भारतीय मुसलमानों के विश्वास की जड़ें हिली हैं, बल्कि सभी सुधी नागरिकों को ठेस लगी है। ऐसी घटनाएं अब अतीत के गर्त में दफन हो जानी चाहिए और भारतीय राज्यतंत्र को ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं होने देनी चाहिए अन्यथा सरकार अपना विधायी अधिकार खो देगी। आशुतोष वार्ष्णेय ने अपनी अप्रतिम और विद्वत्तापरक पुस्तक 'एथनिक

वायलेंस एंड सिविक लाइफ : हिंदुज एंड मुस्लिम्स इन इंडिया-(2002)' में लिखा है कि 'भारत में हिंदू-मुसलमान संबंधों के मामले में सरकार वैधानिक रूप से सही आचरण की बजाय राजनैतिक रूप से रणनीतिक आचरण करती दिखाई देती है।' गुजरात में सरकार ने बुनियादी तौर पर रणनीतिक अंदाज में कार्य किया न कि वैधानिक रूप से सही तरीके से --- भारत में नागरिक कार्रवाई (citizen's action) को दो रूपों में काम करना होगा।

(अ) अपने वैधानिक दायित्व में कोताही बरतने के लिए सरकार पर दबाव जारी रखने के साथ ही उन्हें

(ब) एकीकृत नागरिक संस्थाओं (integrated civil structures) के निर्माण पर ध्यान देना चाहिए। भारत में अभी तक नागरिक कार्रवाई के लिए यह बुनियादी रणनीति है। ऐसी कार्रवाई आवश्यक तो है, मगर अपर्याप्त है। नागरिक पहल इन दोनों ही सुझावों को मिलाकर द्विपक्षीय रणनीति के हिसाब से होनी चाहिए वरना सरकार सांप्रदायिक दंगों के दौरान अपने दुराचरण और मानव जीवन के प्रति सरासर अनादर के बावजूद लगातार साफ बचती रहेगी।'

राजनैतिक एकीकरण का अर्थ राजनैतिक अधीनस्थता नहीं है। इसका अर्थ है भारत जैसे देश और बहुलतावादी समाज में राजनैतिक उद्देश्य के लिए घनिष्ठ एकता। स्वस्थ क्षेत्रवाद, सांस्कृतिक स्वायतत्ता, भाषाओं का निर्विवाद विकास, सामाजिक संगठन बनाने की आजादी, गणतांत्रिक लोकतांत्रिक शासन तंत्र का मूल आधार है। यह अल्पसंख्यकों से ज्यादा बहुसंख्यकों-सामुदायिक तथा राजनैतिक-को याद रखना ज्यादा जरूरी है। जाने-माने राजनैतिक विज्ञानी रशीदुद्दीन खां ने अपनी महत्वपूर्ण राय जताते हुए कहा है कि संवैध ानिक संभावनाओं और लोकतंत्र एवं परिवर्तन की प्रक्रिया के ढांचे का फायदा उठाते हुए मुसलमान नेतृत्व को सभी स्तरों पर अपने सहधर्मियों को उनकी अलगाववादी प्रवृत्तियों से बाज आने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए तथा प्रतियोगी शासन तथा प्रतियोगी शासन तंत्र और उसकी एकीकृत समस्याओं के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए, ताकि आधुनिकीकरण की गति तेज की जा सके। समाज की दुखती रग को पकड़ते हुए मशहूर मानवभूगोलविद मूनिस रजा (1994) कहते हैं कि भारतीय मुसलमानों की 'भारतीयता' और

'मुसलमानियत' दोनों ही बुनियादी विशेषताएं हैं और परिस्थिति के तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक मूल्यांकन के लिए इनमें से न तो किसी की उपेक्षा की जा सकती है और न ही अनदेखी। इस प्रकार भारतीय मुसलमान, मुसलमान भारतीय भी हैं।

अतीत में मुसलमान या तो शासक रहे या फिर शासित। आज, भारत में वे सहशासक भी हैं, तथा राष्ट्रीय संप्रभुता के संयुक्त साझीदार भी। रशीदुद्दीन खां (वही) ने यह ठीक ही कहा है कि बहुसंख्यक समुदाय को किसी लोकतांत्रिक समाज में राष्ट्रीयता का फायदा पहले मिलता है। इसलिए अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए अल्पसंख्यकों को सिर्फ राष्ट्रीयता के संवर्द्धन पर ही निर्भर न रहकर उसके साथ ही उपराष्ट्रीयता विकसित करने पर भी बाध्य होना पड़ता है। कांचा इलैया (2003) ने अपने चिरपरिचित बेबाक और कठोर मगर ईमानदार तर्क में कहा है कि, 'भारतीय राष्ट्रीयता सिर्फ हिंदुओं की बपौती नहीं है। यह मुसलमानों, ईसाइयों, बौद्धों तथा सिखों की भी संपत्ति है।' इस प्रकार धार्मिक अल्पसंख्यक भी किसी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के स्वाभाविक संरक्षक हैं।

ईसाई

भारत में ईसाई दूसरा सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समूह है और देश की कुल आबादी में उनकी संख्या 2.34 प्रतिशत है। आम समझ के अनुसार भारत में ईसाईयत और ईसाइयों का प्रादुर्भाव अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के साथ ही माना जाता है, लेकिन सुस्थापित परंपराएं और ऐतिहासिक साक्ष्य यह बताते हैं कि ईसाई, केरल राज्य में ईसा की पहली शताब्दी से ही मौजूद रहे हैं। इसलिए ईसाइयों को सिर्फ सबसे पुराने धार्मिक अल्पसंख्यक ही नहीं बल्कि ईसाईयत को भारत के प्राचीनतम धर्मों में भी शामिल माना जाना चाहिए। इस प्रकार दो करोड़ से अधिक ईसाइयों की आबादी भारत का अटूट अंग है।

मुसलमानों की तरह ही ये देशभर में व्यापक रूप से बसे हुए हैं। कुछ राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों की आबादी में उनकी अच्छी-खासी जनसंख्या है। ईसाइयों के बारे में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य एवं आंकड़े निम्नलिखित हैं :

- ईसाइयों की सबसे अधिक आबादी देश के चार दक्षिणी राज्यों केरल, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और कर्नाटक में है।

- देश में ईसाइयों की आबादी में से लगभग 56 प्रतिशत जनसंख्या इन्हीं चार दक्षिणी राज्यों में बसी हुई है।
- देश में ईसाइयों की कुल आबादी में से लगभग एक-तिहाई आबादी केरल में और लगभग 1/6 जनसंख्या तमिलनाडु में है।
- इसके बाद ईसाइयों की सबसे अधिक संख्या देश के पूर्वोत्तर राज्यों में है। इन राज्यों में देश की कुल ईसाई आबादी में से 22 प्रतिशत जनसंख्या उन्हीं की है तथा यह जनजातीय समुदाय है।
- देश की कुल ईसाइयों की संख्या लगभग 2.5 प्रतिशत है, परन्तु देश के तीन राज्यों में वे बहुसंख्य हैं, इनमें से नागालैंड में उनकी जनसंख्या 88 प्रतिशत, मिजोरम में 86 प्रतिशत और मेघालय में 65 प्रतिशत है। कुछ अन्य राज्यों में ईसाइयों की संख्या अच्छी खासी है। इनमें मणिपुर में 34 प्रतिशत, गोवा में 30 प्रतिशत, केरल में 19 प्रतिशत, अरुणाचल प्रदेश में 10 प्रतिशत और तमिलनाडु में 6 प्रतिशत है। असम और सिक्किम में राज्य की कुल जनसंख्या में से इनकी संख्या कुल 3 प्रतिशत है। बाकी राज्यों में ईसाइयों की संख्या 0.4 प्रतिशत से 2 प्रतिशत तक है। केन्द्र शासित प्रदेशों में सबसे अधिक संख्या में 24 प्रतिशत ईसाई अंडमान निकोबार द्वीप समूह में हैं। पांडिचेरी में भी इनकी आबादी 7 प्रतिशत है। बाकी केन्द्र शासित प्रदेशों में इनकी संख्या 1 प्रतिशत से 3 प्रतिशत तक है।
- भारत के सभी धार्मिक संप्रदायों में से पुरुषों की तुलना में महिलाओं की सबसे अधिक संख्या ईसाइयों में ही है। इनमें 1,000 पुरुषों की तुलना में महिलाओं की संख्या 994 है। शायद इसी कारण से वे घर से बाहर अधिक दिखाई देती हैं और रोजगाररत भी हैं।
- आम मान्यता के विपरीत भारतीय ईसाई भी अधिकतर ग्रामीण हैं। भारत के कुल ईसाइयों में से 71 प्रतिशत ग्रामीण हैं। इसमें एक और दिलचस्प तथ्य यह है कि दक्षिण और पूर्वोत्तर भारत में ईसाई जहां अधिकतर ग्रामीण हैं वहीं उत्तर भारत में ये अधिकतर शहरी हैं।
- भारत के सभी प्रमुख धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों में से सबसे अधिक साक्षर ईसाई ही है। इसका प्रमुख कारण मिशनरियों के अनथक प्रयास हैं।

भारतीय मुसलमानों की तरह ही भारतीय ईसाई भी कोई 'सांस्कृतिक समुदाय' नहीं है। वे विभिन्न भाषाएं बोलते हैं, उनकी जीवनशैली भिन्न है

और किसी एक ही क्षेत्र में सीमित नहीं है। धर्म के मामले में भी मुसलमानों की तरह ही वे विभिन्न धार्मिक पंथों में बंटे हुए हैं। भारत में विभिन्न ईसाई पंथों में से सिर्फ 5 मुख्य समूह ही दिखाई देते हैं, जिनमें से विभिन्न शाखाएं उभरी हैं। ये हैं-सीरियन क्रिश्चियन और सेंट थॉमस क्रिश्चियन, लैटिन या रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, आदिवासी और दलित। आदिवासियों और दलितों को एक ही श्रेणी में माना जाता है क्योंकि उनकी कई समस्याएं समान हैं। इसके बावजूद उनके हितों के मद्देनजर दोनों को अलग-अलग समूह ही मानना चाहिए। भारतीय ईसाई समुदाय में सबसे अधिक संख्या रोमन कैथोलिक अनुयायियों की है। इसीलिए गिरिजाघर, विद्यालय, महाविद्यालय एवं अस्पताल जैसी कैथोलिक संस्थाएं भी अधिक संख्या में हैं। कैथोलिक चर्च की भारत के विभिन्न भागों में उपस्थिति ईसाईयत के यहां लंबे इतिहास का परिणाम लगता है। इसके साथ ही ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा के प्रसार के लिए समर्पित भाव से किए गए सामाजिक कार्य ने भी ईसाईयत के प्रसार में योगदान किया है।

ईसाईयत के आंदोलन के दो पूर्णतया देसी संस्करण, आदिवासी और दलित ईसाई हैं। बोनिता अलीयाज (2002) ने बताया है कि 'आदिवासी ईसाई भारत में अलग-अलग क्षेत्रों में फैले हुए हैं। इसके बावजूद उनके बड़े समूहों में से केवल दो समूहों का किसी एक स्थान पर जमावड़ा ही संभव है जो कि देश में आदिवासी ईसाइयों में से 80 प्रतिशत से अधिक हैं। वे पूर्वोत्तर भारत के और संथाल आदिवासी हैं जो कि बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा असम में फैले हुए हैं।' बाकी के आदिवासी क्षेत्रों में ईसाइयों की संख्या मामूली है। आदिवासी समाजों में कल्याण और आधुनिकता के प्रसार में ईसाइयों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इससे कई प्रथाओं और रिवाजों में भी बेहतर परिवर्तन आए हैं। जनजातीय समाजों पर विभिन्न धर्मों के प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन लेखक की एक दूसरी पुस्तक 'जनजातीय भारत' में देखा जा सकता है।

भारत के सभी ईसाइयों में से आजकल सबसे मुखर दलित ईसाई हैं। उनमें से अधिकतर, हिंदू अछूत जातियों के हैं जिन्हें जातीय प्रथा के भूत से ईसाईयत अपनाने पर सुखद राहत मिली है। सी.बी. वेब्सटर (1994) ने काफी सूझबूझ के साथ दलित ईसाई आंदोलन की शुरुआत और उसके

धीरे-धीरे हुए प्रसार को कलमबद्ध किया है। उन्होंने बताया है कि 1881 की जनगणना के आधार पर दलितों को मुख्य तौर पर चार समूहों में बांटा जा सकता है। ये हैं-पंजाब के चूड़े, उत्तर भारत के चमार, मध्य और पश्चिमी भारत के महार और दक्षिण भारत के पेरियार। हालांकि इन समूहों का आपस में कोई संबंध नहीं था, लेकिन कुछ सामान विशेषताएं इनमें चीन्हीं जा सकती हैं। यह विशेषताएं थीं: इनका मुख्य धंधा खेतिहर मजदूरी, गरीबी, जन्म, विवाह और मृत्यु से संबंधित समान रीति-रिवाज और अंत में अन्य सामाजिक और जातीय समूहों में उनसे संबंधित सरोकारों के प्रति सहानुभूति या समर्थन का अभाव। इसके साथ ही वे सभी अछूत थे और भूमि से वंचना के अलावा नाई, धोबी, पुजारी जैसी जातियां भी उनको अपनी सेवायें नहीं देती थीं, बंधुआगीरी, शिक्षा से वंचित्व आदि-आदि। 1920 और 30 के दशकों में दलितों ने अचानक बड़े पैमाने पर ईसाईयत के प्रति रूझान जताया। आर्थिक स्वतंत्रता और शिक्षा के जरिए अपना जीवन स्तर उठाने के लिए दलितों ने ईसाईयत की शरण ली। फलस्वरूप उनसे भेदभाव में काफी कमी तो आई मगर यह पूरी तरह नहीं मिट पाया क्योंकि ईसाईयत ग्रहण करने वाले ऊंची जाति के भारतीयों का जातीय पूर्वाग्रह जारी रहा और वे उन्हें हेय मानते रहे। कभी-कभी तो चर्च भी भेदभाव करता था। बोनिता अलियाज (वही) ने बताया है कि आज भी चर्च, जातिगत पूर्वाग्रह से पूरी तरह मुक्त नहीं है। लेकिन उत्तर में चर्च समुदाय के भीतर जाति की जगह प्राय: वर्ग ने ले ली है। लेकिन दलित ईसाइयों का अन्य समुदायों से संबंध आज भी जातीय सरोकारों से जुड़ा है। दक्षिण में ईसाई समुदाय व जातियों में आपसी सहयोग और जुड़ाव का पक्ष हावी है।

ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकतर ईसाई निचली हिंदू जातियों से धर्म परिवर्तन करके ईसाई बने हैं और उन्होंने अपना पुराना धंधा ही अपना रखा है। रोवीन राबिंसन (2001) ने इस बारे में गहन टिप्पणी की है। ईसाई समूहों में जातीय विभेदों का प्रचलन काफी हद तक ऐतिहासिक एवं सामाजिक रुचि का क्षेत्र है। जहां भी सामूहिक धर्म परिवर्तन हुआ वहां परिवर्तित धर्म अपनाने वाले लोगों ने अपना धर्म भले ही छोड़ दिया हो मगर अपनी जातीय पहचान बरकरार रखी। बहुत से लोग यह स्वीकार नहीं कर पा रहे कि एक समतामूलक धर्म में असमानता कैसे बर्दाश्त की जा रही है। यह बात ध्यान

देने योग्य है कि ईसाई मिशनरियों ने हमेशा और हर जगह बिना झिझके जाति या उसके अंतर्निहित भेदों का विरोध नहीं किया है। परिवर्तित धर्म अपनाने वालों ने अक्सर खुद ही सामाजिक समता के संबंध स्थापित करने की मिशनरियों की कोशिशों का विरोध किया है। केरल में अछूत समूहों से परिवर्तित धर्म अपनाने वाले पुलाया तथा पुराया जैसे समूह अधिकतर भूमिहीन मजदूरों के हैं तथा सीरियाई ईसाइयों तथा अन्य जमींदार ऊंची जातियों के लोगों के लिए काम करते हैं। सीरियाई ईसाइयों और परिवर्तित धर्म अपनाने वाले अछूतों के बीच रोटी-बेटी का रिश्ता नहीं है। कई जगह अछूतों से ईसाई बने लोगों के अलग गिरजाघर तक हैं। तमिलनाडु में ग्रामीण क्षेत्रों के अछूत ईसाइयों की बस्तियां ऊंची जातियों के लोगों से अलग हैं। अब भी शुद्धता और अशुद्धता की मान्यता बरकरार है।

शहरी मध्यवर्गीय ईसाइयों की छोटी सी संख्या है। ईसाइयों का यह एक छोटा सा वर्ग है जो कि मिशनरियों द्वारा उपलब्ध कराई गई सुविधाओं से शिक्षित होकर बेहतर आर्थिक स्थिति में है। उनकी राजनैतिक हैसियत के बारे में टी.के. ऊमन (2000) कहते हैं, 'भारत में ईसाई किसी राजनीतिक दल के रूप में संगठित नहीं है और इसके दो कारण हैं : पहला, उनके जातीय स्तर और भाषा पर आधारित उनका सामाजिक-सांस्कृतिक बिखराव, जिसकी हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं; और, दूसरा, शुरू में ही विशिष्ट मतदाता बनने की प्रवृत्ति को जानबूझकर ठुकराया जाना एवं उसके बाद राजनैतिक मामलों में उनके द्वारा अपनाई गई गैर-सांप्रदायिक प्रवृत्ति। आधुनिक पश्चिम की ताजा परंपराओं पर चलते हुए भारत के ईसाई चर्च एवं सरकार को दो अलग-अलग संस्थायें मानते हैं। यह भी अखिल भारतीय स्तर पर उनके राजनैतिक-धार्मिक मंच पर संगठित होने में आड़े आता है। इसके साथ ही उनकी कम संख्या और बिखरी हुई संख्या के कारण भी वे कुछ क्षेत्रीय परिस्थितियों-जैसे केरल अथवा पूर्वोत्तर-के अलावा कहीं भी अपना निर्णायक राजनैतिक अस्तित्व स्थापित करने की स्थिति में नहीं हैं।' अपनी कम संख्या और आर्थिक असमर्थता के बावजूद एक क्षेत्र ऐसा है जिसमें भारत में ईसाइयों का वर्चस्व है और यह क्षेत्र है परमार्थी संस्थाएं विशेषकर शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में।

1990 के दशक में गुजरात, उड़ीसा और कई अन्य राज्यों में गिरजाघरों

और ईसाइयों पर बड़े पैमाने पर हमले हुए। इन अत्याचारों का प्रमुख कारण कथित 'जबर्दस्ती और धोखाधड़ी' से 'बड़े पैमाने पर' धर्म परिवर्तन बताया गया था। बिहार, कर्नाटक और महाराष्ट्र में 10 लाख से अधिक ईसाई हैं, लेकिन आश्चर्य यह है कि इस कट्टरपंथी के लिए जिन राज्यों को चुना गया, वे हैं गुजरात और उड़ीसा जहां ईसाइयों की आबादी क्रमशः 0.44 प्रतिशत और 2.1 प्रतिशत ही है। दलितों और आदिवासियों द्वारा धर्म परिवर्तन हमेशा ही किया जाता रहा है, मगर मुद्दे को बढ़ा-चढ़ाकर उछला गया और ईसाइयों तथा मुसलमानों के खिलाफ घृणा फैलाने के अभियान का एक प्रमुख राजनैतिक दल और उसके विभिन्न सहयोगी संगठन इस मुद्दे को राजनैतिक औजार के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं। बी.के. रॉयबर्मन (1999) धर्म परिवर्तन के तथ्यों का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि 'गुजरात में आदिवासियों की कुल संख्या में से ईसाईयत के अनुयायी 1961 में सिर्फ 0.09 प्रतिशत, 1971 में 0.24 प्रतिशत तथा 1981 में 0.40 प्रतिशत ही थे। 'वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार ईसाइयों का प्रतिशत घट गया है। यहां प्रश्न यह है कि यदि ईसाई मिशनरी हमेशा धर्म परिवर्तन करवाने में जुटे रहते हैं तो राज्य में ईसाइयों की संख्या क्यों घट रही है? यदि कोई व्यक्ति अपना धर्म स्वयं बदलता है तो वह उसकी अपनी इच्छा है और ऐसे निजी फैसलों का दुनियाभर में सम्मान किया जाता है। इसके बावजूद भारत जैसे बहुधर्मी समाज में जो कट्टरपंथी देशों से घिरा हुआ है, वहां किसी भी गैर हिंदूपंथ में होने वाले छोटे से छोटे धर्म परिवर्तन से भी डर, आशंका, सुरक्षा और दुर्भावना पैदा हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में अल्पसंख्यकों को ऐसी गतिविधियों से अपने हित में स्वयं ही दूर रहना चाहिए।

सिख

भारत में धार्मिक अल्पसंख्यकों में सिखों की संख्या तीसरे प्रमुख स्थान पर है। पंजाब से शुरू होकर इस मत के लोग अब अपने साथ पंजाबी संस्कृति के जिंदादिल तत्व लिए पूरे भारत में फैले हुए हैं।

भारत की कुल जनसंख्या में सिखों की संख्या लगभग 3 प्रतिशत है। सिखों की अधिकतर आबादी आज भी पंजाब में ही बसी हुई है। उनकी कुल आबादी में से 78.5 प्रतिशत पंजाब में 6 प्रतिशत हरियाणा में तथा बाकी हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, चंडीगढ़ तथा जम्मू एवं कश्मीर में बसी हुई है। पंजाब से लगे इन विभिन्न राज्यों के अधिकतर क्षेत्र पहले वृहत पंजाब में ही शामिल थे।

सिखों के इतिहास में वर्ष 1974 में देश का बंटवारा महत्वपूर्ण घटना थी। पश्चिमी पंजाब से सिख लगभग पूरी तरह भारत में भाग आए थे और उन्हें सीमा के इस तरफ बसा दिया गया था। देश के सामाजिक भूगोल का विश्लेषण करते हुए एजाजुद्दीन अहमद (1999) बताते हैं कि, 'बंटवारे के कारण सिखों का पंजाब के पड़ोसी क्षेत्रों हरियाणा और राजस्थान में भी सिंचित क्षेत्रों में पुनर्वास किया गया था। जैसे-गंगानगर तथा कुरुक्षेत्र जिले। सिखों को उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्रों में भी बसाया गया, जहां उन्होंने मलेरिया फैलाने वाले मच्छरों से भरे दलदली क्षेत्र को उत्तर भारत के खलिहान में बदल दिया। यह परिवर्तन सिख किसानों की कड़ी मेहनत से हो पाया। वे हालांकि उस क्षेत्र के लिए अजनबी थे मगर फिर भी जमीन से जुड़े रहे।' सिख-जाट सिंचाई आधारित खेती के प्रतीक और पंजाब में नहरों के निर्माण से आई कृषि क्रांति के सबसे सक्रियकर्ता भी बने।

सिख एकांकी (monolithic) समुदाय नहीं है। उनके कई पंथ हैं जैसे नामधारी, निहंग, उदासी, निरंकारी, निरंजनी, नानकपंथी आदि। सिख गुरुद्वारा सिर्फ पूजा का पवित्र धार्मिक स्थान नहीं है। यह समुदाय का धार्मिक-सांस्कृतिक केंद्र है, जहां जन्म, नामकरण, विवाह तथा मृत्यु से संबंधित कई रस्म-रिवाज पूरे किए जाते हैं। यह संगत का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे चुनावी राजनीति जैसी सेक्युलर गतिविधियों के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। आस्थावान सिख हालांकि लगभग रोज ही गांव अथवा शहर के गुरुद्वारे में जाते हैं लेकिन वैशाखी पर उनकी सबसे महत्वपूर्ण संगत होती है। इसी दिन खालसा पंथ की स्थापना हुई थी। इसके अलावा दो गुरु पर्वों (गुरुनानक तथा गुरु गोविंद सिंह के जन्मदिवस) पर वे बड़े उत्साह से एकत्रित होते हैं।

सिखों की आर्थिक स्थिति हमेशा ईर्ष्याजनक रही है। गांव में वे जहां कहीं भी रहते हैं, खेती-बाड़ी में उनकी महारत झलकती है और उनमें से काफी संख्या अमीर किसानों की है। पहले भी यह बात कही जा चुकी है कि जाट सिखों ने देश की 'हरित क्रांति' में महत्वपूर्ण योगदान किया है। शहरी क्षेत्रों में उनमें से अधिकतर लोग अपनी आजीविका व्यापार और व्यवसाय से कमाते हैं। परिवहन, वाहनों, कलपुर्जों तथा परिवहन के सेवा क्षेत्र अर्थात गैराज आदि धंधों में सिख बड़ी तादाद में हैं। वे सेना में भी हमेशा भारी संख्या में रहे हैं। अपनी जनसंख्या के अनुपात में सेना में उनकी हिस्सेदारी कहीं अधिक है।

मुसलमानों और ईसाइयों की तरह सिखों में भी आंतरिक भेद हैं। वे भी जातियों, वर्गों तथा शहरी-ग्रामीण जमातों में बंटे हुए हैं। जैसे एक तरफ-शहरी

व्यापारी वर्ग, जिसे आमतौर पर भापा (खतरी, अरोड़ा आदि) कहते हैं और दूसरी तरफ अक्सर नीची जातियों के दिहाड़ी मजदूर सिख हैं। इसके साथ ही कारीगरों के बीच में भी जाति-वर्ग आधारित भेद हैं जैसे बढ़ई (रामगढ़िया) और लुहार। यह भेद शहरों से लेकर कस्बों और गांवों तक प्रचलित है। इसके अलावा मजहबी सिख हैं जो कि अनुसूचित जाति के हैं।

बंटवारे में पांव उखड़ने के बाद सिख समुदाय को इंदिरा गांधी की हत्या के बाद छिड़े सिख विरोधी दंगों ने झकझोर कर रख दिया था। दिल्ली, कानपुर, बोकरो तथा अन्य क्षेत्रों में सैकड़ों सिखों को पकड़ कर मौत के घाट उतार दिया गया था, लेकिन मेहनतकश और जिंदादिल समुदाय होने के नाते वे इस सदमे से भी उबर गए। अपने सांस्कृतिक अलगाव के बावजूद सिख आज भी अपनी पहचान भारत से ही मानते हैं और मुट्ठी भर लोगों के अलावा उनमें अलगावाद के प्रति कोई रूझान नहीं है।

भाषायी अल्पसंख्यक (Linguistic Minorities)

भाषा मानवजाति की सबसे बड़ी उपलब्धि और पहचान है। यह मानवीय सभ्यता के प्रमुख खजानों में से एक है। यह मानवीय संस्कृति और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण माध्यम है। भाषा से मानव समूह को उसकी सांस्कृतिक पहचान मिलती है और भाषा के माध्यम से ही संस्कृति के सभी तत्वों का अक्षुण्ण रखा जाता है।

भारत में बड़ी संख्या में भिन्न-भिन्न बोलियां बोली जाती हैं। ग्रियरसन ने अपने ऐतिहासिक कार्य (Linguistic Survey of India) यानी भारत के भाषायी सर्वेक्षण में देश में 179 भाषाओं और 544 बोलियों के प्रचलन का जिक्र किया है। हम उनके भाषायी वर्गीकरण में से कुछ भाषाओं को हटाकर बोलियां मान भी लें, तो भी भारत भाषायी विविधता और भाषायी बहुलता का पर्याय बताया जाएगा। भारत के सामाजिक भूगोल पर लिखते हुए एजाजुद्दीन अहमद (1999) का कहना है कि देश में वर्तमान स्थिति बहुलतावादी नहीं बल्कि अटूटक्रम (continuum) की है। एक बोली दूसरी बोली में कब विलीन हो जाती है इसका पता ही नहीं चलता; एक भाषा धीरे-धीरे दूसरी भाषा की जगह ले लेती है। इसके साथ "ही दो भाषाओं के संपर्क के समानांतर एक ऐसा संक्रमण क्षेत्र है जिसमें लोग द्विभाषी हैं। इस प्रकार भारत में भाषाएं किसी परिधि में बंधी नहीं हैं। भाषायी बहुलतावाद एक संस्पर्शी स्थान पर विभिन्न भाषाओं के सहअस्तित्व की स्थिति है और आधुनिक भारतीय राष्ट्र-राज्य की यह विशेषता बनी हुई है।"

स्वतंत्रता के बाद बहुलतावादी भारत में विभिन्न किस्मों के समूह एवं समुदायों ने अपनी-अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति की मांग उठाई तो राष्ट्रीय नेताओं को स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रथम दो दशकों में कई प्रकार की भाषायी समस्याओं से जूझना पड़ा। इन समस्याओं में राजभाषा की समस्या भी शामिल थी। भारत के प्रदेशों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन की मांग भी जोर-शोर से उठी क्योंकि अंग्रेजी राज में उनकी सीमाएं भाषायी आधार पर तय नहीं की गई थीं। इसके साथ ही पुनर्गठित राज्यों में 'अल्पसंख्यक भाषाओं' के दर्जे का सवाल भी उठा। इस प्रकार 'भाषायी अल्पसंख्यकों' की समस्याएं और मुद्दे अधिकतर राज्यों के पुनर्गठन की देन है।

'भाषायी अल्पसंख्यक' की परिभाषा संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 में स्पष्ट की गई है। इस प्रकार 'भाषायी अल्पसंख्यक वे अल्पसंख्यक हैं जो भारत की भूमि पर या उसके किसी हिस्से पर अपनी विशिष्ट भाषा या लिपि का प्रयोग करते हुए रह रहे हैं। यह आवश्यक नहीं है कि अल्पसंख्यक समूह की भाषा संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित भाषाओं में से ही एक हो। इसका मतलब यह हुआ कि राज्य स्तर पर भाषायी अल्पसंख्यक वह जनसमूह है जिसकी मातृभाषा उस राज्य में बोली जाने वाली प्रमुख भाषा से अलग है तथा जिला एवं तहसील स्तर पर जिले और तहसील की प्रमुख भाषा से अलग भाषा है। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सभी भाषाओं को बोलने वाले लोग किसी एक या उससे अधिक राज्यों, जिलों अथवा तहसीलों में भाषायी अल्पसंख्यकों में शामिल होने के काबिल पाए जाएंगे। इसमें अपवाद सिर्फ वही होंगे, जिनकी भाषा उस क्षेत्र की प्रमुख भाषा से मेल खाती होगी।' (भारत में भाषायी अल्पसंख्यकों के आयुक्त, 1988)। संविधान के अनुच्छेदों 29, 30, 347 और 350 में उल्लिखित संवैधानिक प्रावधानों के अलावा भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए अधिकतर सुरक्षात्मक उपाय वर्ष 1956 से 1961 के दौरान ही तैयार किए गए थे। यह भाषायी आधार पर किए गए राज्यों के पुनर्गठन के तत्काल बाद की अवधि थी। सत्तारूढ़ वर्ग की भेदभावपूर्ण, प्रभुत्वपरक और पूर्वाग्रह युक्त मनोवृत्तियों की चर्चा करते हुए पॉल आर. ब्रास (1995) ने यह सही कहा है कि भारत सरकार द्वारा अपनाई जाने वाली बहुलतावादी नीतियों के विपरीत कई राज्यों ने अपनी सीमाओं के भीतर बसे भाषायी (एवं अन्य) अल्पसंख्यकों के प्रति भेदभावपूर्ण नीतियां चलाई हैं। इसके साथ ही संबद्ध राज्य सरकारों के विरोध के आगे केन्द्र भी ऐसे अल्पसंख्यकों को ठीक से संरक्षण नहीं दे पाया है। असम में बंगाली भाषी लोगों और आंध्र प्रदेश में कन्नड़, मलयालम

तथा तमिल भाषी लोगों तथा उसके विपरीत बाकी दूसरे राज्यों का उदाहरण दिया जा सकता है। राज्यों के भाषायी आधार पर पुनर्गठन का सबसे अधिक नुकसान उर्दू भाषा को उत्तर भारत के राज्यों में हुआ है। इसके साथ ही हिंदी एवं अन्य बड़े पैमाने पर बोली जाने वाली भाषाओं की बोलियों व तथाकथित विभिन्न मातृभाषाओं ने भी नुकसान उठाया है, क्योंकि उन्हें न तो केंद्र सरकार ने सरकारी मान्यता दी है न ही राज्य सरकारों ने। इसके साथ ही कुछ राज्यों द्वारा ऐसी भाषाओं को यदि झिझकते हुए मान्यता दे भी दी गई है तो भी उनके विरुद्ध नीतियों और व्यवहार में भेदभाव जारी है। इसका सटीक उदाहरण उत्तर प्रदेश, बिहार और आंध्र प्रदेश में उर्दू को मान्यता प्राप्त दर्जा दिए जाने का है, क्योंकि सरकारी मान्यता के बावजूद इन राज्यों में उर्दू खत्म हो रही है। इसी सिलसिले में इसमें से कुछ बोलियों के मामले, मसलन उत्तर बिहार की मैथिली भाषा को भी उदाहरण स्वरूप गिनाया जा सकता है। ये हर प्रकार से अलग भाषाएं हैं मगर सरकार यह बात नहीं मानती। भाषाओं और बोलियों के बीच फर्क के विवादास्पद मुद्दे से बचने के लिए भारतीय जनगणना अधिकारियों की प्रणाली सबसे उपयुक्त है। उनके अनुरूप इन दोनों को मिलाकर मातृभाषा शब्द को अपनाया जाना चाहिए।

पॉल ब्रास (वही) ने इस तर्क को और बढ़ाते हुए कहा कि भाषाएं और मातृभाषाएं दरअसल सरकारी मान्यता के क्रम में उल्लिखित हैं। इनमें सबसे ऊपर हिंदी-अंग्रेजी दो भाषाएं हैं जिन्हें संघीय गणराज्य की राजभाषाओं के रूप में मान्यता प्राप्त है। इससे अगला स्तर क्षेत्रीय भाषाओं का है, जिन्हें भाषायी आधार पर पुनर्गठित राज्यों में राजभाषाओं का दर्जा हासिल है, (जैसे कन्नड़, मराठी, उड़िया, तमिल, बंगाली आदि)। इन सभी भाषाओं को आठवीं अनुसूची में भी शामिल किया गया है। तीसरा स्तर आठवीं अनुसूची में उल्लिखित उन भाषाओं का है, जिन्हें किसी भी राज्य में मान्यता प्राप्त नहीं है, जैसे संस्कृत और सिंधी। सिंधी आजादी से पहले सिंध प्रांत की भाषा होती थी और अब वह पाकिस्तान में शामिल है। भाषा चूंकि सांस्कृतिक अस्मिता की सबसे बड़ी पहचान है। इसलिए विभिन्न राज्यों में भाषायी अल्पसंख्यकों को नौकरियों के लिए होड़ और अन्य आर्थिक समस्याओं के मामले में प्रभुता संपन्न वर्ग का भेदभावपूर्ण और कभी-कभी शत्रुतापूर्ण रवैया झेलना पड़ता है। अल्पसंख्य भाषाएं बोलने वालों को हमेशा अपनी सांस्कृतिक पहचान का अहसास रहता है और जब वे सरकार को अपने विरुद्ध पाते हैं तो एकजुट होकर अपनी समस्याओं के निवारण के लिए राजनैतिक रूप से भी संगठित हो जाते हैं।

'भाषायी अल्पसंख्यक' को हालांकि अपने शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा अन्य हितों की रक्षा के लिए समुचित सुरक्षात्मक उपाय अपनाने का अधिकार है। लेकिन ऐसा करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन उपायों से कहीं अलगाव न बढ़ जाए। 'भाषायी अल्पसंख्यकों' और 'भाषायी बहुसंख्यकों' के बीच अधिकारों और सुरक्षात्मक उपायों पर जोर देने के बजाय आपसी समझ विकसित करने और सहयोग स्थापित करने से अधिक फायदा हो सकता है क्योंकि अंततः सभी मातृभाषाओं के बावजूद व्यक्तिगत अथवा किसी समूह का कल्याण देश द्वारा सामूहिक रूप से की गई उन्नति और राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा पर ही निर्भर होता है।

आदिवासियों की भाषाओं और भाषायी समूहों का मुद्दा भी भाषायी अल्पसंख्यकों से संबंधित चर्चा का प्रमुख हिस्सा है। पॉल ब्रास (वही) ने परिस्थिति का विहंगम दृष्टिकोण अपनाते हुए यह ठीक ही कहा है कि किसी राज्य सरकार द्वारा मातृभाषा को मान्यता देने का मतलब यह नहीं है कि विद्यार्थियों को अपनी मातृभाषा में ही सरकारी स्कूलों में पढ़ने की सुविधा उपलब्ध कराई जाएगी। राज्य सरकार के कायदे-कानूनों में आम तौर पर यह बाध्यता रहती है कि अपनी मातृभाषा में पढ़ाई करने के इच्छुक बच्चों के अभिभावक औपचारिक प्रार्थना पत्र दें और उसके बाद भी हरेक कक्षा तथा स्कूल में उस प्रकार शिक्षा पाने के इच्छुक विद्यार्थियों की एक निश्चित संख्या होनी आवश्यक है। इसके बाद भी उस भाषा में प्रवीण शिक्षक तथा पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध न होने की अड़चन भी आ सकती है। मुख्य रूप से हिंदी भाषी राज्यों तथा अन्य राज्यों में जहां आदिवासी अल्पसंख्यक बड़ी संख्या में हैं, वहां विभिन्न आदिवासी भाषाओं के प्रवक्ताओं ने अपने बच्चों को उनकी मातृभाषा में पढ़ाने-लिखाने की मांग की है लकिन भारत सरकार द्वारा 1960 में नियुक्त अनुसूचित क्षेत्रों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयोग ने कहा है कि, 'वास्तविकता में कुछ राज्यों ने इस मामले में बहुत लापरवाही की है।' इसके साथ ही राज्य सरकारों ने आम तौर पर भाषायी अल्पसंख्यकों तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयुक्त के इस अनुरोध को भी अनदेखा किया है कि वे यह सूचना दें कि आदिवासी अल्पसंख्यक मातृभाषाएं बोलने वालों को वास्तविकता में अपनी मातृभाषा में पढ़ाई-लिखाई की कितनी सुविधा उपलब्ध कराई गई है। 'उदाहरण के लिए बिहार सरकार ने उरांव, हो, संथाली तथा मुंडारी बोलियों में पढ़ाई-लिखाई की सुविधाएं उपलब्ध कराने का तो दावा किया है, लेकिन 1975-76 से इसकी पुष्टि के लिए कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं कराए हैं।' हमारे आदिवासी

भाषायी समूहों के लिए अभी काफी कुछ किया जाना बाकी है। उनकी लिपि और पाठ्य-पुस्तकों की अनुपलब्धता जैसी बाधाओं को राष्ट्रीय स्तर पर दूर किया जाना चाहिए। आदिवासी जनता को शिक्षित किए जाने की दृष्टि से आदिवासी भाषाओं और बोलियों की साझी लिपि तैयार किए जाने के उपाय किए जाने चाहिए, विशेषकर बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में। देश में आदिवासी भाषाओं और बोलियों के लिए देवनागरी लिपि को अपनाया जाना उपयुक्त माना जा सकता है। इस लिपि को असम के बोडो और मध्य प्रदेश के भील, मुंडा और गोंड आदिवासियों ने भी अपनाया है।

भावनात्मक एकीकरण के बिना राष्ट्रीय एकीकरण संभव नहीं है। लघु अल्पसंख्यकों को कुछ समय के लिए ही दबाया जा सकता है, लेकिन इससे उनके बीच अलगाववादी प्रवृतियां पैदा हो सकती हैं। अल्पसंख्यक समूहों के मन में जब यह विश्वास होता है कि देश में उनकी भाषा, धर्म, रीति-रिवाज सुरक्षित हैं और उनके संरक्षण के लिए सरकार पूरे उपाय कर रही है तो उससे उनमें अपनेपन की भावना बढ़ती है और साथ ही वृहत समाज की भाषा और संस्कृति को भी आसानी से स्वीकार करते हैं। सांस्कृतिक बहुलतावाद भारतीय सभ्यता का मूल है। भारतीयों का भविष्य बहुलतावाद और 'अनेकता में एकता' में निहित है। इसके साथ ही किसी भी 'आधुनिक सभ्य समाज' (civilized society) के मूल्यांकन में इस तथ्य का महत्वपूर्ण योगदान है कि उसमें अल्पसंख्यकों और महिलाओं के प्रति कैसा व्यवहार किया जाता है।

◆◆◆

BIBLIOGRAPHY

Abbi, B.L. & Satish Saberwal (Eds.): Urgent Research in Social Anthro-pology, 1969, Indian Institute of Advanced Study, Shimla.

Agrawal, B.C. (Ed.): Anthropological Approaches to the Study of Complex Societies, 1982, Ethnographic & Folk Culture Society. Lucknow.

_______: Anthropological Methods for Communication Research, 1985, Concept Publishing Company, New Delhi.

Agrawal, D.P : The Copper-Bronze Age in India, 1971, New Delhi.

_______: The Archaeology of India, 1984, Select Book Service Syndicate, New Delhi.

"Agrawal, D.P. & P.K. Chakrabarti (Eds.): Essays in Indian Protohistory, 1979, New Delhi.

Aiyer, S.P. (Ed.): Modernization of Traditional Society and Other Essays. 1973, The Macmillan, Madras.

Allchin, B. & F.R. Allchin : The Birth of Indian Civilization : India and Pakistan Before 500 B.C., 1968, Penguin, Harmondsworth.

Ames, Michael : Museums, The Public and Anthropology, 1986, Concept Publishing Company, New Delhi.

Anderson, J.D..The Peoples of India, 1913, Cambridge.

Anderson, Nels : The Urban Community : A World Perspective, 1959, New York.

Andreski, Stainslav: Social Sciences as Sorcery, 1972, Penguin Books, Harmondsworth.

Ansari, Ghous : Muslim Caste in Uttar Pradesh, 1959, Ethnographic & Folk Culture Society, Lucknow.

Asad, T. (Ed.) : Anthropology and the Colonial Encounter, 1973, London.

Atal, Yogesh : The Changing Frontiers of Caste. 1968, National Publishing House, Delhi.

Aurora, G.S.: Tribe-Caste-Class-Encounter, 1972, Administrative Staff College of India, Hyderabad.

Bailey, F.G.: Tribe, Caste and Nation, 1960, Oxford University Press, Bombay.

'Tribe' and 'Caste' in India, Contributions to India Sociology, Vol. 5, 1961.

Balsara, J.J.: Problems of Rapid Urbanization in India, 1964, Popular Prakashan, Bombay.

Banton, Michael (Ed.): The Social Anthropology of Complex Societies, 1966, F.A. Praeger, New York & Washington.

Bardhan, A.B.: *Unsuljhi Janjatiya Samasiya* (Hindi), 1977, Communist Party Of India, New Delhi.

Basham. A.L.: The Wonder That Was India, 1957, London.

Beals, R.: 'Urbanism, Urbanisation and Aculturation', *American Anthropologist*, Vol. 53 1, 1951.

Beattie, John : Other Cultures, 1974, Cohen & West, London.

Berreman, Gerald, D.: Behind Many Masks, 1962, Cornell University Press, Ithaca.

_______: Hindus of the Himalayas, 1963, Cornell University Press, Berkeley

Beteille, Andre : 'Our Village and Cities : A Contrast between Tradition and Modernity', *Yojana*, Jan. 26, 1965.

_______: Six Essays in Comparative Sociology, 1974, Oxford University Press, New Delhi.

Beteille, Andre & T.N. Madan (Eds.): Encounter and Experience : Personal Accounts of Fieldwork, 1975, Vikas, New Delhi.

Bhattacharya, D.K. : Archaeology and Social Formation, 1984, Spectra of Anthropological Progress, Delhi.

_______: Outlines of India Prehistory, 1989, Palaka Prakashan, Delhi.

Bhowmick, P.K. : Some Aspects of Indian Anthropology, 1980, Swarnarekha, Calcutta.

Bodley, J.H. : Victims of Progress, 1982, Cummings Publishing Company, California.

Bose, A. : Urbanization in India, 1971, Academic Books Ltd., Bombay.

Bose, N.K.: Cultural Anthropology, 1929, Indian Associates Publishing Company, Calcutta.

_______: Fifty years of Science in India : Progress of Anthropology and Archaeology', 1963, Indian Science Congress Association, Calcutta.

_______: Culture and Society in India, 1967, Asia Publishing House, Bombay.

_______: Problems of National Integration, 1967, Indian Institute of Advanced Study, Shimla.

_______: Calcutta : A Social Survey. 1968, Lalwani Publishing House, Bombay.

Bose, N.K. : Tribal Life in India, 1971, New Delhi.

_______: 'The Hindu Method of Tribal Absorption', Science and Culture, Vol. 7.

Brew, J.O. (Ed.): One Hundred Years of Anthropology, 1972, Cambridge-Massachusetts, Harvard University Press, Harvard.

Briggs, G.N.: The Chamar, 1920, Calcutta Associated Press, Calcutta.

Burkitt, M.C.: The Old Stone Age, 1963, Bowes & Bowes, London.

Chakravarty, M.R.: 'Dermatoglyphics in Anthropology', Journal of Social Research, Vol. V, No. 1-2, 1963.

Cohn, B.S.: India : The Social Anthropology of a Civilization, 1972, Englewood clifts, New Jersey.

Cohn, B.S. & Mickim Marriott: 'Network and Centres in the Integration of Indian Civilization', *Journal of Social Research,* 1958.

Carnwall. I.W.: The World of Ancient Man, 1964, London.

Dani, A.H.: Prehistory and Protohistory in Eastern India, 1960, Firma K.L. Mukhopadhyay, Calcutta

Dey, A.K.: Geology of india, 1968, New Delhi.

Dey, S.K.: Community Development: A Bird's Eye View, 1964, Asia Publishing House, Bombay.

Dhillon, H.S.: Leadership and Groups in a South Indian Village, 1955, Planning Commission, New Delhi.

Dube, S.C.: India's Changing Village, 1958, Routledge & Kegan Paul, London.

_______(Ed.) : Emerging Patterns of Rural Leadership in Southern Asia, 1965, National Institute of Community Development, Hyderabad.

_______: Explanation and Management of Change, 1971, Tata McGraw Hill, New Delhi.

Dube, S.C.: Social Science in Changing Society, 1973, Ethnographic & Folk Culture Society, Lucknow.

_______: Contemporary India and its Modernization, 1974, Vikas, New Delhi.

Dumount Louis : Homo-Hierarchicus : The Caste System and Its Implications, 1970, Chicago University Press, Chicago.

Dymond, D.P.: Archaeology and History. 1974, London.

Elwin, Verrier: The Baiga, 1939, John Murrary, London.

_______: A Philosophy for NEFA, 1958, Shillong.

_______: The Tribal World of Varrier Elwin, 1964, Oxford University, Press, Bombay.

Epstein, A.L. (Ed.): The Craft of Social Anthropology, 1967, Tavistock Publication, London.

Epstein-Pritchard, E.E.: Social Anthropology 1951, Cohen & West, London.

Fairservis, W.A.: The Roots of Ancient India, 1971, New York.

Ferriera, J.V.: 'Urban Anthropology : A Radical Perspective', The Eastern Anthropologists, Vol. 31, No. 4,1978.

Foote, R.B.: Collection of Indian Prehistoric and Protohistoric Antiquities 1961, Madras.

Ganguly, Indrani: Urban Anthropology : A Critical Review, 1986, Unique Publications, Delhi.

Ghosh, A.K. (Ed.): The Scheduled Tribes, 1960, Popular Book Depot Bombay.

Gould, Harold: 'Lucknow Rickshawallas : The Social Organisation of an Occupational Category' in M.S.A. Rao (Ed.) Urban Sociology in India, 1974, Orient Longmen, New Delhi.

Gore, M.S.: Urbanisation and Family Change, 1968, Popular Prakashan, Bombay.

Gutkund, Peter : Urban Anthropology, 1974, Van Gorcum, Assen.

Harris. Mervin: The Rise of Anthropological Theory, 1968, Thames & Croweel Co., New York.

Hasan, Amir : The Kols of Patha, 1972, Kitab Mahal, Allahabad.

——: Meet the U.P. Tribes, 1987, Gurgaon.

Hasan, K.A.: Applied Anthropology History of Medicine : Journal of Social Research, Vol. VI, No. 1-2, 1963.

Hasnain, Nadeem : Bonded For Ever, 1982, Harnam Publication, New Delhi

_______: Tribal India, 1984, Palaka Prakashan, New Delhi.

_______: General Anthropology, 1991, Jawahar Publishers & Distributors, New Delhi.

_______: Indian Anthropology, 1994, Palaka Prakashan, Delhi.

Hasnain, Nadeem & Abrar Husain : Shias And Shia Islam in India: A Study in Society and Culture, 1988, Harnam Publications, New Delhi.

Hasuar, P.M. (Ed.): Urbanisation in Asia and Far East, 1951, UNESCO Calcutta.

_______: Handbook for Social Research in Urban Areas, 1965, UNESCO, Paris.

Hutton, J.H.: Census of India, Vol. 1, 1931, Government of India Press, Shimla.

_______: Caste in India, 1951, Oxford University Press, Bombay.

_______: Indian Council of Social Sciences Research (ICSSR): A Survey of Research in Sociology & Social Anthropology (3 Vols), 1972-74, Popular Prakashan, Bombay.

Karwe, Irawati : Hindu Society : An Interpretation, 1953, Sangam, Poona.

_______: Kinship Organisation of India, 1953, Deccan College, Poona.

Kosambi, D.M.: Myth and Reality, 1962, Bombay.

_______: The Culture and Civilization of Ancient India in Historical Outline, 1970, Delhi.

Kothari, Rajni (Ed.) : Caste in Indian Politics, 1970, Orient Longman, New Delhi.

Leach, E.R.: Rethinking Anthropology, 1960, Athlone Press, London.

Leakey, L.S.B. : Adam's Ancestors, 1960, Methuen & Co. Ltd., London.

Lewis, Oscar : Group Dynamics in north Indian Village, 1954, Planning Commission, New Delhi.

_______: Anthropological Essays, 1970, Random House, New York.

Lynch, Owen M: 'Some Aspects of Rural-Urban Continuum in India' in Bala Rathnam (Ed.) Anthropology on the March, 1963, The Book Centre, Madras.

_______: The Politics of Untouchability, 1969, Columbia University Press, New York.

Madan, T.N.(Ed.) : Muslim Communities of South Asia: Culture and Society, 1976, Vikas, New Delhi.

Madan, T.N. & Gopal Saran (Eds.): Indian Anthropology: Essays in Memory of D.N. Majumdar, 1962, Asia Publishing House, Bombay.

Mahapatra, L.K. : Transformation of Tribal Society in India, 1970, Delhi University National Lecture, Delhi.

Majumdar, D.N. : A Tribe in Transition, 1937, Longmans, Green & Co. Ltd., London.

_______: The Affairs of a Tribe : A Study in Tribal Dynamics, 1950. Universal Publishers, Lucknow.

_______: Rural Profiles (2 Vols), 1955. Ethnographic & Folk Culture Society, Lucknow.

_______: Caste and Communication in a North Indian Village, 1958, Asia Publishing House, Bombay.

_______: Social Contours of an Industrial City, 1961. Asia Publishing House, Bombay.

_______: Races and Cultures of India, 1965. Asia Publishing House, Bombay.

Majumdar, D.N. & T.N. Madan : An Introduction to Social Anthropology. 1957, Asia Publishing House, Bombay.

Malinowski, B. : Argonauts of the Western Pacific, 1922, Dutton, New York.

_______: Sex and Repression in Savage Society, 1927, Kegan Paul, London.

Mandellbaum, David G. : 'The Study of Complex Civilization' in W.L. Thomas (Ed.), *Current Anthropology,* 1956, Chicago University Press, Chicago.

_______: Society in India, 1970, University of California Press, Berkeley.

Mandelbaum, David G. Gabriel W. Laskar & Ethel M. Albert: The Teaching of Anthropology, 1967, University of California Press, Berkeley.

Mariott, Mickim (Ed.): Village India, 1955, Chicago University Press, Chicago.

Marshall, J. : Mohanjodaro and Indus Civilization, 1931, London.

Mathur, H.M.(Ed): Development Administration in Tribal Areas, 1976, The H.C.M. State Institute of Public Administration, Jaipur.

_______(Ed.): Anthropology in the Development Process, 1977, Vikas, Bombay.

Mathur, K.S. : Caste and Ritual in Malwa Village, 1964, Asia Publishing House. Bombay.

Mathur, K.S. & S.C. Verma (Eds.) : Man and Society, 1972, Ethnographic and Folk Culture Society. Lucknow.

Mathur, K.S. & B.C. Agrawal (Ed.): Tribe, Caste and Peasantry, 1974, Ethnographic and Folk Culture Society, Lucknow.

Memoria. C.B. : Tribal Demography in India, 1957, Kitab Mahal, Allahabad.

Misra, V.N. & M.S. Mate : Indian Prehistory. 1964, Pune.

Misra, V.N. & Malti Nagar: 'Twenty five years of Indian Prehistory', K.S.

Mathur & S.C Verma (Eds.): *Man and Society,* 1972, Ethnographic & Folk Culture Society, Lucknow.

Misra, V.N , Y. Mathpal & Malti Nagar: Bhimbhetka, 1977, Pune.

Misra, P. : Prehistoric India, 1930, Calcutta University, Calcutta.

Morley, Grace : 'Museum of Anthropology : Their Role in East, South and South-East Asia', *The Eastern Anthropologist,* Vol. 29, No. 1, 1976.

_______: Museums Today. Baroda.

Mukherjee, Radhakamal : Social Profiles of a Metropolis City : Lucknow, 1961, Asia Publishing House, Bombay.

Murdock, G.P. et al. Outlines of Cultural Material, 1950, Human Relations Area Files Inc., New Heaven.

Nadel, S.F. : Anthropology and Modern Life, 1953, Australian National University, Canberra.

Nair, Kusum : Blossoms in the Dust: The Human Elements in Indian Development. Gerald Duckworth, London.

Narain, Jai Prakash ; 'Gandhism and Social Sciences', *AVARD. News Letter,* Vol 6, No. 5, 1964.

Orans, M. : The Santhals : A Tribe in Search of a Great Tradition. 1965, Wayne State University Press, Detroit.

Penniman, T.K.: A Hundred Years of Anthropology, 1965, Gerald Duckworth, London.

Piggot, S.: Prehistoric India, 1950, Pelican Books, Harmondsworth.

Radcliff-Brown, A.R.: The Andaman Islanders: A Study in Social Anthropology, 1922, Cambridge University Press, Ilinois.

_______: Structure and Function in Primitive Society, 1952, Cohen & West Ltd.. London,

Redfield, Robert: The Folk Culture of Yucatan, 1941, Chicago University Press, Chicago.

_______: The Little Community, 1955, Chicago University Press, Chicago.

_______: Peasant Society and Culture, 1956, University of Chicago Press, Chicago.

_______: Thinking about a Civilization : Introducing India, 1957, Chicago University Press, Chicago.

Redfield, Robert & Milton Singer.: 'The Cultural Role of Cities', *Man in India,* Vol. 36, No. 3.

_______: Royal Anthropological Institute. Notes and Querries on Anthropology, 1967, Routledge & Kegan Paul, London.

Roy Burman. B.K.: Third World Anthropology and Related Sciences. The Issues, *The Eastern Anthropologist,* Vol. 40, No. 4, 1987.

_______: 'Dynamics of Persistence of Tribal Community in India' in B.C.

Agarwal (Ed.) : *Anthropological Approaches to the Study of a Complex Society.* Ethnographic & Folk Culture Society, Lucknow.

Roy, Sachin : Museum of Man in India : Problems and Prospects, 1972, New Delhi.

Seberwal, Satish : Mobile Man : Limits of Social Changes in Urban Punjab, 1976, Vikas, New Delhi.

Sachchidanand : Cultural Changes in Tribal Bihar, 1964, Bookland Pvt. Ltd., Calcutta

_______: 'Planning, Development and Applied Anthropology in India', *Indian Anthropologist,* Vol. 3.

Sahay,K.N.: Under the Shadow of the Cross, 1976, Institute of Social Research & Applied Anthropology, Calcutta.

Sankalia, H.D.: Indian Archaeology Today. 1962, Asia Publishing House, Bombay.

_______: Prehistory and Protohistory of India and Pakistan, 1963, University of Bombay, Bombay.

_______: New Archaeology : Its Scope and Application to India, 1977, Ethnographic & Folk Culture Society, Lucknow.

Saran, A.B.: Murder and Suicide among two Tribes of Bihar, 1975, National Publishing House, Delhi,

Saran, Gopal : 'Anthropology of Indian Civilization', *Journal of Indian Anthropological Society,* Vol. 5, 1978.

_______: Anthropological Method and Indian Anthropology', 1973. (The L.K.Ananthakrishan Aiyer Birth Centenary Lectures, 1972-73), University of Madras Press, Madras.

_______: 'Can We Be of Any Service to Our Village Folk', *Journal of Karnataka University : Social Sciences,* 1978, Vol. XIV.

_______: 'Anthropology and Nation Building', *Journal of the Institute of Social Research and Applied Anthropology.* 1979, Vol. 5, No. 1-20.

_______: Sociology & Anthropology and Other Essays, 1983, Calcutta.

Saran Gopal & D.P.Sinha : 'Status of Social-Cultural Anthropology in India', *Annual Review of Anthropology,* Edited by Bernard J-

Siegel, 1976, Vol. 5, Annual Reviews, Inc. Palo Alto, California.

Saraswati, B.N.: Contributions to the Understanding of Indian Civilization, 1970, Karnataka University, Dharwar.

Sheth, N.R.: The Social Framework of an Indian Factory, 1968, Oxford University Press, Bombay.

Sharma, R.N. & Santosh Bakshi (Eds.): Tribes and Tribal Development: A Select Bibliography, 1984, Uppal Publishing House, New Delhi.

Sharma, R.S.: Light on Early Indian Society and Economy. 1966, Bombay.

_______: Ancient India, 1977. NCERT, New Delhi

Singer, Milton & B.S.Cohn (Eds) : Structure and Change in Indian Society, 1968, Aldine Publishing Company, Chicago.

Singh, Harjinder (Ed.): Caste among Non-Hindus in India, 1977, National Publishing House, New Delhi.

Singh, K.S. (Ed.): Tribal Situation in India, 1972, Indian Institute of Advanced Studies, Simla.

Singh, P.: Burial Practices in Ancient India, 1971, Prithvi Prakashan, Varanasi.

Singh, Yogendra : Modernization of Indian Tradition, 1973, Thomson Press, New Delhi.

Sinha, D.P.: Culture Change in Inter-Tribal Market, 1968, Asia Publishing House, London.

Sinha, Surajit: 'Tribe-Caste Continuum', *Man in India,* Vol. 45, No. 1.

Spicer. E.H.: Human Problems in Technological Change, 1952, Russel Sange Foundation, New York.

Srinivasa, M.N.: Religion and Society among the Coorgs of South India. 1952, Oxford University Press, London.

_______: India's Villages, 1955, Asia Publishing House, Calcutta.

_______: 'The Dominant Caste in Rampura', *American Anthropologist.* Vol. 6, No. 1, 1959.

Srinivasa, M.N. & M.N. Panini : 'The Development of Sociology and Social Anthropology in India', *Sociological Bulletin,* Vol. 22, 1973.

Tax, Sol *et al.* (Eds.): An appraisal of Anthropology Today, 1953, Chicago University Press, Chicago.

Turner, Roy: India's Urban Future, 1962, Uni ersity of California Press, Berkeley.

UNESCO: Sociology and Social Anthropology in Asia and Pacific, 1985, Wiley Eastern Ltd., New Delhi.

Vidyarthi, L.P.: Indian Anthropology in Action, 1960, Council of Social and Cultural Research, Ranchi.

_______: Sacred Complex of Hindu Gaya, 1961, Asia Publishing House, Bombay.

_______: The Maler : A Study of Nature-Man-Spirit Complex in a Hill Tribe of Bihar, 1963, Bookland Pvt. Ltd., Calcutta.

_______: Cultural Contours of Tribal Bihar, 1964, Punthi Pustak, Calcutta.

_______: (Eds.): Leadership India, 1968, Asia Publishing House, Bombay.

_______: Applied Anthropology in India, 1968, Kitab Mahal, Allahabad.

_______: Cultural Configuration of Ranchi: Study of a Pre-Industrial City of Bihar, 1969, Bookland Pvt. Ltd., Calcutta.

_______: Rise of Anthropology in India (2 Vols.), 1978, Concept Publishing Company, New Delhi.

Vidyarthi. L.P. & Makhan Jha (Eds.): Sacred Complex of Bodh Gaya, Social & Cultural Research, Ranchi.

Vidyarthi, L P; B.N. Sahay & P.L. Dutta (Eds.) : Aspect of Social Anthropplogy in india, 1980, Classical Publishers, New Delhi.

Vidyarthi L.P & B.N. Sahay (Eds.) : Development of Researches in Anthropology in India, 1981, Concept Publishing Company, New Delhi.

Vatuk, S.: Kinship and Urbanization : White Collar Migration in North India, 1972, University of California Press, Berkeley.

Warner, W.Lloyd : Social Anthropology and the Modern Community: *American Journal of Sociology,* Vol. 46 : 6, 1969.

Watson, J.F.: Indian Museum and Library, 1974, London.

Wheeler, Mortimer : Early India and Pakistan, 1959, Thomas & Hudson, London.

_______: The Indus Civilization. 1968, London.

Winnick, Charles: Dictionary of Anthropology, 1957, London.

Worsley, Peter: Introducing Sociology, 1971, Penguin Books, Harmondsworth.

Whyte, William : Street Corner Society, 1955, Chicago University Press, Chicago.

Zamora, Mario D.: 'Crisis and Concerns in Anthropology and the Validity of the Anthropological Enterprise', *The Eastern Anthropology.* Vol. 40, No. 4, 1987.

Zeuner, F.E.: Dating the Past, 1958, London.

_______: Pleistocene Period, 1959, London.

◆◆◆

परिशिष्ट-I

राष्ट्रीय जनसंख्या नीति*

विश्व के कुल भू-क्षेत्र का केवल 2.4 प्रतिशत भारत में है फिर भी यहां विश्व की आबादी का 15 प्रतिशत हिस्सा रहता है। 1 जनवरी, 1976 तक भारत की आबादी 60 करोड़ से अधिक हो गयी थी और अब हर महीने एक करोड़ से ऊपर बढ़ती जा रही है। आजादी के बाद से अब तक हमारी आबादी में 25 करोड़ की वृद्धि हो चुकी है जो सोवियत संघ की जनसंख्या के बराबर है जबकि उसका भू-क्षेत्र भारत से 6 गुणा अधिक है। हमारे यहां प्रतिवर्ष जितनी जनसंख्या बढ़ती है वह आस्ट्रेलिया की कुल जनसंख्या के बराबर है जबकि उसका भू-क्षेत्र हमारे भू-क्षेत्र से ढाई गुना अधिक है। जनसंख्या की मौजूदा वृद्धि दर को रोका नहीं गया तो शताब्दी बदलने के समय तक भारत की आबादी एक अरब के आस-पास पहुंच सकती है। निर्विवाद रूप से हमलोग आबादी के विस्फोट की एक ऐसी संकटकालीन स्थिति का सामना कर रहे हैं जिसमें हमारे पिछले दो दशकों में की गयी अनूठी आर्थिक प्रगति के फल फीके पड़ गये हैं। यदि देश का भविष्य सुरक्षित रखना है और गरीबी हटाने का ध्येय पूरा करना है तो हमें अपनी आबादी की समस्या को राष्ट्रीय स्तर पर सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी और उसके समाधान के प्रति पूरी तरह वचनबद्ध होना होगा।

2. गरीबी हमारी वास्तविक शत्रु है। गरीबी के किले पर सीधे आक्रमण के रूप में पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में "मिनिमम नीड्स प्रोग्राम (न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम) जोड़ा गया है। इस कार्यक्रम के पांच सूत्रों में से एक स्वास्थ्य, परिवार नियोजन और पौष्टिक आहार सम्बन्धी एकमुश्त समाकलित कार्रवाई है। चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा के विस्तार को पुनर्गठित करने के लिए दूरगामी कदम उठाये गये जिनका उद्देश्य स्वास्थ्य सम्बन्धी देखभाल की तीन हिस्सों में पुनःसंरचना करना था जो दूर-दराज के उन ग्रामीण इलाकों तक भी की जा सके जहाँ आबादी का बहुमत रहता है और जहां व्यापक रूप से बीमारियां फैलती हैं और बच्चे अधिक संख्या में मरते हैं। इस प्रकार अज्ञान, निरक्षरता और अंधविश्वास को भी खत्म करना है। सारांश यह है कि गरीबी और बीमारियों के आधारभूत कारणों को मिटाकर ही राष्ट्र अपने मनोवांछित लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है।

* स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मंत्री डा. कर्ण सिंह का वक्तव्य 16 अप्रैल, 1976।

3. केवल इस बात की प्रतीक्षा करना कि शिक्षा और आर्थिक विकास होने पर आबादी कम होने लगेगी, व्यावहारिक समाधान नहीं है। स्वयं आबादी की वृद्धि ही आर्थिक विकास की गति को धीमा और उसकी उपलब्धियों को और भी कठिन बनाती है। समय काफी कम है और आबादी में होने वाली वृद्धि इतनी दुर्जेय होती जा रही है कि हमें समस्या पर सीधा प्रहार करने का राष्ट्रीय संकल्प लेना ही पड़ेगा, तभी हम इस अपचक्र से बाहर आ सकेंगे। हमारे राष्ट्रपति ने इस वर्ष संसद के संयुक्त अधिवेशन में अपने अभिभाषण में परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रयासों को बढ़ाने की आवश्यकता पर पुनः बल दिया था और प्रधानमंत्री ने तो अनेक अवसरों पर आबादी के नियंत्रण की भूमिका पर जोर दिया है जिसे उसको विशेष रूप से 20 सूत्री आर्थिक कार्यक्रम के अंतर्गत आर्थिक स्वाधीनता और सामाजिक रूपान्तरण के लिए अदा करना है।

4. परिवार नियोजन के क्षेत्र में हमारे यहां काफी काम किया गया है। किन्तु साफ बात यह है कि हम अब तक समस्या की ऊपरी तह तक को ही छू पाये हैं। इस विषय में अंतर्ग्रस्त सभी तत्वों और व्यापक जनाभिव्यक्ति पर सावधानी से विचार करने के बाद सरकार ने निम्नलिखित आधारभूत कार्रवाइयां करने का निश्चय किया है, जिनसे जैसा हम आशा करते हैं जन्मदर को पांचवीं योजना के नियोजित लक्ष्य 35 प्रति हजार से छठी पंचवर्षीय योजना के अंत तक 25 प्रति हजार तक घटा सकेंगे। यह मानते हुए कि हमारी चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं तथा हमारी जनता के रहन-सहन के स्तर में जो सुधार हो रहा है उस सबके कारण मृत्यु-दर में जो कमी हुई है वह वैसी ही होती रहेगी, यह आशा की जाती है कि हमारे देश की आबादी में 1984 तक 1.4 प्रतिशत की वृद्धि होगी।

5. विवाह के लिए निर्धारित आयु में वृद्धि करने से न केवल जनसंख्या पर असर पड़ेगा वरन् उससे माता-पिता दोनों अपनी संतानों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सावधानी बरतेंगे और बच्चे तथा उसकी माता का स्वास्थ्य अधिक अच्छा और सुरक्षित रहेगा। यह तथ्य सर्वविदित है कि कम आयु की गर्भावस्था के कारण मां और शिशु की मौत की ज्यादा घटनाएं होती हैं। इसके अलावा यदि हमारे देश की महिलाओं को आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक विकास में अपनी सही भूमिका निभानी है तो बाल-विवाह की प्रथा

को पूरी गम्भीरता के साथ निरूत्साहित करना होगा। इससे सम्बन्धित मौजूदा कानून प्रभावकारी तरीके से लागू नहीं हो सका है। इसलिए, यह निश्चित आयु 21 वर्ष और लड़कियों के विवाह की निम्नतम आयु 18 वर्ष तक बढ़ा दी जाए। इस बारे में समुचित कानूनी व्यवस्था शीघ्र ही कर दी जायेगी। इस कानून का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध कार्रवाई प्रभागीय मजिस्ट्रेट और उससे ऊपर के अफसरों द्वारा की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त विवाहों के पंजीकरण को अनिवार्य करने के सवाल पर भी विचार किया जा रहा है।

6. कुछ राज्यों द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है कि एक ओर हम आबादी को सीमित करने पर जोर दे रहे हैं और दूसरी ओर जिन राज्यों में आबादी को नियंत्रित करने के सिलसिले में सफलता प्राप्त की गयी है, संसद में उनके प्रतिनिधियों की संख्या कम होने का खतरा है और जो राज्य परिवार-नियोजन के काम में असफल या कमजोर हैं उनके प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि हो सकती है। जाहिर है कि इस समस्या से निपटना भी जरूरी है। अत: यह निर्णय किया गया है कि लोकसभा और राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों की जो संख्या 1971 की जनगणना के आधार पर निश्चित की गयी थी, सन् 2001 तक वही स्थिर मानी जायेगी। इसका तात्पर्य है कि 1981 और 1991 की जनगणना के परिणामस्वरूप परिवर्तन नहीं किया जायेगा। इसके बारे में जो भी संवैधानिक कार्यवाही आवश्यक है उसे इस वर्ष में पूरा किया जायेगा। अन्य संस्थाओं के लिए भी, जहां जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधियों की संख्या निर्धारित होती है, यथोचित कानूनी व्यवस्था की जायेगी।

7. संघीय पद्धति में केन्द्रीय संसाधनों में राज्यों का हिस्सा होना काफी महत्वपूर्ण है। आबादी के आधार पर निश्चित होने वाले सभी मामलों में, राज्यों की योजनाओं के लिए केंद्रीय सहायता, करों, चुंगी अनुदान आदि के मामलों में भी सन् 2001 तक 1971 की जनसंख्या को ही आधार माना जायेगा। राज्यों की योजनाओं के लिए केंद्रीय सहायता के मामले में आठ प्रतिशत प्रति वर्ष स्पष्टत: परिवार नियोजन की मद में रखा गया है। इस बारे में योजना एक विस्तृत कार्य पद्धति तैयार करेगी।

8. निरक्षरता और जनन क्षमता के बीच सीधा सम्बन्ध है। इसे लड़कियों की शिक्षा के मामले में खास तौर से आंका गया है। जहां लड़कियों में साक्षरता बढ़ी है वहां अपने आप ही बच्चों के जन्म की दर में कमी होती देखी गयी है। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि लड़कियों की, विशेषत: आठवीं कक्षा के ऊपर की, शिक्षा के स्तर को ऊंचा किया जाए और उन क्षेत्रों में, खासतौर से उन पिछड़े हुए राज्यों में जहां परिवार नियोजन का कार्य अब तक अपना प्रभाव नहीं छोड़ सका है, नवयुवतियों के लिए अनौपचारिक शिक्षा की योजनाएं तैयार की जाएं। यही बात शिशुओं के पौष्टिक आहार के कार्यक्रमों के बारे में भी लागू होती है क्योंकि शिशुओं की ऊंची मृत्युदर और व्यापक रूप से बीमारियों के फैलने का सीधा प्रभाव प्रजनन शक्ति पर पड़ता है। शिक्षा विभाग राज्य सरकारों पर लगातार जोर डाल रहा है कि इन मामलों को पहले से कहीं ज्यादा प्राथमिकता प्रदान की जाए। साथ ही वह आठवें दर्जे तक लड़कियों की शिक्षा और पौष्टिक बाल-आहार के लिए भी यथोचित बन्दोबस्त को सुरक्षित कर रहा है।

9. मेरा मंत्रालय शिक्षा मंत्रालय के साथ अनेक मामलों में निकट सम्पर्क बनाये हुए है। शिक्षा पद्धति में आबादी सम्बन्धी मान्यताओं को शामिल करने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. ने उसके आधार पर कुछ पाठ्य-पुस्तकें तैयार की हैं। यह जरूरी है कि हमारी युवा पीढ़ी आबादी की समस्या से पर्याप्त रूप से अवगत हो और इस विषय में अपने राष्ट्रीय कर्त्तव्य को महसूस करे। वस्तुत: नियोजित परिवार की प्रेरणा नयी पीढ़ी के लिये ज्यादा जरूरी है।

10. छोटे परिवार के आदर्श को अपनाना बहुत आवश्यक है किन्तु इसे केवल एक मंत्रालय की जिम्मेदारी समझना उचित नहीं है। जरूरत इस बात की है कि सरकार के सभी मंत्रालय और विभाग इसे अपने कार्यक्रम और बजट का अविच्छिन्न अंग मानकर स्वयं अपने और राष्ट्र के हित में संतति नियमन की प्रेरणा दें और उसका प्रचार करें। इस सिलसिले में प्रधानमंत्री का एक निर्देश भारत सरकार के सभी मंत्रालयों को और उसी विषय में उनका एक पत्र देश के सभी मुख्यमंत्रियों के नाम भेजा जा रहा है। सभी राज्यों में परिवार नियोजन के कार्यों का गहन और सावधानी के साथ अध्ययन भी किया जायेगा और केंद्रीय मंत्रिमंडल वर्ष में कम से कम एक बार स्थिति की समीक्षा भी करेगी।

11. गत बीस वर्षों के अनुभवों से ज्ञात हुआ है कि परिवार नियोजन अपनाने के मामले में समाज के गरीब तबकों में नकद मुआवजे की व्यवस्था का अच्छा असर पड़ा है। परिवार को दो या तीन बच्चों तक सीमित रखने के लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए यह निर्णय किया गया है कि बन्ध्याकरण (स्त्री और पुरुष दोनों के लिए) के लिए नकद मुआवजा 150 रुपये तक बढ़ा दिया जाए बशर्ते उसे दो जीवित संतानों के बाद कराया जाए तो नकद मुआवजे की रकम 70 रुपये दी जाए। इस रकम में बन्ध्याकरण कराने वाले के लिये दवाइयों और पट्टी कराने आदि का खर्च शामिल माना जायेगा तथा इसे मई 1976 से लागू माना जायेगा। बन्ध्याकरण और एम.टी.पी. (डाक्टरी तरीके से गर्भपात) की सुविधाओं को ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंचाने का कार्य तेजी से किया जा रहा है।

12. व्यक्तियों को मुआवजा देने के साथ-साथ, सरकार अब बड़े पैमाने पर सामूहिक प्रोत्साहन-पुरस्कार देने के बारे में भी सोच रही है जिससे परिवार नियोजन को जन-आन्दोलन का रूप दिया जा सके। इसलिए यह निर्णय लिया गया है कि डाक्टरों, जिला और पंचायत समितियों, विभिन्न स्तरों पर अध्यापकों, सहकारी समितियों और संगठित श्रम-क्षेत्रों के राष्ट्रीय मजदूर संघों के लिए सामूहिक प्रोत्साहन पुरस्कारों की व्यवस्था शुरू की जाए। प्रोत्साहन-पुरस्कारों की इस व्यवस्था का ब्योरा सम्बन्धित संगठनों के परामर्श से तैयार किया जा रहा है।

13. केन्द्र, राज्य और नगरपालिका के स्तर पर सरकारी प्रयासों के बावजूद परिवार नियोजन तब तक सफल नहीं हो सकता तब देश के स्वयंसेवी संगठनों, विशेषतः युवा और महिला संगठनों को, इसके प्रचार व प्रसार के कार्य में लगाया नहीं जायेगा। इसके लिए संस्थाओं को सहायता देने की एक योजना पहले से मौजूद है जिसे व्यापक रूप देने का निश्चय किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त परिवार नियोजन के कार्य से सम्बन्धित दिये गये अनुदानों और आर्थिक सहायता पर आयकर की छूट की व्यवस्था भी की गयी है।

14. हमारे अनेक वैज्ञानिक संस्थानों में जनन विज्ञान और गर्भ-निरोधक उपायों से सम्बन्धित अनुसंधान कार्य किये जा रहे हैं और ऐसी कई बातें

विकसित हो गयी हैं जो, जैसी कि हम आशा करते हैं, हमारे इस कार्य में बड़ी परिणामकारी सिद्ध होंगी। हमारे वैज्ञानिकों के लिये यह एक बड़ी चुनौती सिद्ध होगी। इस दिशा में किये जाने वाले प्रयासों पर हम विशेष रूप से ध्यान देंगे जिससे कि इस सिलसिले में दीर्घावधि तक और निरन्तर होने वाले शोध व अनुसंधान कार्यों के लिए आवश्यक साधन जुटाये जा सकें।

15. पिछले कुछ महीनों में "अनिवार्य बन्ध्याकरण" सार्वजनिक चर्चा और बहस का विषय रहा है। यह भी स्पष्ट हो गया है कि जनमत अब परिवार नियोजन की व्यापक और अपेक्षाकृत गहन कार्यवाहियों को स्वीकार करने के लिये तैयार है तो भी, देश के कई हिस्सों में प्रशासकीय और डाक्टरी ढांचा अब भी राष्ट्रव्यापी अनिवार्य बन्ध्याकरण के वृहत उलझाव से निपटने की स्थिति में नहीं है। इसलिए हम फिलहाल उसके बारे में कोई केन्द्रीय कानून बनाने का इरादा नहीं कर रहे हैं। कुछ राज्य सरकारों का यह विचार अवश्य है कि उनके पास जो साधन व सुविधाएं हैं वे बन्ध्याकरण को अनिवार्य घोषित करने की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त हैं। हमारा दृष्टिकोण यह है कि जहां राज्य विधान मंडल यह समझता है कि ऐसा करने का उपयुक्त समय आ गया है वहां वे बन्ध्याकरण को अनिवार्य बनाने का कानून बना सकते हैं। ऐसे राज्यों को हमारी सलाह है कि वे इस प्रकार का प्रतिबन्ध तीन बच्चों या संतानों के बाद लगायें और वह कानून बिना किसी जातीय या धार्मिक भेदभाव के सभी भारतीय नागरिकों पर समान रूप से लागू हो।

16. कुछ राज्यों में परिवार नियोजन सम्बन्धी अनेक कार्रवाइयां अपने कर्मचारियों और अन्य नागरिकों के बीच मकानों के आवंटन व ऋण आदि देने के मामलों में शुरू की गई हैं, अर्थात् राज्य सरकार उन्हीं को वे सुविधाएं प्रदान करती है जिन्होंने परिवार नियोजन को स्वीकार कर लिया है। इस बारे में भी हमने प्रत्येक राज्य को उन कार्रवाइयों को अपनाने के लिये मुक्त छोड़ने का फैसला किया है जिन्हें वे वांछित या आवश्यक समझते हैं। संघ सरकार के कर्मचारियों से भी उम्मीद की जाती है कि वे छोटे परिवार के आदर्श को अपनायें। उनके इस प्रकार के आचरण के लिए उनकी नौकरी और सेवा के नियमों में आवश्यक परिवर्तन किये जायेंगे।

17. पूरे देश में परिवार नियोजन के संदेश को प्रचारित करने के उद्देश्य से उसको प्रेरणा देने वाली एक नयी नीति बनायी जा रही है जिसके अंतर्गत प्रचार के सभी माध्यमों का इस्तेमाल किया जायेगा। इन माध्यमों में रेडियो, टेलीविजन (ग्रामीण समुदाय के लिए विशेष रूप से बनाये गये कार्यक्रमों सहित), प्रेस, फिल्म, चाक्षुम सज्जा आदि शामिल हैं। इनके साथ ही प्रचार के परम्परागत ग्रामीण तरीके और लोक-सामग्री (जैसे जात्रा, कठपुतली प्रदर्शन, लोकगीत और लोक नृत्य आदि) का इस्तेमाल भी किया जायेगा। प्रयास यह रहेगा कि परिवार नियोजन के प्रचार को शहर की परिष्कृत प्रचार शैली से शुरू करके अपेक्षाकृत कल्पनाशील और प्रभावकारी ग्रामोन्मुख दृष्टिकोण अपनाया जाए। इस सन्दर्भ में मेरा मंत्रालय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के घनिष्ठ सहयोग में काम कर रहा है और नये कार्यक्रमों के निर्माण के लिए देश की अच्छी से अच्छी प्रतिभाओं को इसमें लगाने का प्रयास कर रहा है।

18. ये समस्त कार्यवाहियां अपने उद्देश्यों की पूर्ति में तभी सफल हो सकती हैं जब इन्हें बड़े पैमाने पर जनता का समर्थन मिलेगा। मैं पूरी ईमानदारी के साथ यह उम्मीद करता हूँ कि हमारा देश जनसंख्या सम्बन्धी इस नीति का सबल समर्थन करेगा जो आर्थिक विकास और सामाजिक उद्धार की उस बहुमुखी नीति के रूप में भारत को आने वाले वर्षों में एक शक्तिशाली और सुसम्पन्न राष्ट्र बनाने के लिए अपनायी गयी हैं।

◆◆◆

सामाजिक-सांस्कृतिक मानव विज्ञान- एक परिचय

उमाशंकर मिश्र

नदीम हसनैन

यह पुस्तक भारतीय लेखकों द्वारा रचित सामाजिक मानव विज्ञान की पाठ्य पुस्तकों की भीड़ में अपनी एक अलग पहचान रखती है। इस पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण की लोकप्रियता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस विषय की अंग्रेजी में उपलब्ध पुस्तकों में भी इसका एक विशिष्ट स्थान है। इस पुस्तक के माध्यम से लेखकों का उद्देश्य एक ऐसी पुस्तक की रचना करना है जिसके द्वारा विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों, जे. आर. एफ. नेट जैसी परीक्षाओं व प्रशासनिक सेवाओं की परीक्षाओं के पाठकों को विषय का समग्र व समन्वित ज्ञान भी हो तथा वे बहुविकल्पी वस्तुनिष्ठ प्रश्नों को हल करके अपना स्वमूल्यांकन भी कर सकें।

लेखक

डा. नदीम हसनैन एक सुविख्यात समाज विज्ञानी हैं और वर्तमान में लखनऊ विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान विभाग में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं। वह एक जाने-माने अध्यापक, शोधकर्ता व समाजकर्मी के रूप में भी जाने जाते हैं। भारतीय समाज के अभावग्रस्त तबको, विशेष रूप से दलित, पिछड़ी जातियों व अल्पसंख्यकों में उनकी विशेष रुचि है और इन पर वह लगातार लिखते व बोलते रहे हैं। वह प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं- द ईस्टर्न एंथ्रोपोलोजिस्ट तथा इस्लाम एण्ड मुस्लिम सोसायटीज : ए सोशल साइंस जर्नल के सम्पादक व सेंटर फार सोशल ऐकशन एण्ड डेवलपमेंट, लखनऊ, के मानद निदेशक भी हैं। आप 15 पुस्तकों के लेखक/संपादक हैं वह शोध पत्रिकाओं में दर्जनों लेख प्रकाशित कर चुके हैं तथा अंग्रेजी, हिन्दी व उर्दू की लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में भी लगातार लिखते रहे हैं।

संपर्क : nadeemhasnain@gmail.com

Jpd

जवाहर पब्लिशर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स

15, डी.डी.ए. मार्केट, बेर सराय,

(जे.एन.यू. ओल्ड कैम्पस के सामने)

नई दिल्ली-110 016